सं ५४ ४ ८६ ने दे दो

अनित्य भू सयं [illegible] व्राणे
वाजमामंता

भवंपथिना
अथ [illegible] रवम

मैमारणानमथ [illegible] र [illegible] रमहे

ॐ

…न्थमाला, नवम पुष्प

तत्त्व-चिन्तामणि

(भाग २)

जयदयाल गोयन्दका

ॐ

परमार्थ-ग्रन्थमाला, नवम पुष्प

तत्त्व-चिन्तामणि
(भाग २)

जयदयाल गोयन्दका

मूल्य ॥।=)
सजिल्द १=)

प्रथम बार ५२५०

संवत् १९९०

मुद्रक तथा प्रकाशक—

घनश्यामदास

गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

सम्पादकका निवेदन

तत्त्व-चिन्तामणिके पहले भागकी भूमिकामें यह आशा प्रकट की गयी थी कि 'इस सरल भाषामें लिखी हुई तत्त्वपूर्ण पुस्तकका अच्छा आदर होगा और लोग इससे विशेष लाभ उठावेंगे।' आनन्दकी बात है कि वह आशा विफल नहीं हुई। तत्त्व-चिन्तामणिका वह पहला भाग शीघ्र ही समाप्त हो गया और अब उसका दूसरा संशोधित संस्करण भी निकल गया है। यह ग्रन्थ उसीका दूसरा भाग है। पहले भागकी अपेक्षा इसमें प्रायः दूने पृष्ठ हैं। तत्त्व-ज्ञानके बहुत ऊँचे सिद्धान्तोंका सरल भाषामें बोध करा देनेवाले लेख तो इसमें हैं ही। साथ ही कुछ ऐसे लेख हैं जिनमें भ्रातृ-धर्म और पातिव्रत-धर्मपर भी विस्तार-से प्रकाश डाला गया है। इससे यह पुस्तक तत्त्व-विचारपूर्ण होनेके साथ-साथ सरल, व्यावहारिक शिक्षा देनेवाली और सस्ती होनेके कारण सबके कामकी वस्तु हो गयी है। मेरी प्रार्थना है कि इस ग्रन्थको पाठक-पाठिकागण मननपूर्वक पढ़ें और इससे पूरा लाभ उठावें।

विनीत
हनुमानप्रसाद पोद्दार
(कल्याण-सम्पादक)

संवत् १९९०
गोरखपुर

श्रीहरिः

विनय

इस दूसरे भागमें भी कल्याणके प्रकाशित लेखोंका ही संग्रह है। पहले भागको लोगोंने अपनाया इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। यहाँ मैं पुनः इस बातको दुहरा देना चाहता हूँ कि मैं न तो विद्वान् हूँ और न अपनेको उपदेश, आदेश एवं शिक्षा देनेका ही अधिकारी समझता हूँ। मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ। श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीभगवन्नामके प्रभावसे मैंने जो कुछ समझा है, उसीका कुछ भाव अन्तर्यामीकी प्रेरणासे लिखनेका प्रयत्न किया गया है। वास्तवमें यह उसी अन्तर्यामीकी वस्तु है, मेरा इसमें कोई अधिकार नहीं है।

मेरा सभी पाठकोंसे सविनय निवेदन है कि वे कृपापूर्वक इन निबन्धोंको मन लगाकर पढ़ें और इनमें रही हुई त्रुटियाँ मुझे बतलावें।

विनीत

जयदयाल गोयन्दका

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

विषय-सूची

विषय ... पृष्ठ-संख्या



भगवान् श्रीकृष्ण

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

मनुष्यका कर्तव्य

विचारकी दृष्टिसे देखनेपर यह स्पष्ट ही समझमें आता है कि आजकल संसारमें प्रायः सभी लोग आत्मोन्नति-की ओरसे विमुख-से हो रहे हैं। ऐसे बहुत ही कम लोग हैं जो आत्माके उद्धारके लिये चेष्टा करते हैं। कुछ लोग जो कोशिश करते हैं उनमें भी अधिकांश किंकर्तव्य-विमूढ़ हो रहे हैं। श्रद्धा-भक्तिकी कमीके कारण यथार्थ मार्गदर्शक-का भी अभाव-सा हो रहा है। समय, सङ्ग और स्वभावकी विचित्रता-से कुछ लोग तो साधनकी इच्छा होनेपर भी अपने विचारोंके अनुसार चेष्टा नहीं कर पाते । इसमें प्रधान कारण अज्ञताके

साथ-ही-साथ ईश्वर, शास्त्र और महर्षियोंपर अश्रद्धाका होना है। परन्तु यह श्रद्धा किसीके करवानेसे नहीं हो सकती। श्रद्धा-सम्पन्न पुरुषोंके सङ्ग और निष्काम-भावसे किये हुए तप, यज्ञ, दान, दया और भगवद्भक्ति आदि साधनोंसे हृदयके पवित्र होनेपर ईश्वर, परलोक, शास्त्र और महापुरुषोंमें प्रेम एवं श्रद्धा होती है। श्रद्धा ही मनुष्यका स्वरूप है, इसलोक और परलोकमें श्रद्धा ही उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा है। श्रीगीतामें कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(१७।३)

'हे भरतवंशी अर्जुन ! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है वह स्वयं भी वही है। अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप समझा जाता है।' अतः मनुष्यको सच्चे श्रद्धा-सम्पन्न बननेकी कोशिश करनी चाहिये।

आप ईश्वरके किसी भी नाम या किसी भी रूपमें श्रद्धा करें, आपकी वह श्रद्धा ईश्वरमें ही समझी जायगी क्योंकि सभी नाम-रूप ईश्वरके हैं। आपको जो धर्म प्रिय हो, जिस ऋषि, महात्मा या महापुरुषपर आपका विश्वास हो, आप उसीपर श्रद्धा करके उसीके अनुसार चल सकते हैं। आवश्यकता श्रद्धा-विश्वास-की है। ईश्वर, धर्म और परलोक आदि विशेष करके श्रद्धाके ही

विषय हैं। इनका प्रत्यक्ष तो अनेक प्रयत्नोंके साथ विशेष परिश्रम करनेपर होता है। आरम्भमें तो इन विषयोंके लिये किसी-न-किसीपर विश्वास ही करना पड़ता है, ऐसा न करे तो मनुष्य नास्तिक बनकर श्रेयके मार्गसे गिर जाता है, साधनसे विमुख होकर पतित हो जाता है।

यदि आपको किसी भी धर्म, शास्त्र अथवा प्राचीन महात्माओं-के लेखपर विश्वास न हो, तो कम-से-कम एक श्रीमद्भगवद्गीतापर तो जरूर विश्वास करना चाहिये। क्योंकि गीताका उपदेश प्रायः सभी मतोंके अनुकूल पड़ता है। इसपर भी विश्वास न हो तो अपने विचारके अनुसार ईश्वरपर विश्वास करके उसीकी शरण होकर साधनमें लग जाना चाहिये। कदाचित् ईश्वरके अस्तित्वमें भी आपके मनमें सन्देह हो तो वर्तमान समयमें आपकी दृष्टिमें जगत्में जितने श्रेष्ठ पुरुष हैं उन सबमें जो आपको सबसे श्रेष्ठ मान्य हों, उन्हींके बतलाये हुए मार्गपर कमर कसकर चलना चाहिये। यदि वर्तमानकालके किसी भी साधु-महात्मा या सत्पुरुष-पर आपका विश्वास न हो, तो आपको यह विचार करना चाहिये कि क्या सारे संसारमें हमसे उत्तम कल्याणमार्गके ज्ञाता कोई नहीं हैं? यदि यह कहते हों 'कि हैं तो सही पर हमको नहीं मिले।' तो उनकी खोज करनी चाहिये, अथवा यदि यह समझते हों कि 'हमसे तो बहुत-से पुरुष श्रेष्ठ हैं परन्तु कल्याणमार्गके भलीभाँति उपदेश करनेवाले पुरुष संसारमें बहुत ही थोड़े हैं, जो हैं उनका भी हम-जैसे अश्रद्धालुओंको मिलना कठिन है, और यदि कहीं मिल भी जाते हैं तो पहचाननेकी योग्यता न होनेके कारण हम

उन्हें पहचान नहीं सकते ।' ऐसी अवस्थामें आपके लिये यह तो अवश्य ही विचारणीय है कि आप जो कुछ चेष्टा कर रहे हैं उससे क्या आपका यथार्थ कल्याण हो जायगा ? यदि सन्तोष नहीं है तो कम-से-कम अपनी उन्नतिके लिये आपको उत्तरोत्तर विशेष प्रयत्न तो करना ही चाहिये । शम, दम, धृति, क्षमा, शान्ति, सन्तोष, जप, तप, सत्य, दया, ध्यान और सेवा आदि गुण और कर्म आपके विचारमें जो उत्तम प्रतीत हों उनका ग्रहण तथा प्रमाद, आलस्य, निद्रा, विषयासक्ति, झूठ, कपट, चोरी-जारी आदि दुर्गुण और दुष्कर्मोंका त्याग करना चाहिये । प्रत्येक कर्म करनेसे पूर्व सावधानीके साथ यह सोच लेना चाहिये कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह मेरेलिये यथार्थ लाभदायक है या नहीं और उसमें जहाँ कहीं भी त्रुटि मालूम पड़े, उसका बिना विलम्ब सुधार कर लेना चाहिये । मनुष्यजन्म बहुत ही दुर्लभ है, लाखों रुपये खर्च करनेपर भी जीवनका एक क्षण नहीं मिल सकता । ऐसे मनुष्य-जीवनका समय निद्रा, आलस्य, प्रमाद और अकर्मण्यता-में व्यर्थ कदापि नहीं खोना चाहिये । जो मनुष्य अपने इस अमूल्य समयको बिना सोचे-विचारे बितावेगा, उसे आगे चलकर अवश्य ही पछताना पड़ेगा । कविने क्या ही सुन्दर कहा है—

बिना बिचारे जो करे सो पाछे पछिताय ।
काम बिगारे आपनो जगमें होत हँसाय ॥
जगमें होत हँसाय चित्तमें चैन न पावै ।
खान पान सनमान राग रँग मन नहिं भावै ॥

कह गिरधर कविराय कर्म गति टरत न टारे।
खटकत है जिय माँहि किया जो बिना बिचारे॥

अतः अपनी बुद्धिके अनुसार मनुष्यको अपना समय बड़ी ही सावधानीसे ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगाना चाहिये, जिससे आगे चलकर पश्चात्ताप न करना पड़े। नहीं तो गोस्वामीजीके शब्दोंमें—

सो परत्र दुख पावहीं सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाइ॥

—सिवा पछतानेके अन्य कोई उपाय न रह जायगा। यह मनुष्य-जीवन बहुत ही महँगे मोलसे मिला है। काम बहुत करने हैं, समय बहुत थोड़ा है, अतएव चेतकर अपने जीवनके बचे हुए समयको बुद्धिमानीके साथ केवल कल्याणके मार्गमें ही लगाना चाहिये।

यदि मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार इसलोक और परलोक-में लाभ देनेवाले कर्मोंमें प्रवृत्त नहीं होता तो इसको उसकी मूर्खता, अकर्मण्यता और आलस्यके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? जो जान-बूझकर प्रमाद, आलस्य, निद्रा और भोगोंसे चित्तको हटाकर उसे सन्मार्गमें नहीं लगाता और पतनके मार्गमें आगे बढ़ता जाता है वह स्वयं ही अपना शत्रु है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
(केनोपनिषद् २।५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें उस परमात्म-तत्त्वको जान लिया जायगा तो सत्य है यानी उत्तम है। और यदि इस जन्ममें उसको नहीं जाना तो महान् हानि है। धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तनकर—परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृतको प्राप्त होते हैं अर्थात् इस देहसे प्राणोंके निकल जानेपर वे अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

मनुष्यको अपनी उन्नतिका यह मार्ग स्वयं ही चलकर तय करना पड़ता है, दूसरेके द्वारा यह मार्ग तय नहीं होता। अतएव उसकी इसीमें बुद्धिमत्ता और कल्याण है, और यही उसका निश्चित कर्तव्य है कि अत्यन्त सावधानीके साथ प्रतिक्षण अपनेको सँभालते हुए इसलोक और परलोकके कल्याणकारी साधनको खूब जोरके साथ करता रहे। प्रमाद, आलस्य, भोग एवं दुराचार आदिको कल्याणके मार्गमें अत्यन्त बाधक समझकर उन्हें सर्वथा त्याग दे। श्रुति चेतावनी देती हुई कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गम्पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

(कठोपनिषद् ३।१४)

'उठो, जागो और महापुरुषोंके समीप जाकर उनके द्वारा तत्त्वज्ञानके रहस्यको समझो। कविगण इसे तीक्ष्ण क्षुरके धारके समान अत्यन्त कठिन मार्ग बताते हैं।' परन्तु कठिन मानकर

हताश होनेकी कोई आवश्यकता नहीं। भगवान्में चित्त लगानेसे भगवत्कृपासे मनुष्य सारी कठिनाइयोंसे अनायास ही तर जाता है *'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।'* भगवान्ने और भी कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७। १४)

'यह मेरी अलौकिक—अति अद्भुत त्रिगुणमयी योगमाया बहुत दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मेरी ही शरण हो जाते हैं वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे सहज ही तर जाते हैं।' सब देशों और समस्त पदार्थोंमें सदा-सर्वदा भगवान्का चिन्तन करना और भगवान्की आज्ञाके अनुसार चलना ही शरणागति समझा जाता है। इसीको ईश्वरकी अनन्यभक्ति भी कहते हैं। अतएव जिसका ईश्वरमें विश्वास हो, उसके लिये तो ईश्वरका आश्रय ग्रहण करना ही परम कर्तव्य है। जो भलीभाँति ईश्वरके शरण हो जाता है, उससे ईश्वरके प्रतिकूल यानी अशुभ कर्म तो बन ही नहीं सकते। वह परम अभय पदको प्राप्त हो जाता है, उसके अन्तरमें शोक-मोहका आत्यन्तिक अभाव रहता है, उसको सदाके लिये अटल शान्ति प्राप्त हो जाती है और उसके आनन्दका पार ही नहीं रहता। उसकी इस अनिर्वचनीय स्थितिको उदाहरण, वाणी या संकेतके द्वारा समझा या समझाया नहीं जा सकता। ऐसी स्थितिवाले पुरुष स्वयं ही जब उस स्थितिका वर्णन नहीं कर सकते तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है? मन-

वाणीकी वहाँतक पहुँच ही नहीं है। केवल पवित्र हुई शुद्ध बुद्धिके द्वारा पुरुष स्वयं इसका अनुभव करता है। ऐसा वेद और शास्त्र कहते हैं—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

(कठोपनिषद् ३।१२)

'सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें छिपा हुआ यह आत्मा सबको प्रतीत नहीं होता, परन्तु यह सूक्ष्मबुद्धिवाले महात्मा पुरुषोंसे तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ही देखा जाता है।' भगवान् स्वयं कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

(गीता ६। २१)

'इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी भगवत्स्वरूपसे चलायमान नहीं होता।' उसी अवस्थाको प्राप्त करनेकी चेष्टा मनुष्यमात्रको करनी चाहिये, यही सबका परम कर्तव्य है।

हमारा कर्तव्य

हमलोगोंके कर्तव्यकी ओर ध्यान देनेपर अधिकांशमें यही अनुमान होता है कि इस समय हमलोग कर्तव्य-पालनमें प्रायः तत्पर नहीं हैं। ध्यानपूर्वक विचार करनेसे पद-पदपर त्रुटियाँ दिखायी देती हैं। यद्यपि सभी लोग अपनी उन्नति चाहते हैं और यथासाध्य चेष्टा करना भी उत्तम समझते हैं तथापि विचार करनेपर ऐसे अनेक हेतु दृष्टिगोचर होते हैं, जिनके कारण वे यथासाध्य प्रयत्न नहीं कर सकते बल्कि किंकर्तव्यविमूढ़ होकर उन्नतिके असली पथसे गिर जाते हैं।

अतएव सबसे पहले विचारणीय विषय यह है कि मनुष्य-का कर्तव्य क्या है, उसके पालनके लिये मनुष्यको किस प्रकार चेष्टा करनी चाहिये और इच्छा करनेपर भी मनुष्य कौन-सी बाधाओंके कारण यथासाध्य चेष्टा नहीं कर सकता ?

मनुष्यका प्रधान कर्तव्य है अपने आत्माकी उन्नति करना। भगवान् कहते हैं,—*'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।'* मनुष्यको चाहिये कि वह अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपनी आत्माको अधोगतिमें न पहुँचावे। अब यह समझना है कि आत्माकी उन्नति क्या है और उसका अधःपतन किसमें है ?

'अपने अन्दर (अध्यात्म) ज्ञान, (परम) सुख, (अखण्ड) शान्ति और न्यायकी वर्तमानमें और परिणाममें उत्तरोत्तर वृद्धि करना आत्माकी उन्नति है, और इसके विपरीत दुःखके हेतु अज्ञान, प्रमाद, अशान्ति और अन्यायकी ओर झुकना तथा उनकी वृद्धिमें हेतु बनना ही आत्माका अधःपतन है।' मनुष्यको निरन्तर आत्म-निरीक्षण करते हुए आत्माकी उन्नतिके प्रयत्नमें लगना और अधःपतनके प्रयत्नसे हटना चाहिये। संसारमें संग ही उन्नति-अवनतिका प्रधान हेतु है, जो पुरुष अपनी उन्नति कर चुके हैं या उन्नतिके मार्गपर स्थित हैं उनका संग आत्माकी उन्नतिमें और जो गिरे हुए हैं या उत्तरोत्तर गिर रहे हैं उनका संग आत्माकी अवनतिमें सहायक होता है। इसलिये सदा-सर्वदा उत्तम पुरुषों-का संग करना ही उचित है।

उत्तम पुरुष उनको समझना चाहिये जिनमें स्वार्थ, अहंकार,

दम्भ और क्रोध नहीं है, जो मान-बड़ाई या पूजा नहीं चाहते, जिनके आचरण परम पवित्र हैं, जिनको देखने और जिनकी वाणी सुननेसे परमात्मामें प्रेम और श्रद्धाकी वृद्धि होती है, हृदय-में शान्तिका प्रादुर्भाव होता है और परमेश्वर, परलोक तथा सत्-शास्त्रोंमें श्रद्धा उत्पन्न होकर कल्याणकी ओर झुकाव होता है। ऐसे परलोकगत और वर्तमान सत्पुरुषोंके उत्तम आचरणोंको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करना एवं उनकी आज्ञानुसार चलना तथा अपनी बुद्धिमें जो बात कल्याणकारक, शान्तिप्रद और श्रेष्ठ प्रतीत हो उसीको काममें लाना चाहिये। मनु महाराज भी कहते हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
(२।१२)

'वेद, स्मृति, सत्पुरुषोंके आचरण और जिसके आचरणसे अपने हृदयमें भी प्रसन्नता हो, ये चार धर्मके साक्षात् लक्षण कहे गये हैं।'

अब यहाँ एक प्रश्न होता है कि जो लोग हमारी श्रुति-स्मृतियोंको नहीं मानते हैं, क्या उनके लिये कोई उपाय नहीं है? क्या सभीके लिये श्रुति-स्मृतियोंका मानना आवश्यक है? हिन्दूके नातेसे यद्यपि मुझे श्रुति-स्मृति बहुत प्रिय हैं और मैं उनका पक्षपाती हूँ, तथापि मेरा यह कहना कभी युक्तियुक्त नहीं हो सकता कि श्रुति-स्मृतियोंको माननेके सिवा अन्य कोई सदाचरण-का उपाय ही नहीं है। निरपेक्षभावसे मनुष्यमात्रके कर्तव्यकी ओर खयाल करके विचार करनेसे यही भाव उत्पन्न होता है कि

सारे संसारका स्वामी और नियन्ता एक ही ईश्वर है। संसारके प्रायः सभी सम्प्रदाय और मत-मतान्तर किसी-न-किसी रूपमें उसीको मानते और उसीकी ओर अपने अनुयायीको ले जाना चाहते हैं। अतएव उन सभी सम्प्रदाय और मत-मतान्तरोंके मनुष्य जिन-जिन ग्रन्थोंको अपना शास्त्र और धर्मग्रन्थ मानते हैं उनके लिये वही शास्त्र और धर्मग्रन्थ हैं। जो व्यक्ति जिस धर्मको मानता है, उसे उसीके धर्मशास्त्रके अनुसार अपने सदाचारी श्रेष्ठ पूर्वजोंद्वारा आचरित और उपदिष्ट उत्तम साधनोंमेंसे जो अपनी बुद्धिमें आत्माका कल्याण करनेवाले प्रिय प्रतीत हों, उनको ग्रहण करना ही उसका शास्त्रानुसार चलना है। शास्त्रोंकी उन्हीं बातोंका अनुकरण करना चाहिये जो विचार करनेपर अपनी बुद्धिमें भी कल्याणकारक प्रतीत हों। जिनको हम उत्तम पुरुष मानते हैं, उनके भी उन्हीं आचरणोंका हमें अनुकरण करना उचित है, जो हमारी बुद्धिसे उत्तम-से-उत्तम प्रतीत हों। उनके जो आचरण हमारी दृष्टिमें अश्रेयस्कर, अनुचित और शंकास्पद प्रतीत हों, उनको ग्रहण नहीं करना चाहिये।

जिनका कल्याण हो चुका है या जो कल्याणके मार्गपर बहुत कुछ अग्रसर हो चुके हैं, ऐसे पुरुषोंका संग न मिलनेपर या किसीमें भी ऐसा होनेका विश्वास न जमनेपर ऐसे सत्पुरुषकी प्राप्तिके लिये परमेश्वरसे इस भावसे प्रार्थना करनी चाहिये कि, 'हे प्रभो! हे परमात्मन्! हे नाथ! आपमें मेरा अनन्य प्रेम हो, इसके लिये आप कृपा करके मुझे उन महापुरुषोंका संग दीजिये,

जो सच्चे मनसे और परम श्रद्धासे आपके प्रेममें मत्त रहते हैं।' बार-बार ईश्वरसे विनय करनेपर उसकी कृपासे साधकको उसकी इच्छाके अनुकूल सत्पुरुषकी प्राप्ति अवश्य ही हो जाती है।

यहाँपर एक प्रश्न यह होता है कि जिनका ईश्वरमें विश्वास है, वही तो ईश्वर-प्रार्थना कर सकते हैं। ईश्वरमें विश्वास रखनेवालोंका सन्तों और शास्त्रोंमें भी विश्वास होना सम्भव है परन्तु जिनका ईश्वर, परलोक, शास्त्र और सन्तोंमें विश्वास ही नहीं है उनके लिये क्या कर्तव्य है ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ऐसे लोगोंकी स्थिति बहुत ही दयनीय है तथापि वे भी अपनी बुद्धिके अनुसार अपने आत्माकी उन्नतिका उपाय कर सकते हैं। ऐसे लोगोंको चाहिये कि अपनी बुद्धिमें जो पुरुष अपनेसे श्रेष्ठ प्रतीत हो, उसीका संग करे। संसारमें मूढ़-से-मूढ़ और बुद्धिमान्-से-बुद्धिमान् पुरुष इस बातको तो प्रायः सभी मानते हैं कि जगत्में हमसे अच्छे मनुष्य भी हैं और बुरे भी हैं। अतएव अपनी बुद्धिमें जो अपनेसे उत्तम, उन्नत, विचारशील, साधुहृदय, सदाचारी और विद्वान् प्रतीत हो, उसीको आदर्श समझकर उसके सदाचरणोंका स्वार्थहीन होकर अनुकरण करना चाहिये। यदि मूर्खता, अभिमान या अन्य किसी कारणवश किसीमें भी अपनेसे अच्छे होनेका विश्वास ही न हो तो अपनी बुद्धिमें भलीभाँति सोच-विचार कर लेनेके बाद जो बातें परिणाममें कल्याणकारक, शान्तिप्रद, सुखकर, लोकहितकर, न्याययुक्त और धर्मसंगत जँचें, उन्हीं बातोंको मानना और स्वार्थ छोड़कर उन्हींके अनुसार कर्म करना चाहिये।

सभी मनुष्योंमें प्रधानतः दो तरहकी वृत्तियाँ होती हैं—एक ऊर्ध्वको ले जानेवाली यानी आत्माको उन्नत बनानेवाली और दूसरी अधोगतिको ले जानेवाली यानी आत्माका पतन करनेवाली। इन दोनोंमें जो विवेक-वृत्ति कल्याणमें सहायक होकर उत्तम आचरणोंमें लगाती है वह ऊपर उठानेवाली है, और जो अविवेक-वृत्ति राग-द्वेषमय अहंकारादिके द्वारा अधम आचरणोंमें प्रवृत्त करती है वह नीचे गिरानेवाली है। मनुष्य विवेक-वृत्तिके द्वारा अपनी उन्नति करना चाहता है परन्तु अविवेक-वृत्ति उसे बलपूर्वक सन्मार्गसे च्युत करके अन्यायपथपर ढकेल देती है। इसीसे अर्जुनने भगवान्‌से पूछा था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३

'हे वार्ष्णेय! फिर यह पुरुष बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है।' भगवान्‌ने जवाबमें कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३।३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यही महा-अशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला बड़ा पापी

है, इस विषयमें तू इसको ही शत्रु जान !' आगे चलकर भगवान्ने बतलाया कि रागरूप आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाले इन कामादि शत्रुओंने ही मनुष्यकी इन्द्रियों और उसके मनपर अधिकार जमा रक्खा है अतएव पहले इन्द्रियों और मनको अधीनतासे छुड़ाकर इन कामादि बुरी वृत्तियोंका विनाश करना चाहिये। ऐसा करनेमें साधक समर्थ है । इसीसे भगवान्ने कहा कि—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

(गीता ३ । ४२-४३)

'शरीरसे इन्द्रियोंको श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं, इन्द्रियोंसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त परे है, वह आत्मा है । इस प्रकार बुद्धिसे परे अर्थात् सूक्ष्म, सब प्रकारसे बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्माको जानकर बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो ! अपनी शक्तिको समझकर इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मार !'

भगवान्के इन वचनोंके अनुसार मनुष्यको अपने आत्माके उद्धारके लिये उत्तरोत्तर अधिक उत्साहसे चेष्टा करनी चाहिये । रागद्वेषमय अहंकारादियुक्त अविवेक-वृत्तिका दमनकर विवेक-वृत्तिको जाग्रत् करनेसे ही सब कुछ ठीक हो सकता है । यही कर्तव्यका पालन है ।

अब यह बात विचारणीय है कि प्रायः सभी मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार उन्नतिके लिये चेष्टा तो करते हैं, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती। ऐसी कौन-कौन-सी प्रधान बाधाएँ हैं जो मनुष्यको उन्नतिपथमें बढ़नेसे सदा रोके रखती हैं? इसका उत्तर यह है कि हमने कुसङ्ग और असदभ्याससे ऐसी अनेक बाधाएँ खड़ी कर रक्खी हैं, जिनके कारण हम यथार्थ उन्नतिके पथपर आरूढ़ नहीं रह सकते। उनमेंसे प्रधान ये हैं—

(१) *आसक्ति*—खाने-पहनने, विलासिता करने, सांसारिक विषयोंका रस-बुद्धिसे उपभोग करनेमें प्रवृत्त करानेवाली वृत्तिका नाम आसक्ति है। मनुष्य विचारसे समझता है कि व्यभिचार करना बहुत बुरा है—पाप है। अमुक वस्तुका खाना शरीर और बुद्धिके लिये हानिकर है। परन्तु विषय-लालसा-रूप कामवृत्ति विवेकको ढककर उसे उन्हीं विषयोंमें ले जाती है। इस आसक्तिके वश होकर ही इन्द्रियाँ बलात्कारसे मनको खींचकर विषय-सागरमें डुबो देती हैं। (गीता २। ६०) इस कामवृत्तिका अवश्य ही नाश करना चाहिये। जिन वस्तुओंकी ओर मन आकर्षित हो, हमें उनके गुण-दोषोंका विचारकर जिसमें दोष और परिणाममें दुःख प्रतीत होता हो, उसका हठ या विवेकसे विरोध या त्याग कर देना चाहिये और जिसमें दोष-दुःख न प्रतीत हो, उसे ग्रहण करना चाहिये।

(२) द्वेष—जो क्रोधके रूपमें परिणत होकर न्यायान्यायके विचारको नष्ट कर देता है और चाहे जैसे अन्याय कर्ममें लगा देता है। काम-वृत्ति जाग्रत् होनेपर जैसे मनुष्य चाहे जैसा पाप कर बैठता है, इसी प्रकार क्रोधकी वृत्तिमें भी वह बड़े-से-बड़ा अन्याय करते नहीं हिचकता। अतएव द्वेषको कभी हृदयमें नहीं टिकने देना चाहिये। जब किसीपर क्रोध आवे तब उसी समय सावधान होकर विवेकबुद्धिसे काम लेना चाहिये। क्रोधके वशमें होकर कुछ कर बैठना भविष्यमें अत्यन्त दुखदायी हुआ करता है।

(३) *लोभ*—विचारवान् पुरुषोंने लोभको पापका जन्मदाता बतलाया है। लोभवृत्ति जागनेपर न्यायान्याय और सत्यासत्यका विचार नहीं ठहर सकता। दूसरोंको धोका देना, ठगना, धनके लिये नीच-से-नीच कर्म कर बैठना लोभी मनुष्यका स्वभाव-सा बन जाता है। धन-संग्रहको ही जीवनका ध्येय समझनेवाले लोभीसे धर्मका संग्रह होना अत्यन्त कठिन है। अतएव ईश्वर और प्रारब्धपर भरोसा करके लोभका त्याग करना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीतामें काम, क्रोध और लोभ इन तीनोंको आत्मनाशक नरकका द्वार बतलाया है। (१६।२१)

(४) *भय*—इसके उत्पन्न होनेपर मनुष्य धैर्यको त्यागकर

तुरन्त पापमें प्रवृत्त हो जाता है। जो मनुष्य निर्भय होकर न्यायपथपर चलता है, महान्-से-महान् संकटमें भी धैर्य नहीं छोड़ता, उसका यहाँ-वहाँ कहीं भी कभी पतन नहीं होता। परमात्माको हर जगह देखनेपर तो भय कहीं रहता ही नहीं, परन्तु हृदयमें धैर्य धारण करके विचार करने तथा शूर-वीरताका अवलम्बन करनेसे भी मनुष्य निर्भय हो सकता है। इस बातको समझकर सदा निर्भय रहनेकी चेष्टा करनी चाहिये। भयमें पड़-कर अधीरतासे अन्यायको कभी स्वीकार नहीं करना चाहिये।

(५) दम्भ—अपने बुरे भावोंको छिपाकर लोभ, भय या अज्ञान-से धन, मान, बड़ाई आदिके लिये बिना हुए ही अच्छे भाव दिखलाना या अपने थोड़े अच्छे भावोंको विशेष रूपसे दिखाना दम्भ कहलाता है। यह दोष कल्याण-मार्गमें बहुत बड़ा बाधक है, साधकके अधःपतनके प्रधान हेतुओंमेंसे यह विशेष प्रधान है। असत्य, छल, अन्याय आदि दोष दम्भके गर्भमें स्वाभाविक ही छिपे रहते हैं। दम्भी मनुष्य समझता है कि मैं दूसरोंको ठगता हूँ परन्तु वास्तवमें वह स्वयं ही ठगा जाता है। दम्भसे किये हुए यज्ञ-दानादि सत्कर्म भी क्षय हो जाते हैं, बल्कि कहीं-कहीं तो कर्ताको

पुण्यके बदले पापका भागी बनना पड़ता है। अतएव विचारवान् पुरुषको इस दोषसे खूब बचना चाहिये। आजकलकी दुनियाँमें इस दोषका बहुत विस्तार हो गया है। हजारोंमें भी एक मनुष्य ऐसा मिलना कठिन है, जिसमें दम्भका लेश भी न हो।

उपर्युक्त पाँच तो प्रधान दोष हैं। इनके सिवा हमने बहुत-सी ऐसी आदतें डाल ली हैं, जिनसे विवश होकर हमें कल्याणपथसे गिरना पड़ता है। विचार-दृष्टिसे प्रत्यक्ष अधःपतन करनेवाली दीखनेपर भी प्रारम्भमें मोहसे कुछ सुखप्रद प्रतीत होनेके कारण हम उन्हें छोड़ना नहीं चाहते। जैसे—

(क) दूसरेके *आश्रयपर निर्भरकर पराधीनतामें जीवन बिताना*—जो स्वावलम्बी नहीं होते, जिनका जीवन-निर्वाह दूसरोंकी कमाईसे होता है, जो दूसरोंके द्वारा रक्षित होकर जीवन धारण करते हैं, वे अपने विचारोंकी उन्नति नहीं कर सकते। उन्हें अपने आश्रय-दाताके विचारोंके आगे दबना पड़ता है। कभी-कभी तो अपने सद्विचारोंकी हत्यातक करनी पड़ती है। विचारोंके दबते-दबते नवीन सद्विचारोंकी सृष्टि होनी रुक जाती है, शरीरकी भाँति उनकी बुद्धि और विवेक भी परमुखापेक्षी बन जाते हैं। अतएव यथासम्भव स्वावलम्बी बननेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(ख) *शरीरके आराम या भोगोंके लिये दूसरोंपर हुक्म चलाना या उनसे सेवा कराना*—इस आदतने हमको अकर्मण्य और अभिमानी बना दिया है। समताका गुण प्रायः नष्ट कर दिया है, अतएव यथासाध्य दूसरोंके द्वारा अपनी सुविधाके लिये सेवा कभी नहीं करानी चाहिये।

(ग) *अपने आराम, भोग या नामके लिये धनका अधिक खर्च करना*—यह एक ऐसी बुरी आदत है, जिसके कारण मनुष्य अन्याय-मार्गसे धन कमानेकी चेष्टाकर सब तरहसे पतित हो जाता है। धनका गुलाम क्या-क्या अन्याय नहीं करता ? हमलोगोंने अपनेसे अधिक धनवानोंकी देखादेखी अपने दैनिक खर्च, खाने-पहननेका खर्च, ब्याह-शादीका खर्च इतना बढ़ा लिया है कि जिसके कारण आज हमारा जीवन महान् दुखी और अशान्त बन गया है। इसीलिये आज हम धन कमानेके किसी भी साधनको अनुचित नहीं समझते। चाहे जैसे भी हो, धर्म जाय, न्यायका नाश हो, देश, जाति या पड़ोसी भाइयोंका दुःख बढ़ जाय, हमें धन मिलना चाहिये। इस न्यायान्याय-शून्य धनलोलुपताकी इतनी वृद्धिमें अनावश्यक व्यय एक प्रधान कारण है। धनलोलुप लोग परमार्थके साधन या आत्मोन्नतिके कार्यमें सहजमें नहीं लग सकते। अतएव मनुष्यको चाहिये कि यथासाध्य

अपनी आवश्यकताओंको घटावे । जितना अधिक कम खर्चमें जीवन-निर्वाह हो, उतना ही कम खर्च करे, धन ज्यादा हो तो उसका उपयोग गरीब, निर्धन, अपाहिज भाई-बहनोंकी सेवामें करे ।

(घ) *दीर्घसूत्रता, अकर्मण्यता या हरामीपन*—आजके कामको कलपर छोड़ना । काम करनेमें दिलको लगाना ही नहीं । यह बहुत ही बुरी आदत है । इस आदतके वशमें रहनेवाले मनुष्यका इसलोक या परलोकमें उन्नत होना अत्यन्त ही कठिन है । समय बहुत थोड़ा है, मार्ग दूर है । मृत्यु प्राप्त होने और शरीरपर रोगोंका आक्रमण होनेसे पहले ही तत्पर होकर कर्तव्य-पालनमें लग जाना चाहिये । प्रत्येक सत्कार्यकी प्राप्ति होते ही उत्साहके साथ उसी समय उसे सम्पन्न करनेके लिये प्रस्तुत हो जाना चाहिये ।

(ङ) *माता, पिता आदि गुरुजनोंकी आज्ञाकी अवहेलना*—यह आदत आजकल बहुत बढ़ रही है, खासकर पढ़े-लिखे लोगोंमें । बड़े-बूढ़े अनुभवी गुरुजनोंकी स्नेहभरी आज्ञाकी अवहेलना करते रहनेसे सन्मार्गपर प्रवृत्त होनेमें बड़ी बाधा होती है । गुरुजनोंके आशीर्वादसे आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है । उनके अनुभवपूर्ण वाक्योंसे हमें जीवन-निर्वाहका मार्ग सूझता है अतएव यथासाध्य गुरुजनोंकी आज्ञा पालन करनेमें तत्पर होना चाहिये ।

(च) *दूसरोंकी निन्दा-स्तुति करना या व्यर्थ पर-चर्चा करना*—पराई-निन्दा-स्तुति या व्यर्थ चर्चा मनुष्यको बहुत ही मीठी लगती है जिसमें पर-निन्दा और पर-चर्चा तो सबसे बढ़कर प्यारी है। निन्दा-स्तुति और पर-चर्चामें असत्य, द्वेष और दम्भको बहुत गुञ्जाइश मिल जाती है। अतएव निन्दा या व्यर्थ चर्चा तो कभी नहीं करनी चाहिये। स्वार्थ-सिद्धिके लिये स्तुति करना भी बहुत बुरा है। बिना हुए ही स्वार्थवश किसीके अधिक गुणोंका बखान करना उसको ठगना है। योग्यता प्राप्त होनेपर यथार्थ शब्दोंमें स्तुति करनेपर कर्ताके लिये कोई हानि नहीं है।

(छ) ***मान-बड़ाई या प्रतिष्ठाका चाहना और उनके प्राप्त होनेपर स्वीकार करते रहना***—यह दादके खाजकी तरह बड़ा ही सुहावना रोग है, जो आरम्भमें सुखकर प्रतीत होनेपर भी अन्तमें बड़ा दुखदायी होता है। आजकल तो मानो मान-बड़ाईके क्षुद्र मूल्यपर हमारा महान् धर्म-कर्म सब कुछ बिक गया है। मनुष्य जो कुछ अच्छा कर्म करता है, वह सब मान-बड़ाईके प्रवाहमें बहा देता है। यद्यपि प्रमादी और विषयासक्त पुरुषोंकी अपेक्षा मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये भी अच्छे कर्म करनेवाले उत्तम हैं, तथापि आत्माके कल्याण चाहनेवालोंको

तो मान-बड़ाईसे बड़ी हानि होती है। जिस साधनसे अमूल्य-निधि परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, उनका वह सब साधन मान-बड़ाईमें चला जाता है। यह बड़ी भयानक, गम्भीर और संक्रामक व्याधि है, हृदयके अन्तस्तलमें छिपी रहती है। स्त्री-पुत्र और धन-ऐश्वर्यके त्यागियोंमें भी प्रायः मान-बड़ाईका रोग देखा जाता है। विचारबुद्धिसे बुरा समझनेपर भी मनुष्य सहजमें इससे सर्वथा नहीं छूट सकता। इसके परमाणु जगत्‌भरमें फैले हुए हैं। करोड़ोंमें कोई एक ही शायद इस छूतकी बीमारीसे बचा होगा। इसका सम्पूर्ण नाश तो परमात्माका तत्त्व जाननेपर ही होता है, परन्तु चेष्टा करनेसे पहले भी बहुत कुछ दमन हो जाता है। अतएव इसके नाशके लिये हर समय प्रयत्नशील रहना चाहिये। इस प्रयत्नमें भी यह सावधानी अवश्य रखनी चाहिये कि कहीं बदलेमें अनुचित हठ या दम्भ न उत्पन्न हो जाय।

उपर्युक्त प्रधान बाधाओंसे बचकर आत्मोन्नतिकी चेष्टा करनेवाला मनुष्य अन्तमें सफल हो सकता है। अब संक्षेपमें उन मुख्य-मुख्य साधनोंको भी जान लेना चाहिये जिनसे आत्मोन्नतिमें बड़ी सहायता मिलती है और जो कर्तव्यके प्रधान अंग हैं।

(१) सत्पुरुषोंका संग और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करके

उनके उत्तम सद्-आचरणों और उपदेशोंका अनुकरण और ग्रहण करना ।

(२) ईश्वरकी सत्तापर विश्वास करना । परमात्माका विश्वास ज्यों-ज्यों बढ़ता जायगा त्यों-ही-त्यों सारे दोष स्वयमेव नष्ट होते चले जायँगे । सर्वव्यापी परमेश्वरमें जितना अधिक विश्वास होगा, उतना ही आत्मा अधिक उन्नत होगा । जैसे सूर्यके उदय होनेके पूर्व उसके आभास-से ही अन्धकार मिट जाता है वैसे ही परमात्माकी शरण ग्रहण करनेसे पहले ही उसपर विश्वास होते ही पाप नष्ट हो जाते हैं । सब समय सब जगह परमात्माके स्थित होनेका विश्वास हो जानेपर मनुष्यसे कभी कहीं भी पाप नहीं हो सकते ।

(३) ईश्वरके शरणागत होकर निष्काम और प्रेमभावसे उसके नामके जपका निरन्तर अभ्यास करना । जिसका जिस नामसे प्रेम हो, उसके लिये वही नाम विशेष लाभप्रद है । जिस पुरुषको जिस नामसे लाभ पहुँचा, उसने उसी नामकी विशेष महिमा गायी है । इससे इस भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये कि अमुक नाम बड़ा है और अमुक छोटा है । न्यायदृष्टिसे देखनेपर परमात्माके सभी नाम समान प्रभावशाली प्रतीत होते हैं । जिसका जो इष्ट हो, जो प्रिय हो, उसके

लिये वही श्रेष्ठ है। अपनी अपनी कल्पनासे सम्प्रदायानुसार तारतम्यता है, वास्तवमें नहीं। अतएव जो नाम-जप नहीं करते हैं, उन्हें जो अच्छा लगे उसी नामका जप करना चाहिये और जो जिस नामका जप करते हैं उन्हें उसका परिवर्तन न कर उसीको आदर और प्रेमसहित बढ़ाना चाहिये।

(४) परमेश्वरके स्वरूपका मनन करना। जिसको जो इष्ट हो, अपनी कल्पनामें ईश्वरको जो जैसा समझता हो, उसे वैसे ही स्वरूप या भावका निरन्तर चिन्तन करना चाहिये। ईश्वरके सम्बन्धमें इतनी बातें अवश्य ही दृढ़तापूर्वक हृदयमें धारण कर लेनी चाहिये कि ईश्वर है, सर्वत्र है, सर्वान्तर्यामी है, सर्वशक्तिमान् है, सर्वव्यापी है, सर्व-दिव्य-गुण-सम्पन्न है, सर्वज्ञ है, सनातन है, नित्य है, परम प्रेमी है, परम सुहृद् है, परम आत्मीय है और परम गुरु है। इन गुणोंमें उससे बढ़कर या उसकी जोड़ीका दूसरा जगत्में न कोई हुआ, न है और न हो सकता है।

(५) मन, वाणी, शरीरके द्वारा स्वार्थरहित होकर वैसी चेष्टा सदैव करते रहना चाहिये जो अपनी बुद्धिमें कल्याणके लिये अत्यन्त श्रेयस्कर प्रतीत हो।

(६) जिसको अपना कर्तव्य समझ लिया उसके पालन करनेमें दृढ़ रहना चाहिये । लाभ, भय, स्वार्थ या अज्ञान किसी भी कारणसे कर्तव्यच्युत नहीं होना चाहिये ।

यही छः बातें विशेषरूपसे कर्तव्य समझने योग्य हैं । यह सब मैंने संक्षेपमें अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार लिखा है, हो सकता है, यह ठीक न जँचे या इससे उत्तम और कोई बातें हों। सबको अपनी बुद्धिके अनुसार अपने-अपने लाभकी बातें सोचकर उनके अनुकूल चलना चाहिये । अपनी बुद्धिमें जो बात निर्विवाद-रूपसे अच्छी प्रतीत हो, आसक्तिके वश होकर उसे कभी नहीं छोड़ना चाहिये । इसके अतिरिक्त मनुष्य और कर ही क्या सकता है ? अपनी विवेकबुद्धिके सहारे जो आत्मोन्नतिकी चेष्टा करता है वह प्रायः सफल ही होता है । और जो परमात्माका आश्रय लेकर परमात्माकी खोजके लिये अपनी बुद्धिके अनुसार परमात्माकी प्रेरणा समझकर साधन करता है, उसकी सफलतामें तो कोई सन्देह ही नहीं करना चाहिये ! साधारणतः प्रत्येक मनुष्यको दिनके चौबीस घण्टेमेंसे छः घण्टे कर्तव्यकर्मके पालनरूप योग-साधनमें, छः घण्टे न्याययुक्त धर्मसंगत आजीविकाके लिये कर्म करनेमें, छः घण्टे शौच, स्नान, आहारादि शारीरिक कर्ममें और छः घण्टे सोनेमें खर्च करने चाहिये !

धर्मकी आवश्यकता

वेद-शास्त्र-पुराण और सन्त-महात्माओंके वचनों और महज्जनोंके आचरणोंसे यही सिद्ध होता है कि संसार धर्मपर ही प्रतिष्ठित है, धर्मसे ही मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है, धर्म ही मनुष्यको पापोंसे बचाकर उन्नत जीवनमें प्रवेश करवाता है, धर्मबलसे ही विपत्तिपूर्ण संसार और परलोकमें जीव दुःखके महार्णवसे पार उतर सकता है। हिन्दू-शास्त्रकार

और सन्तोंने तो इन सिद्धान्तोंकी बड़े जोरसे घोषणा की ही है, परन्तु अन्यान्य जातियोंमें भी धर्मको सदा ऊँचा स्थान मिला है। सभीने धर्मबलसे ही अपनेको बलवान् समझा है। अबतक सब जगह यही माना गया है कि धर्मके बिना मनुष्यका जीवन पशु-जीवन-सदृश ही हो जाता है। परन्तु अब कुछ समयसे दुनियाँमें एक नयी हवा चली है। जहाँ धर्मको जीवनकी उन्नतिका एक प्रधान साधन समझा जाता था, वहाँ अब कुछ लोग धर्मको पतनका कारण बतलाने लगे हैं।

कुछ समय पहले समाचार-पत्रोंमें यह प्रकाशित हुआ था कि रूसमें 'ईश्वर-विरोधी-मण्डल' के अनुरोधसे वहाँकी सोवियट युनियनने अपने सदस्योंको किसी भी धार्मिक कार्यमें सम्मिलित न होनेके लिये आज्ञापत्र निकाला है। इससे पहले ईश्वरका इस प्रकार विधिद्वारा विरोध करनेकी बात कहीं सुननेमें नहीं आयी थी। अवश्य ही पुराणोंमें हिरण्यकशिपु-सरीखे दैत्योंके नाम मिलते हैं, जिसने प्रह्लादको ताड़ना दी थी। रावण-राज्यमें भी, जो अत्याचार-के लिये विख्यात है, शायद ईश्वरको न माननेका कानून नहीं था, होता तो विभीषण-सदृश ईश्वरभक्त उसके राज्यमें कैसे रह सकते? यह सत्य है कि संसारमें ऐसे लोग बहुत कालसे चले आते हैं, जो ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार नहीं करते, परन्तु उन लोगोंने भी धर्मका कभी विरोध नहीं किया। बड़े-बड़े अनीश्वर-वादियोंने भी जगत्को ऐहिक सुख पहुँचानेके लिये भी धर्मका पालन और पक्ष किया है। धर्मका स्वरूप कुछ भी हो परन्तु

धर्मका पालन प्रत्येक देश और जातिमें सदासे चला आता है ।

इस समय यह धर्म-विरोधी आन्दोलन केवल रूसमें ही नहीं हो रहा है; यूरोप, अमेरिका, एशिया और अफ्रिकाके ईसाई, मुसलमान और बौद्ध सभीमें न्यूनाधिकरूपसे इस प्रकारके आन्दोलनका सूत्रपात हो गया है । सबसे अधिक दुःखकी बात तो यह है कि धर्म-प्राण भारतवर्षमें भी आज ईश्वर और धर्मके तत्त्वसे अनभिज्ञ होनेके कारण कुछ लोग यह कहने लगे हैं कि 'धर्म ही हमारे सर्वनाशका कारण है, धर्मके कारण ही देश परतन्त्र हो रहा है, धर्म ही हमारे सर्वाङ्गीण उत्थानमें प्रधान बाधक है ।' इस प्रकार कहने और माननेवाले लोग, ईश्वर और धर्म-वादियोंको मूर्ख समझते हैं । उन्हें अपनी भूल समझमें नहीं आती और सहज ही इसका समझमें आना भी कठिन ही है, क्योंकि जब मनुष्य अपनेको सर्वापेक्षा अधिक बुद्धिमान् और विद्वान् समझने लगता है, तब उसे अपनी रायके प्रतिकूल दूसरेकी अच्छी-से-अच्छी सम्मति भी पसन्द नहीं आती । इस धर्मध्वंसकारी आन्दोलनका परिणाम क्या होगा सो कुछ भी समझमें नहीं आता, तो भी शब्द, युक्ति और अनुमान-प्रमाणसे यही अनुमान होता है कि इससे देशकी बड़ी दुर्दशा होगी । धर्महीन मनुष्य उच्छृङ्खल हो जाता है और ऐसे मनुष्योंका समूह जितना अधिक बढ़ता है, उतना ही द्वेष-द्रोहका दावानल अधिक जलता है, जिससे सभीको दुःख भोगना पड़ता है ।

धर्म ही मनुष्यको संयमी, साहसी, धीर, वीर, जितेन्द्रिय

और कर्तव्यपरायण बनाता है। धर्म ही दया, अहिंसा, क्षमा, परदुःख-कातरता, सेवा, सत्य और ब्रह्मचर्यका पाठ सिखाता है। मनु महाराजने धर्मके दश लक्षण बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(६।९२)

धृति, क्षमा, मनका निग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, निर्मल बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध यह दश धर्मके लक्षण हैं।

महाभारतमें कहा है—

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥

(वनपर्व २९७।३५)

मन, वाणी और कर्मसे प्राणीमात्रके साथ अद्रोह, सबपर कृपा और दान यही साधु पुरुषोंका सनातन-धर्म है।

पद्मपुराणमें धर्मके लक्षण बतलाये हैं—

ब्रह्मचर्येण सत्येन मखपञ्चकवर्तनैः।
दानेन नियमैश्चापि क्षान्त्या शौचेन वल्लभ॥
अहिंसया सुशान्त्या च अस्तेयेनापि वर्तनैः।
एतैर्दशभिरङ्गैस्तु धर्ममेव प्रपूरयेत्॥

(द्वितीय खण्ड अ० १२। ४६-४७)

हे प्रिय! ब्रह्मचर्य, सत्य, पञ्चमहायज्ञ, दान, नियम, क्षमा,

शौच, अहिंसा, शान्ति और अस्तेयसे व्यवहार करना—इन दश अङ्गोंसे धर्मकी ही पूर्ति करे।

अब बतलाइये, क्या कोई भी जाति या व्यक्ति मन और इन्द्रियोंकी गुलाम, विद्या-बुद्धिहीन, सत्य-क्षमा-रहित, मन, वाणी, शरीरसे अपवित्र, हिंसा-परायण, अशान्त, दानरहित और पर-धन हरण करनेवाली होनेपर, कभी सुखी या उन्नत हो सकती है? प्रत्येक उन्नतिकामी जाति या व्यक्तिके लिये क्या धर्मके इन लक्षणोंको चरित्रगत करनेकी नितान्त आवश्यकता नहीं है? क्या धर्मके इन तत्त्वोंसे हीन जाति कभी जगत्में सुखपूर्वक टिक सकती है? धर्मके नामतकका मूलोच्छेद चाहनेवाले सज्जन एक बार गम्भीरतापूर्वक पक्षपातरहित हो यदि शान्त-चित्तसे विचार करें तो उन्हें भी यह माल्रम हो सकता है कि धर्म ही हमारे लोक-परलोकका एकमात्र सहायक और साथी है, धर्म मनुष्यको दुःखसे निकालकर सुखकी शीतल गोदमें ले जाता है, असत्यसे सत्यमें ले जाता है, अन्धकारपूर्ण हृदयमें अपूर्व ज्योतिका प्रकाश कर देता है। धर्म ही चरित्र-संगठनमें एकमात्र सहायक है। धर्मसे ही अधर्मपर विजय प्राप्त हो सकती है, धर्म ही अत्याचार-का विनाशकर धर्मराज्यकी स्थापनामें हेतु बनता है। पाण्डवोंके पास सैन्यबलकी अपेक्षा धर्मबल अधिक था, इसीसे वे विजयी हुए। अस्त्र-शस्त्रोंसे सब भाँति सुसज्जित बड़ी भारी सेनाके स्वामी महापराक्रमी रावणका धर्मत्यागके कारण ही अधःपतन हो गया। कंसको धर्मत्यागके कारण ही कलङ्कित होकर मरना पड़ा!

महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजीका नाम हिन्दूजातिमें धर्माभिमानके कारण ही अमर है। गुरु गोविन्दसिंहके पुत्रोंने धर्मके लिये ही दीवारमें चुना जाना सहर्ष स्वीकार कर लिया था, मीराबाई धर्मके लिये जहरका प्याला पी गयी थीं। ईसामसीह धर्मके लिये ही शूलीपर चढ़े थे। भगवान् बुद्धने धर्मके लिये ही शरीर सुखा दिया था। युधिष्ठिरने धर्मपालनके लिये ही कुत्तेको साथ लिये बिना अकेले सुखमय स्वर्गमें जाना अस्वीकार कर दिया था। इसीसे आज इन महानुभावोंके नाम अमर हो रहे हैं। धर्म जाता रहेगा तो मनुष्योंमें बचेगा ही क्या ? धर्मके अभावमें पर-धन और पर-स्त्रीका अपहरण करना, दीनोंको दुःख पहुँचाना तथा यथेच्छाचार करना और भी सुगम हो जायगा। सर्वथा धर्मरहित जगत्की कल्पना ही विचारवान् पुरुषके हृदयको हिला देती है!

अतएव अभीसे धर्मभीरु जनताको सावधानीके साथ धर्मकी रक्षाके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये। धार्मिक साहित्यका प्रचार, धर्मके निर्मल भावोंका विस्तार, धर्मके सूक्ष्म तत्त्वोंका अन्वेषण और प्रसार करनेके लिये प्रस्तुत हो जाना चाहिये। साथ ही धर्मका वास्तविक आचरण करके ऐसा चरित्रगत धर्मबल संग्रह करना चाहिये जिससे धर्मविरोधी हलचलमें ठोस बाधा पहुँचायी जा सके। सनातन-धर्म किसी दूसरे धर्मका विरोध नहीं करता। महाभारतमें कहा है—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्मकः।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥

हे सत्यविक्रम ! जो धर्म दूसरे धर्मका विरोध करता है वह तो कुधर्म है । जो दूसरेका विरोध नहीं करता, वही यथार्थ धर्म है । पता नहीं, ऐसे सार्वभौम धर्मके त्यागका प्रश्न ही कैसे उठता है ? मनु महाराजके ये वाक्य स्मरण रखने चाहिये कि—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥२३९॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥२४१॥
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥२४२॥

(मनुस्मृति अ० ४)

परलोकमें सहायताके लिये माता, पिता, पुत्र, स्त्री और सम्बन्धी नहीं रहते । वहाँ एक धर्म ही काम आता है । मरे हुए शरीरको बन्धु-बान्धव काठ और मिट्टीके ढेलेके समान पृथिवीपर पटककर घर चले आते हैं, एक धर्म ही उसके पीछे जाता है । अतएव परलोकमें सहायताके लिये नित्य शनैः-शनैः धर्मका सञ्चय करना चाहिये । धर्मकी सहायतासे मनुष्य दुस्तर नरकसे भी तर जाता है ।

शीघ्र कल्याण कैसे हो ?

लोग परमात्म-प्राप्तिके साधनमें जो समय लगाते हैं, उसके सदुपयोग और सुधारकी अत्यधिक आवश्यकता है। साधनके लिये जैसी चेष्टा होनी चाहिये वैसी वस्तुतः होती नहीं। दो-चार साधकोंके विषयमें तो मैं कह नहीं सकता, पर अधिकांश साधक विशेष लाभ उठाते नहीं दीखते। यद्यपि उन्हें लाभ होता है, पर वह बहुत ही साधारण है, अतः समयके महत्वको समझते हुए भविष्यमें ऐसी चेष्टा करनी चाहिये, जिससे जीवनके शेष भागका अधिकाधिक सदुपयोग होकर परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र-से-शीघ्र हो सके। मृत्यु निकट आ रही है। हमें अचानक यहाँसे

चले जाना होगा । जबतक मृत्यु दूर है और शरीर स्वस्थ है तबतक आत्माके कल्याणार्थ प्रत्येक प्रकारसे तत्पर हो जाना चाहिये ।

मनुष्य-जन्म ही जीवात्माके कल्याणका एकमात्र साधन है। देवयोनि भी यद्यपि पवित्र है, पर उसमें भोगोंकी अधिकताके कारण साधन बनना कठिन है । इसीलिये देवगण भी यह इच्छा रखते हैं कि हमारा जन्म मनुष्यलोकमें हो, जिससे हम भी अपना श्रेय-साधन कर सकें । ऐसे सुर-दुर्लभ मनुष्य-जन्मको पाकर भी जो लोग ताश-चौपड़ खेलते, गाँजा-भाँग आदि नशा करते और व्यर्थका बकवाद तथा लोक-निन्दा करते रहते हैं वे अपना अमूल्य समय ही व्यर्थ नहीं बिताते, बल्कि मरकर तिर्यक्‌योनि अथवा इससे भी नीच-गतिको प्राप्त होते हैं । परन्तु बुद्धिमान् पुरुष, जो जीवनकी अमूल्य घड़ियोंका महत्व समझकर साधनमें तत्पर हो जाते हैं, बहुत शीघ्र अपना कल्याण कर सकते हैं । अतः जिज्ञासुओंको उचित है कि वे समयके सदुपयोग और सुधारके लिये विशेषरूपसे दत्तचित्त होकर साधनको परिपक्व बनानेमें तत्पर हो जायँ ।

भगवान्‌ने हमें बुद्धि प्रदान की है । उसे सद्विचार और सत्कार्यमें लगानेकी आवश्यकता है । जो अविवेकी इस मनुष्य-शरीरको विषय-भोगादि निन्दनीय कर्मोंमें खो देते हैं, उनमें और पशुओंमें कोई अन्तर नहीं । सच पूछा जाय तो कहना पड़ेगा कि कई अंशोंमें वे उनसे भी गये-बीते हैं । हमें स्वप्नमें भी कभी इस विचारको आश्रय नहीं देना चाहिये कि हम भोग भी भोगें

और भगवान्‌को भी प्राप्त कर लें। दिन और रातको एक साथ देखना निस्सन्देह आकाश-कुसुमोंको तोड़ना है। जहाँ भोग है वहाँ भगवान् रह नहीं सकते। सन्तोंकी यह वाणी ध्रुव सत्य है—

जहाँ योग तहँ भोग नहिं, जहाँ भोग नहिं योग।
जहाँ भोग तहँ रोग है, जहाँ रोग तहँ सोग॥

भोगीसे कभी योगका साधन हो नहीं सकता। भोगका फल रोग और रोगका फल शोक है। अतः पाप-ताप और रोग-शोककी आत्यन्तिक निवृत्तिके लिये विषयोंसे मुँह मोड़कर साधन-पथपर उत्तरोत्तर अग्रसर होते रहना चाहिये। संसारमें सार वस्तु परमात्मा है। उससे भिन्न सब कुछ सर्वथा निस्सार, क्षणिक और अनित्य है। अतः मायिक पदार्थोंके संग्रह और भोगोंमें आसक्त होनेके कारण यदि इसी जन्ममें हम परमात्माकी प्राप्ति न कर सके तो निर्विवादरूपसे मानना होगा कि हमारा जीवन भार-रूप ही है।

बन्धुओ! आप मानव-कर्तव्यपर विचार तो कीजिये? भगवान् आपको उन्नतिके लिये आवाहन करते हैं। अवनत होना तो कर्तव्य-विमुखता है। भगवान् श्रीकृष्णकी उद्बोधनमयी वाणीपर ध्यान दीजिये—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
(गीता ६।५)

उद्धारका अर्थ क्या है? उन्नति। रुपये कमाना उन्नति नहीं है। सन्तान-वृद्धि भी उन्नति नहीं है। यह सब तो यहीं

धरे रहेंगे। इनका मोह त्यागकर आत्मोद्धारके अति विलक्षण मार्गपर आगे बढ़िये। समयको व्यर्थ न खोइये। जो लोग प्रमाद, आलस्य, निद्रा और भोगमें समयको बिताते हैं वे अपनेको जान-बूझकर अग्निमें झोंकते हैं। प्रमाद ही मृत्यु है। समयको व्यर्थ खोना ही प्रमाद है। बहुत-से भाई साधनके लिये समय निकालते हैं सही, परन्तु उन्हें लाभ नहींके बराबर हो रहा है। इसका कारण यह है कि वे समयका सदुपयोग और सुधार नहीं करते। वे कभी एकान्तमें बैठकर यह नहीं सोचते कि ऋषिसेवित तपोभूमिमें जन्म, द्विज-जातिमें उत्पत्ति और भगवत्सम्बन्धी चर्चा करने-सुननेका अवसर, इन सारी अनुकूल सामग्रियोंके जुट जानेपर भी यदि सुधार न हुआ तो फिर कब होगा ? अब तो सावधानतया ऐसा प्रयत्न होना चाहिये कि जिससे थोड़े समयमें ही बहुत अधिक लाभ प्राप्त किया जा सके। आगेकी पंक्तियोंमें मैं अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो निवेदन करूँगा, उससे आपको निश्चय हो सकेगा कि स्वल्प कालमें ही अत्यधिक लाभ किस प्रकार हो सकता है।

सबसे पहले गायत्रीके जपपर ही विचार किया जाता है। मन्त्रका जोरसे उच्चारण करके जप करनेपर जो फल मिलता है उससे दशगुणा अधिक फल उपांशु अर्थात् जिह्वासे किये जानेवाले जपसे प्राप्त होता है। मानसिक जपका फल उपांशुसे दशगुणा तथा साधारण जपसे सौगुणा अधिक होता है (मनु० २। ८५)। इससे यही सिद्ध होता है कि मनुष्य सौ वर्षोंमें साधारण जपसे जो फल प्राप्त कर

सकता है, वही फल मानसिक जपद्वारा उसे एक ही वर्षमें प्राप्त हो सकता है, फिर वही भजन यदि निष्कामभाव और गुप्त रीतिसे किया जाय तो यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि सौ वर्षोंमें जो फल नहीं हो सकता वह छः मासमें ही प्राप्त हो सकता है । अश्वमेध-पर्वगत उत्तरगीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति कहा है कि 'जो पुरुष रात-दिन तत्पर होकर विज्ञान-आनन्द-घनके स्वरूपका चिन्तन करता है वह शीघ्र ही पवित्र होकर परम पदको प्राप्त हो जाता है ।' यह कौन नहीं जानता कि अटलव्रती ध्रुवजी केवल साढ़े पाँच महीनोंमें ही भगवद्दर्शनका अलभ्य लाभ उठाकर कृतकृत्य हो गये थे । मित्रो ! निश्चय रखिये कि यदि वैसी तत्परताके साथ लग जायँ तो इस समय हम मनुष्य-जन्मका परम लाभ केवल पाँच ही दिनोंमें प्राप्त कर सकते हैं । पर शोक ! भगवान्का चिन्तन कौन करते हैं ? चिन्तन तो करते हैं विषयोंका ! ऐसा करनेको तो भगवान् मिथ्याचार बतलाते हैं ।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

(गीता ३ । ६)

'जो मूढ़-बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर इन्द्रियोंके भोगोंको मनसे चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहलाता है' ।

लोग एकान्तमें ध्यानके लिये बैठते हैं तो झटसे ऊँघने लगते हैं। इस बीचमें यदि कोई श्रद्धेय पुरुष संयोगवश वहाँ आ पहुँचे तो उठ बैठते हैं। यही तो पाखण्ड है। भगवान् इससे बड़े नाराज़ होते हैं। वे समझते हैं कि ये भक्तिके नामपर मुझे ठगते हैं। रिझाना तो ये चाहते हैं लोगोंको और नाम लेते हैं एकान्तमें साधनका ! भला, ऐसे स्वांगकी आवश्यकता ही क्या है ? साधकोंको भक्तिरूपी अमूल्य धनका संग्रह गुप्तरूपसे करना चाहिये। निष्काम और गुप्त भजन ही शीघ्रातिशीघ्र फलदायक होता है। स्त्री-पुत्रादिकी प्राप्तिके लिये भजनको बेच देना भारी भूल है। यद्यपि इससे पतन नहीं होता, पर फल अति अल्प ही होता है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १६-१७)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! उत्तम कर्मवाले अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं, उनमें भी नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित हुआ अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझको अत्यन्त प्रिय है'।

निष्काम भक्तको भगवान्‌ने अपना ही स्वरूप माना है। '*ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्*' वही सबसे श्रेष्ठ है। अतः गायत्री-मन्त्रके जपकी तरह किसी भी मन्त्र अथवा नामके जपसे यदि हमें थोड़े ही समयमें अधिक लाभ प्राप्त करना अभीष्ट हो तो उपर्युक्त शैलीसे उसमें सुधार कर लेना चाहिये। साथ ही मन्त्रका जप अर्थसहित, आदर और प्रेमपूर्वक किया जाना चाहिये। यदि अर्थ समझमें न आता हो तो भगवान्‌के ध्यानसहित जप करना चाहिये। चारों वेदोंमें गायत्रीके समान किसी भी मन्त्रका महत्व नहीं बतलाया गया है, पर लोगोंको उससे उतना लाभ नहीं होता, इसका कारण यह है कि वे अर्थके सहित, प्रेम और आदरसे उसे जपते नहीं। मनुजीने स्पष्ट कहा है कि 'जो व्यक्ति गायत्रीकी दस मालाएँ नित्य जपता है वह केवल तीन ही वर्षोंमें भारी-से-भारी पापसे छूट जाता है।' पर आजकल जापकका मन तो कहीं रहता है और मणियाँ कहीं फिरती रहती हैं—

करमें तो माला फिरे, जीभ फिरे मुख मायँ।
मनुवा तो चहुँदिसि फिरे, यह तो सुमिरण नायँ॥

संख्या तो पूरी करनी ही नहीं है। साधकको तो भगवान्‌को रिझाना है। फिर प्रेम और आदरमें कमी क्यों करनी चाहिये? उपर्युक्त विशेषणोंको लक्ष्यमें रखकर जप करनेसे एक मालासे जो लाभ होगा, वह एक हजारसे भी न हुआ और न होगा। आप आजहीसे इस प्रकार करके देखिये, थोड़े-से समयमें कितना अपरिमित लाभ होता है। डेढ़ वर्षमें आपने जो

मालाएँ जपीं, वह एक दिनसे भी कम रहेंगी। इतना होनेपर भी यदि असावधानता बनी रही तो विश्वासकी कमी ही समझनी चाहिये।

अब गीताके सम्बन्धमें विचार किया जाता है। एक भाई गीताका आद्योपान्त पाठ करता है, पर उसका अर्थ और भाव कुछ भी नहीं समझता। पाठके समय उसका मन भी संसारमें चला जाता है। सङ्कल्पोंकी अधिकताके कारण उसे यह भी ज्ञान नहीं कि मैं किस अध्याय एवं किस श्लोकका पाठ कर रहा हूँ। उसके लिये यह कार्य एक प्रकारसे बेगार-सा है। पर बेगार है भगवान्‌की, इसलिये वह व्यर्थ नहीं जा सकती। दूसरा भाई प्रत्येक श्लोकका अर्थ समझकर प्रेमपूर्वक पाठ करता है। तत्त्व और रहस्यको समझकर पाठ करनेसे केवल एक ही श्लोकके पाठसे जो फल मिलता है वह पूरे सात सौ श्लोकोंके साधारण पाठसे भी नहीं मिलता। एक साधक पूर्वापर ध्यान देकर सारी गीताका पाठ करता है, पर आचरणमें एक बात भी नहीं लाता। वह श्लोक पढ़ लेता है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(गीता १७। १४)

वह समझता है कि 'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, शुचिता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीरसम्बन्धी

तप कहलाता है', पर उसका यह केवल समझनामात्र ही है, जबतक कि वह अपने जीवनमें वैसा व्यवहार नहीं करता। दूसरा भाई, केवल एक ही श्लोकको पढ़ता है, पर उसे अक्षरशः कार्यान्वित कर देता है। ऐसी अवस्थामें कहना पड़ेगा कि आचरणमें लानेवाला साधक अर्थके जाननेवालेसे सात सौ गुणा तथा बेगारीवालेसे चार लाख नब्बे हजारसे भी अधिक गुणा लाभ उठानेवाला है। *अन्तरं महदन्तरम्* ! दिन-रातका अन्तर प्रत्यक्ष दीख रहा है। अर्थसहित पाठ करनेवाला जो लाभ दो वर्षोंमें नहीं उठा सकता, धारण करनेवाला एक ही दिनमें उससे कहीं अधिक लाभ उठा सकता है।

यों तो गीताके पाठसे लाभ है, क्योंकि भगवान् कहते हैं कि—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

(गीता १८। ७०)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा अर्थात् नित्य पाठ करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा, ऐसा मेरा मत है'।

इस प्रकार मुक्तिरूप प्रसादी तो उसे मिल ही जायगी, पर धारण करनेपर तो एक ही श्लोक मुक्तिका दाता हो सकता है। पूरी गीताका नहीं तो, कम-से-कम एक अध्यायका पाठ तो कर ही लेना चाहिये। इस प्रकार जिसने चौबीस आवृत्ति कर ली,

उसने एक वर्षमें चौबीस ज्ञानयज्ञ कर डाले । जो पढ़ना नहीं जानता, वह सुनकर भी यदि आचरण करे तो मुक्तिका अधिकारी हो सकता है । भगवान् कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

(गीता १३ । २५)

'दूसरे अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए, दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं अर्थात् उन पुरुषोंके कहनेके अनुसार ही श्रद्धासहित तत्पर हुए साधन करते हैं और वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निस्सन्देह तर जाते हैं' ।

कितने आदमी नित्य ही गीता सुनते हैं पर सुननेसे ही काम न चलेगा । आजसे ही यह सङ्कल्प कर लेना चाहिये कि प्रत्येक प्रकारसे व्यवहारमें लाकर हम अपना जीवन गीताके कथनानुसार बनानेकी चेष्टा करेंगे । उत्तम लोकोंका अधिकारी तो श्रद्धासे सुननेवाला भी हो ही जाता है । क्योंकि भगवान् कहते हैं—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥

(गीता १८ । ७१)

जो पुरुष श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित हुआ इस गीता शास्त्रका श्रवणमात्र भी करेगा वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होवेगा अतएव कम-से-कम प्रत्येक

मनुष्यको गीताके श्रवणके द्वारा यमराजका द्वार तो बन्द कर ही देना चाहिये।

अब सन्ध्योपासनके विषयमें कुछ लिखा जाता है। श्रद्धा, प्रेम और सत्कारपूर्वक की हुई सन्ध्योपासनासे सब पापोंका नाश होकर आत्माका कल्याण हो सकता है। सब द्विजातियोंको प्रातः, मध्याह्न और सायङ्कालकी सन्ध्या श्रद्धा, प्रेम और सत्कारपूर्वक करनी चाहिये। तीन कालकी न कर सकें तो प्रातः-सायं-सन्ध्या तो अवश्यमेव करनी चाहिये। द्विज होकर जो सन्ध्या नहीं करता, वह प्रायश्चित्तका भागी और शूद्रके समान समझा जाता है। द्विजोंको सन्ध्याका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। रात्रिके अन्त और दिनके आरम्भमें जो ईश्वरोपासना की जाती है वह प्रातःसन्ध्या और दिनके अन्त तथा रात्रिके आरम्भमें जो सन्ध्या की जाती है वह सायं-सन्ध्योपासना कहलाती है। विधिपूर्वक ठीक समयपर करना ही सत्कारपूर्वक करना है। जैसे समयपर बोया हुआ बीज ही लाभप्रद होता है, उसी प्रकार ठीक समयपर की हुई सन्ध्योपासना ही उत्तम फल देनेवाली होती है। असमयमें खेतमें बोया हुआ अनाज प्रथम तो उगता नहीं और यदि उग आया तो विशेष फलदायक नहीं होता, अतः हमें ठीक समयपर विधिसहित सन्ध्या करनेके लिये तत्पर होना चाहिये। प्रातःकालकी सन्ध्या तारोंके रहते करना उत्तम, तारोंके छिप जानेपर मध्यम एवं सूर्योदयके अनन्तर कनिष्ठ मानी गयी है—

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
कनिष्ठा सूर्यसहिता प्रातःसन्ध्या त्रिधा स्मृता॥

यदि यह कहा जाय कि इसमें सूर्यकी प्रधानता क्यों मानी गयी, तो इसका उत्तर यह है कि प्रकट देवताओंमें सूर्यसे बढ़कर कोई दूसरा देव नहीं है और सृष्टिके आदिमें भगवान् ही सूर्यरूपमें प्रकट होते हैं। इसलिये सूर्यकी उपासना ईश्वरकी ही उपासना है। 'समयपर सन्ध्या करनेका महत्व इतना अधिक क्यों है'—इसके उत्तरमें निवेदन है कि सूर्य सबसे बढ़कर महान् पुरुष हैं। वह जब हमारे देशमें आते हैं तो उनका सत्कार करना हमारा परम कर्तव्य है। वह सत्कार ठीक समयपर किये जानेपर ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। जैसे कोई महात्मा हमारे हितके लिये हमारे यहाँ आते हैं तो उनके सत्कारार्थ बहुत-से भाई स्टेशनपर जाते हैं। कई तो ट्रेनके पहुँचनेके पूर्व ही उनके स्वागतार्थ सब प्रकारका प्रबन्ध करके ट्रेनकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। गाड़ीसे उतरते ही बड़े प्रेमसे पुष्पमाला और प्रणाम आदिके द्वारा उनका सत्कार करते हैं। दूसरे कितने ही भाई उनके पहुँचनेके समय प्लेटफार्मपर पहलेवालोंके साथ सम्मिलित होकर स्वागतके कार्यमें योग देने लगते हैं। तीसरे कितने ही भाई उनके नियत स्थानपर पहुँच जानेके दो घण्टे बाद अभिवन्दनादिद्वारा उनका सत्कार करते हैं। इन तीनोंमें प्रथम श्रेणीवालोंका दिया हुआ आदर उत्तम, द्वितीयवालोंका मध्यम और तृतीयवालोंका कनिष्ठ समझा जाता है। इसी प्रकार प्रातःकालकी सन्ध्याके समयमें सूर्य भगवान्का किया हुआ सत्कार समझना चाहिये।

सायंकालकी सन्ध्याका भी सूर्यके रहते हुए करना उत्तम, अस्त हो जानेपर मध्यम और नक्षत्रोंके प्रकट हो जानेपर करना कनिष्ठ माना जाता है—

उत्तमा सूर्य्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा।
कनिष्ठा तारकोपेता सायंसन्ध्या त्रिधा स्मृता ॥

क्योंकि जिस प्रकार महापुरुषके आनेपर समयपर किया गया सत्कार उत्तम माना जाता है, उसी प्रकार उनके विदा होनेके समय भी ठीक समयपर किया गया सत्कार ही सर्वोत्तम माना जाता है। जैसे कोई श्रेष्ठ पुरुष हमारे हितका कार्य सम्पादन करके जब विदा होते हैं तो उस समय बहुत-से भाई उनका आदर करते हुए स्टेशनपर उनके साथ जाते हैं और बड़े सत्कारके साथ उन्हें विदा करते हैं और दूसरे बन्धुगण उनके सत्कारार्थ कुछ देरी करके स्टेशनपर जाते हैं जिससे उन्हें दर्शन नहीं हो पाते। इस कारण वे उन्हें पत्रद्वारा अपनी श्रद्धा और प्रेमका परिचय देते हैं। तीसरे भाई, यह सुनकर कि महात्माजी विदा हो गये, स्टेशनपर भी नहीं जाते और न जानेका कारण पत्रद्वारा जनाते हुए अपना प्रेम प्रकट करते हैं। इन तीनों श्रेणियोंमें प्रथमका आदर-प्रेम उत्तम, द्वितीयका मध्यम और तृतीयका कनिष्ठ माना जाता है। इसी प्रकार सूर्यास्तके पूर्व सन्ध्या करनेपर सूर्य भगवान्‌का सत्कार उत्तम, सूर्यास्तके बाद मध्यम और तारोंके प्रकट होनेपर कनिष्ठ माना जाता है।

मार्जन, आचमन और प्राणायामादिकी विधिको समझकर ही सारी क्रियाएँ प्रमाद और उपेक्षाको छोड़कर आदरपूर्वक करनी चाहिये, प्रत्येक मन्त्रके पूर्व जो विनियोग छोड़ा जाता है उसमें बतलाये हुए ऋषि, छन्द, देवता और विषयको समझते हुए मन्त्रका प्रेमपूर्वक शुद्धता और स्पष्टतासे उच्चारण करना चाहिये।

उस मन्त्र या श्लोकके प्रयोजनको भी समझ लेनेकी आवश्यकता है। जैसे—

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥

इस श्लोकको पढ़कर हम बाहर-भीतरकी पवित्रताके लिये शरीरका मार्जन करते हैं। यह विचारनेका विषय है कि मन्त्रके उच्चारणसे शरीरकी पवित्रता होती है अथवा जलके मार्जनसे। गौर करनेपर यह मालूम होगा कि मुख्य बात इन दोनोंसे ही भिन्न है। वह यह कि 'पुण्डरीकाक्ष' भगवान्‌का स्मरण करनेपर मनुष्य बाहर-भीतरसे पवित्र होता है, क्योंकि श्लोकका आशय यही है। यदि यह पूछा जाय कि फिर श्लोकके पढ़ने और मार्जन करनेकी आवश्यकता ही क्या है, तो इसका उत्तर यह है कि श्लोक-पाठका उद्देश्य तो परमात्म-स्मृतिके महत्वको बतलाना है और मार्जन पवित्रताकी ओर लक्ष्य करवाता है। इसी प्रकार सब मन्त्रों, श्लोकों और विनियोगोंके तात्पर्यको समझ-समझकर सन्ध्या करनी चाहिये। सूर्य भगवान्‌के दर्शन, ध्यान और अर्घ्यके समय ऐसा समझना चाहिये कि हम भगवान्‌का साक्षात् दर्शन और स्वागतादि कर रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक बातको खूब समझकर पद-पदपर प्रेममें मुग्ध होना चाहिये एवं मनमें इस बातका दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि प्रेम और आदरपूर्वक समयपर सूर्य भगवान्‌की उपासना करते-करते हम उनकी कृपासे अवश्य ही परम धामको प्राप्त कर सकेंगे। क्योंकि प्रेमी और श्रद्धालु उपासक-

द्वारा की हुई उपासनाकी सुनवायी अवश्य ही होगी । ईशोपनिषद्में भी लिखा है कि उपासक मरणकालमें परम धाममें जानेके लिये सूर्य भगवान्से प्रार्थना करता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वम्पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥
(मन्त्र १५)

'हे सूर्य ! सत्यरूप आपका मुख सुवर्ण-सदृश पात्रद्वारा ढका हुआ है उसको आप हटाइये, जिससे कि मुझे आप सत्य धर्मवाले ब्रह्मके दर्शन हों ।'

श्रद्धा, प्रेम और आदरपूर्वक उपासना करनेवाले उपासककी ही उपर्युक्त प्रार्थना स्वीकृत होती है ।

यह बात युक्तियुक्त भी है कि कोई भी सेवक जब अपने स्वामीकी श्रद्धा और प्रेमसे सेवा करता है तो उत्तम पुरुष उसके प्रत्युपकारार्थ अपनी शक्तिके अनुसार उसका हितसाधन करता ही है । फिर सूर्य भगवान्की श्रद्धा-भक्तिसे उपासना करनेवाले उपासकके कल्याणमें तो सन्देह ही क्या है ?

महाभारतमें प्रसिद्ध है कि महाराज युधिष्ठिरने तो अपने भक्त कुत्तेको अपने साथ स्वर्गमें ले जाना चाहा था । फिर सूर्य भगवान् हमारा कल्याण करें, इसमें तो कहना ही क्या है ?

अतः जिन्हें शीघ्र-से-शीघ्र परम शान्ति प्राप्त करनेकी इच्छा हो, उन्हें उचित है कि वे अपने समयका सदुपयोग करते हुए उपर्युक्त शैलीसे साधनमें दृढ़तापूर्वक तत्पर हो जायँ ।

सन्ध्योपासनकी आवश्यकता

अनुरोध

यज्ञोपवीत धारण करनेवाले सज्जनोंमेंसे जो सज्जन सन्ध्या बिल्कुल नहीं करते या केवल एक ही समय करते हैं, उन सबसे मेरी प्रार्थना है कि वे यदि उचित समझें तो इस अनुरोधके

उपर्युक्त अनुरोधके अनुसार प्रत्येक द्विजको दोनों समयकी सन्ध्या करनी उचित है। भगवान् सूर्यनारायणके उदय होनेसे पूर्व ही मनुष्यके लिये बिछौनेसे उठ जानेकी विधि है 'ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत'। मनु० ४। ९२ ब्राह्ममुहूर्तमें उठना चाहिये। उस समय उठनेसे शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी तरहका लाभ होता है। इसके पश्चात् यथाविधि शौच-स्नान करके सन्ध्योपासन करना चाहिये। वेदके वचन हैं—

उद्यन्तमस्तयन्तमादित्यमभिध्यायन्।
ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते॥

पढ़नेके दिनसे ही कम-से-कम प्रातः और सायं दोनों कालकी सन्ध्या और दोनों समय (कम-से-कम एक-एक माला एक सौ आठ मन्त्रोंकी) गायत्रीका जप अवश्य आरम्भ कर दें। जो भाई मेरी इस प्रार्थनापर ध्यान देकर इस कार्यका आरम्भ कर देंगे, उनका

सूर्यके उदय और अस्त समय सर्वदा सन्ध्या करनेवाला विद्वान् समस्त कल्याणको प्राप्त करता है। स्मृतिमें कहा है—

सन्ध्यामुपासते ये तु सततं शंसितव्रताः।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम्॥

जो द्विज नित्य सदाचारपरायण रहकर सन्ध्योपासन करते हैं वे पापोंसे मुक्त होकर सनातन ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं।

निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत्।
त्रिकालसन्ध्याकरणात् तत्सर्वं हि प्रणश्यति॥
(याज्ञवल्क्य स्मृति अ० ३।३०८)

रात और दिनमें अज्ञानसे जो पाप बन गये हों, वह सब त्रिकाल-सन्ध्या करनेसे नष्ट हो जाते हैं।

सन्ध्याके मन्त्र बड़े ही सुन्दर हैं। उनमें सूर्य और अग्निके रूपसे परब्रह्म परमात्माकी प्रार्थना की गयी है। भगवत्कृपासे सन्ध्या करनेवालेके पाप क्षय होकर उसके हृदयमें महान् सात्त्विक भावोंका विकास हो सकता है। इतना होनेपर भी जो लोग सन्ध्या नहीं करते वे बड़ी भूल करते हैं। कहा है—

सन्ध्या येन न विज्ञाता सन्ध्या येनानुपासिता।
जीवन्नेव भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चाभिजायते॥

जो द्विज सन्ध्या नहीं जानता है और सन्ध्या नहीं करता है वह जीता हुआ ही शूद्र हो जाता है और मरनेपर कुत्तेकी योनिको प्राप्त होता है।

मैं कृतज्ञ होऊँगा और मुझे आशा है कि उनके इस कार्यसे सनातनधर्मकी वृद्धि और परमेश्वरकी प्रसन्नता होगी तथा उन्हें अपने आत्म-कल्याणमें सहायता मिलेगी ।

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु ।
यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत् ॥
(दक्षस्मृति २ । २२)

सन्ध्याहीन द्विज नित्य ही अपवित्र है और सम्पूर्ण धर्मकार्य करनेमें अयोग्य है। वह जो कुछ अन्य कर्म करता है उसका पूरा फल उसे नहीं मिलता।

मनु महाराज कहते हैं—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः ॥
(२ । १०३)

जो द्विज प्रातःकाल और सायंकालकी सन्ध्यावन्दन नहीं करता उसे द्विज जातिके सम्पूर्ण कर्मोंमेंसे शूद्रकी तरह दूर कर देना चाहिये ।

इस सम्बन्धमें शास्त्रोंके अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं पर अधिककी आवश्यकता नहीं। द्विज महानुभावोंको चाहिये कि वे यथासमय कम-से-कम प्रातः-सायं दोनों समय सन्ध्या अवश्य करें । जिन द्विजोंके यज्ञोपवीत न हों वे यज्ञोपवीत-संस्कार करावें । जो एक समय सन्ध्या करते हों वे दोनों समय करना आरम्भ कर दें । प्रत्येक सन्ध्याके साथ प्रणवसहित गायत्रीके कम से-कम १०८ मन्त्रोंका जप अवश्य करें। प्रणव और गायत्रीकी महिमा बड़ी भारी है ।

मनु महाराज कहते हैं—

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥
(२ । ७८)

जो सज्जन अस्वस्थता, अनभ्यास या अन्य किसी कारणसे सायंकाल स्नान न कर सकें वे हाथ, पैर और मुख धोकर ही सन्ध्या और जप कर सकते हैं।

जो वेदवेत्ता विप्र प्रातःकाल और सायंकाल ओंकारका तथा भूः, भुवः और स्वः व्याहृतिपूर्वक गायत्रीका जप करता है उसे वेदाध्ययनका फल मिलता है।

योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥

(२।८२)

जो पुरुष प्रतिदिन आलस्यका त्यागकर तीन वर्षतक गायत्रीका जप करता है वह मृत्युके बाद वायुरूप होता है और उसके बाद आकाश-की तरह व्यापक होकर परब्रह्मको प्राप्त करता है।

इसलिये—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥

(२।१०१)

प्रातःकालकी सन्ध्याके समय सूर्यके दर्शन हो वहाँतक खड़े रहकर गायत्रीका जप करते रहना चाहिये और सायंकालकी सन्ध्याके समय तारागण न दीखें वहाँतक बैठे-बैठे गायत्रीजप करना चाहिये।

सन्ध्याका विधान प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व और सायंकाल सूर्यास्तके समयका है परन्तु यदि कार्यवश समय न सध सके तो कर्म तो अवश्य ही होना चाहिये। कार्यवशात् काललोप हो जाय परन्तु कर्म-लोप न हो।—सम्पादक

बलिवैश्वदेव

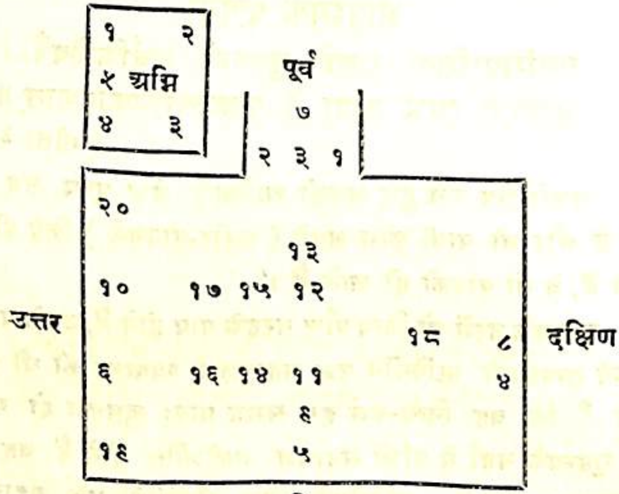
आवश्यक सूचना

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
(गीता ३ । १३)

'यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूटते हैं और जो पापी लोग अपने (शरीर-पोषणके) लिये ही अन्नको पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं ।'

गृहस्थके घरमें जो नित्य पाँच तरहके पाप होते हैं, उनके प्रायश्चित्तके लिये तत्त्वज्ञानी ऋषियोंने पञ्च महायज्ञकी व्यवस्था की थी । खेदका विषय है कि वह नित्य-कर्म इस समय प्रायः लुप्त-सा हो गया है । जिस गृहस्थके यहाँ वे पाँचों महायज्ञ भलीभाँति होते हैं वह सर्वथा धन्यवादका पात्र है । बलिवैश्वदेव इन पाँचोंमेंसे एक महायज्ञ है । इसमें संक्षेपसे पाँचों ही महायज्ञ आ जाते हैं । बलिवैश्वदेव करनेमें प्रायः तीन मिनिटका समय लगता है । इससे अन्नकी शुद्धि होती है, पापोंका प्रायश्चित्त होता है, निष्काम भावसे करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है । बलिवैश्वदेव किये बिना भोजन करना शास्त्रोंसे निन्दित है और बलिवैश्वदेव कर चुकनेपर जो अन्न बचता है वह अमृत बतलाया गया है । काम छोटा-सा है परन्तु भावना बड़ी ऊँची है । जगत्‌के समस्त प्राणियोंके निमित्त अपने भोजनमेंसे कुछ अंश देकर बाकी बचा हुआ अन्न खाना कितनी उदारता और समताका सूचक है ? देवता, ऋषि तो भावनासे तृप्त होते हैं और अतिथि आदिकी प्रत्यक्षमें तृप्ति हो जाती है । थोड़े-से आयाससे महान् फल मिलता है । इसको पढ़कर जो भाई बलिवैश्वदेव आरम्भ कर देंगे, मैं उनका कृतज्ञ होऊँगा और मुझे आशा है कि उनके इस कार्यसे सनातनधर्मकी वृद्धि और परमेश्वरकी प्रसन्नता होगी तथा उन्हें अपने आत्माके कल्याणमें सहायता मिलेगी । विधि आगे है ।

बलिवैश्वदेवविधि



(१) देवयज्ञ।*

१ ॐ ब्रह्मणे स्वाहा इदं ब्रह्मणे न मम।
२ ॐ प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये न मम।
३ ॐ गृह्याभ्यः स्वाहा इदं गृह्याभ्यो न मम।
४ ॐ कश्यपाय स्वाहा इदं कश्यपा य न मम।
५ ॐ अनुमतये स्वाहा इदमनुमतये न मम।

(२) भूतयज्ञ।†

१ ॐ धात्रे नमः इदं धात्रे न मम।
२ ॐ विधात्रे नमः इदं विधात्रे न मम।
३ ॐ वायवे नमः इदं वायवे न मम।

* यज्ञोपवीतको सव्य करके दाहिने गोड़को पृथ्वीपर रखकर पके हुए बिना लवणके अन्नकी पाँच आहुतियाँ तो नीचे लिखे हुए मन्त्रोंद्वारा क्रमसे अग्निमें छोड़ दे।

† यज्ञोपवीतको सव्य करके पके हुए अन्नके १७ ग्रास अङ्कितमण्डल-में यथायोग्य स्थानपर नीचे लिखे हुए मन्त्रोंद्वारा क्रमसे छोड़ दे।

४ ॐ वायवे नमः इदं वायवे न मम ।
५ ॐ वायवे नमः इदं वायवे न मम ।
६ ॐ वायवे नमः इदं वायवे न मम ।
७ ॐ प्राच्यै नमः इदं प्राच्यै न मम ।
८ ॐ अवाच्यै नमः इदमवाच्यै न मम ।
९ ॐ प्रतीच्यै नमः इदं प्रतीच्यै न मम ।
१० ॐ उदीच्यै नमः इदमुदीच्यै न मम ।
११ ॐ ब्रह्मणे नमः इदं ब्रह्मणे न मम ।
१२ ॐ अन्तरिक्षाय नमः इदमन्तरिक्षाय न मम ।
१३ ॐ सूर्याय नमः इदं सूर्याय न मम ।
१४ ॐ विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यो न मम ।
१५ ॐ विश्वेभ्यो भूतेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो भूतेभ्यो न मम ।
१६ ॐ उषसे नमः इदमुषसे न मम ।
१७ ॐ भूतानां पतये नमः इदं भूतानां पतये न मम ।

(३) पितृयज्ञ ।*

१८ ॐ पितृभ्यः स्वधा नमः इदं पितृभ्यः स्वधा न मम ।

निर्णेजनम् ।†

१९ ॐ यक्ष्मैतत्ते निर्णेजनं नमः इदं यक्ष्मणे न मम ।

(४) मनुष्ययज्ञः ।‡

२० ॐ हन्तते सनकादि मनुष्येभ्यो नमः इदं हन्तते सनकादि मनुष्येभ्यो न मम।

---

* यज्ञोपवीतको अपसव्य करके बायें गोड़ेको पृथ्वीपर रखकर दक्षिण-की ओर मुख करके हो सके तो साथमें तिल लेकर पका हुआ अन्न अङ्कितमण्डलमें योग्य स्थानपर नीचे लिखे हुए मन्त्रद्वारा छोड़ दे ।

† यज्ञोपवीतको सव्य करके अन्नके पात्रको धोकर वह जल अङ्कित मण्डलमें योग्य स्थानपर नीचे लिखे हुए मन्त्रद्वारा छोड़ दे ।

‡ यज्ञोपवीतको कण्ठी करके, उत्तर दिशाकी ओर मुख करके पका हुआ अन्न अङ्कितमण्डलमें योग्य स्थानपर नीचे लिखे हुए मन्त्रद्वारा छोड़ दे ।

एक निवेदन

सर्वसाधारणसे नम्रतापूर्वक निवेदन किया जाता है कि यदि उचित समझा जाय, तो प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन परमात्माके और अपनेसे बड़े जितने लोग घरमें हों, उन सबके चरणोंमें प्रणाम करे, हो सके तो बिछौनेसे उठते ही कर ले, नहीं तो स्नान-पूजादिके बाद करे। गुरु, माता, पिता, ताऊ, चाचा, बड़े भाई, ताई, काकी, भौजाई आदि, वय, पद और सम्बन्धके भेदसे सभी गुरुजन हैं।

स्त्री अपने पतिके तथा घरमें अपनेसे सब बड़ी स्त्रियोंके चरणोंमें प्रणाम करे। बड़े पुरुषोंको दूरसे प्रणाम करे, घरमें कोई बड़ा न हो तो स्त्री-पुरुष सभी परमात्माको ही प्रणाम करें।

इससे धर्मकी वृद्धि होगी, आत्मकल्याणमें बड़ी सहायता मिलेगी, परमेश्वर प्रसन्न होंगे। इस सूचनाके मिलते ही जो लोग इसके अनुसार कार्य आरम्भ कर देंगे, उनकी बड़ी कृपा होगी।*

---

* जिस देशमें गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषा करना और उनका सम्मान-अभिवादन करना एक साधारण धर्म था, उस देशके निवासियों-को गुरुजनवन्दनका महत्त्व बतलाना एक प्रकारसे उनका अपमान करना है, परन्तु दुःखके साथ कहना पड़ता है कि समय कुछ ऐसा ही आ गया है। आज पुत्र अपने पिता-माताकी चरण-वन्दना करनेमें सकुचाता है। शिष्य गुरुके सामने मस्तक झुकानेमें झिझकता है। पुत्रवधू सासके पग लगनेमें अपनी शानमें बाधा समझती है। फलस्वरूप उच्छृङ्खलता बढ़

रही है। कोई किसीकी बातका आदर करनेको तैयार नहीं। यदि भारतमें ऐसी ही दशा बढ़ती रही तो इसका आदर्श ही प्रायः नष्ट हो जायगा। ऐसे अवसरमें इस प्रकारकी सलाह देनेकी बड़ी आवश्यकता है। लोगोंको चाहिये कि वे श्रीजयदयालजीके उपर्युक्त शब्दोंपर ध्यान देकर इस सुन्दर प्रथाको तुरन्त जारी कर दें। इससे बड़े लाभकी सम्भावना है।

मनुजी महाराज भी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(२।१२१)

जो मनुष्य नित्य वृद्धोंको प्रणाम करता और उनकी सेवा करता है उसकी आयु, विद्या, यश और बल बढ़ता है।

चरणोंमें प्रणाम करनेपर स्वाभाविक ही प्रणाम करनेवालेके प्रति स्नेह बढ़ता है। कई बार तो हृदय बलात्कारसे आशीर्वाद देना चाहता है। यद्यपि आशीर्वाद न देना ही उत्तम पक्ष है। आशीर्वादकी जगह भगवन्नाम उच्चारण कर लेना चाहिये। प्रत्येक बालक, युवा, प्रौढ़, वृद्धको चाहिये कि वह अपनेसे बड़े जितने लोग घरमें हों, नित्य उनके चरणोंमें प्रणाम करे। समान उम्रकी भाभी या काकीके चरण-स्पर्श न करे, दूरसे प्रणाम कर ले। सबमें पवित्र और पूज्यभाव रक्खे। स्त्रियोंको चाहिये कि वे अपने पतिके सिवा अन्य किसी पुरुषका चरण-स्पर्श न करें, चाहे वह कोई भी हो। आजकलका समय बहुत खराब है। अन्य बड़े पुरुषोंको दूरसे प्रणाम कर ले।

कोई भी बड़ा घरमें न हो तो परमात्माके चरण-कमलोंमें तो अवश्य प्रणाम कर ले। वन्दन भी नवधाभक्तिमेंसे एक भक्ति है। भगवान्‌की किसी मूर्तिको अथवा चराचरमें व्याप्त विश्वरूप भगवान्‌को मन-ही-मन प्रणाम कर लेना चाहिये।—सम्पादक

भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय

मनुष्य-जीवनका उद्देश्य भगवान्‌को प्राप्त करना है। शास्त्रों और सन्त-महात्माओंने इसके लिये अनेकों उपाय बतलाये हैं। अपने-अपने अधिकार और रुचिके अनुसार किसी भी शास्त्रोक्त उपायको निष्कामभावसे अर्थात् सांसारिक सुख-प्राप्तिकी कामनाको छोड़कर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ काममें लानेसे यथासमय मनुष्य भगवत्‌को प्राप्त होकर अपने जन्म और जीवनको सार्थक कर सकता है। भगवान् श्रीमनु महाराजने धर्मके दश लक्षण बतलाये हैं, इन दश लक्षणोंवाले धर्मका निष्काम आचरण करनेवाला मनुष्य मायाके बन्धनसे छूटकर भगवान्‌को पा सकता है—

दश उपाय

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
(अ० ६।९२)

अर्थात्—

धृति, क्षमा, शम, शौच, दम, विद्या, धी, अक्रोध।
सत्य, अचोरी धर्म दश, देते हैं मनु बोध॥

इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार समझना चाहिये—

१ *धृति*—किसी प्रकारका भी संकट आ पड़नेपर या इच्छित वस्तुकी प्राप्ति न होनेपर धैर्यको न छोड़ना। जो धीरजको धारण किये रहता है, उसीका धर्म बचता है और वही लौकिक और पारलौकिक सफलता प्राप्त कर सकता है।

२ *क्षमा*—अपने साथ बुराई करनेवालेको दण्ड देने-दिलानेकी पूरी शक्ति रहनेपर भी उसको दण्ड देने-दिलानेकी भावनाको मनमें भी न लाकर उसके अपराधको सह लेना और उसका अपराध सदाके लिये मिट जाय, इसके लिये यथोचित चेष्टा करना, इसको क्षमा कहते हैं।

३ *दम*—साधारणतः इन्द्रिय-निग्रहको दम कहते हैं, परन्तु इस श्लोकमें इन्द्रिय-निग्रह अलग कहा गया है, इससे यहाँ 'दम' शब्दसे शमको अर्थात् मनके निग्रहको लेना चाहिये। मनको वशमें किये बिना भगवत्की प्राप्ति प्रायः असम्भव है। (गीता ६।३६) भगवान्‌ने अभ्यास और वैराग्यसे मनका वशमें होना बतलाया है। (गीता ६।३५)

४ *अस्तेय*—मन, वाणी, शरीरसे किसी प्रकारकी चोरी न करना ।

५ *शौच*—बाहर और भीतरकी शुद्धि—सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यापारसे द्रव्यकी, उसके अन्नसे आहारकी, यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी और जल, मिट्टी आदिसे की जानेवाली शरीरकी शुद्धिको बाहरकी शुद्धि कहते हैं । एवं राग-द्वेष, दम्भ-कपट तथा वैर-अभिमान आदि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि कहलाती है ।

६ *इन्द्रिय-निग्रह*—(दम) इन्द्रियोंको उनके विषय, रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शमें इच्छानुसार न जाने देकर अनिष्टकारी विषयोंसे हटाये रखना और कल्याणकारी विषयोंमें लगाना ।

७ *धी* (बुद्धि)—सात्त्विकी श्रेष्ठ बुद्धि, जो सत्संग, सत्-शास्त्रोंके अध्ययन, भगवद्भजन और आत्मविचारसे उत्पन्न होती है तथा जिससे मन परमात्मामें लगता है और यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है।

८ *विद्या*—वह अध्यात्मविद्या, जिसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है और जो मनुष्यको अविद्यासे छुड़ाकर परमात्माके परमपदको प्राप्त कराती है ।

९ *सत्य*—यथार्थ और प्रिय भाषण । अन्तःकरण और इन्द्रियोंसे जैसा निश्चय किया हो, वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहना तथा यह ध्यानमें रखना कि इससे किसी निर्दोष प्राणीका

नुकसान तो नहीं हो जायगा। सत्य वही है, जो यथार्थ हो, प्रिय हो, कपटरहित हो और किसीका अहित करनेवाला न हो।

१० *अक्रोध*—अपनी बुराई करनेवालेके प्रति भी मनमें किसी प्रकारसे क्रोधका विकार न होना। अक्रोध और क्षमामें यही भेद है कि अक्रोधसे तो कोई क्रिया नहीं होती, जो कुछ होता है, मनुष्य सब सह लेता है, मनमें विकार पैदा नहीं होने देता, परन्तु इससे हमारी बुराई करनेवालेका अपराध क्षमा नहीं होता, उसका फल उसे न्यायकारी ईश्वरके द्वारा लोक-परलोकमें अवश्य मिलता है। क्षमामें उसका अपराध भी क्षमा हो जाता है।*

नौ उपाय

उपर्युक्त दश उपायोंको काममें न ला सकें तो, निम्नलिखित नवधाभक्तिके नौ साधनोंसे परमात्माको प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। नवधाभक्ति यह है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(भागवत स्क० ७ अ० ५। २३)

अर्थात्—

श्रवण, कीर्तन, स्मरण नित, पदसेवन भगवान।
पूजन, वन्दन, दास्य-रति, सख्य, समर्पण जान॥

---

* इन दश धर्मोंका विस्तार देखना तथा मनको वशमें करनेकी विधि जाननी हो तो गीता-प्रेससे 'मानव-धर्म' और 'मनको वशमें करनेके उपाय' नामक पुस्तकें मँगवाकर ज़रूर पढ़िये। मूल्य क्रमशः ≡) और -)। है।

१ *श्रवण*—भगवान्‌के चरित्र, लीला, महिमा, गुण, नाम तथा उनके प्रेम एवं प्रभावकी बातोंका श्रद्धापूर्वक सदा सुनना और उसीके अनुसार आचरण करनेकी चेष्टा करना, श्रवण-भक्ति है। श्रीमद्भागवतके श्रवणमात्रसे धुन्धकारी-सरीखा पापी तर गया था। राजा परीक्षित आदि इसी श्रेणीके भक्त माने जाते हैं।

२ *कीर्तन*—भगवान्‌की लीला, कीर्ति, शक्ति, महिमा, चरित्र, गुण, नाम आदिका प्रेमपूर्वक कीर्तन करना कीर्तन-भक्ति है। श्रीनारद, व्यास, वाल्मीकि, शुकदेव, चैतन्य आदि इसी श्रेणीके भक्त माने जाते हैं।

३ *स्मरण*—सदा अनन्यभावसे भगवान्‌के गुणप्रभावसहित उनके स्वरूपका चिन्तन करना और बारम्बार उनपर मुग्ध होना स्मरण-भक्ति है। श्रीप्रह्लादजी, श्रीध्रुवजी, भरतजी, भीष्मजी, गोपियाँ आदि इस श्रेणीके भक्त हैं।

४ *पादसेवन*—भगवान्‌के जिस रूपकी उपासना हो, उसीका चरण-सेवन करना या भूतमात्रमें परमात्माको समझकर सबका चरण-सेवन करना। श्रीलक्ष्मीजी, श्रीरुक्मिणीजी, श्रीभरतजी इस श्रेणीके भक्त हैं।

५ *पूजन*—अपनी रुचिके अनुसार भगवान्‌की किसी मूर्ति-विशेषका या मानसिक स्वरूपका नित्य भक्तिपूर्वक पूजन करना। मानसिक पूजनकी विधि जाननी हो तो गीता-प्रेससे प्रकाशित 'प्रेमभक्तिप्रकाश' नामक पुस्तक मँगवाकर अवश्य पढ़नी चाहिये। विश्वभरके सभी प्राणियोंको परमात्माका स्वरूप समझकर उनकी

सेवा करना भी अव्यक्त भगवान्‌की पूजा है। राजा पृथु, अम्बरीष आदि इसी श्रेणीके भक्त हैं।

६ *वन्दन*—भगवान्‌की मूर्तिको या विश्वभरको भगवान्‌की मूर्ति समझकर प्राणीमात्रको नित्य प्रणाम करना वन्दन-भक्ति है। श्रीअक्रूर आदि वन्दन-भक्त गिने जाते हैं।

७ *दास्य*—श्रीपरमात्माको ही अपना एकमात्र स्वामी और अपनेको उनका नित्य दास समझकर किसी भी प्रकारकी कामना न रखते हुए श्रद्धाभक्तिके साथ नित्य नये उत्साहसे भगवान्‌की सेवा करना और उस सेवाके सामने मोक्ष-सुखको भी तुच्छ समझना। श्रीहनूमान्‌जी, श्रीलक्ष्मणजी आदि इस श्रेणीके भक्त हैं।

८ *सख्य*—श्रीभगवान्‌को ही अपना परम हितकारी परम सखा मानकर दिल खोलकर उनसे प्रेम करना। भगवान् अपने सखा-मित्रका छोटे-से-छोटा काम बड़े हर्षके साथ करते हैं। श्रीअर्जुन, उद्धव, सुदामा, श्रीदाम आदि इस श्रेणीके भक्त हैं।

९ *आत्मनिवेदन या समर्पण*—अहंकाररहित होकर अपना सर्वस्व श्रीभगवान्‌के अर्पण कर देना। महाराजा बलि, श्रीगोपियाँ आदि इस श्रेणीके भक्त हैं।*

आठ उपाय

उपर्युक्त नौ उपायोंसे काम न लें तो महर्षि पतञ्जलि-कथित

---

* नवधाभक्तिका विशेष विस्तार देखना हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'तुलसी-दल' नामक पुस्तक मँगवाकर उसके 'भक्ति-सुधा-सागर-तरंग' नामक अध्यायको पढ़ना चाहिये।

अष्टांगयोगके आठ साधनोंको काममें लानेसे भगवत्-प्राप्ति हो सकती है। वे आठ साधन ये हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।

(योग० सा० २६)

अर्थात्—

यम नियमासन साधकर, प्राणायाम विधान।
प्रत्याहार सु-धारणा ध्यान समाधि बखान॥

१ *यम*—यम पाँच हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

(यो० सा० ३०)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

(क) मन, वाणी शरीरसे किसी प्राणीकी हिंसा न करनी, न करवानी और न समर्थन करना। लोभ, मोह या क्रोधसे किसी प्रकार किसीको किञ्चित् भी कष्ट न पहुँचाना अहिंसा कहलाती है।

(ख) जैसा कुछ देखा-सुना-समझा हो, वैसा ही पराये हितकी दृष्टि रखकर यथार्थ कहना सत्य है।

(ग) मन, वाणी, शरीरसे कभी दूसरेकी किसी भी वस्तुपर अधिकार न जमाना अस्तेय है।

(घ) आठ प्रकारके मैथुनोंका सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य है।*

---

* ब्रह्मचर्यका खुलासा गीताप्रेससे प्रकाशित 'ब्रह्मचर्य' नामक पुस्तकमें पढ़ें।

(ङ) भोग्य-वस्तुओंका सर्वथा संग्रह नहीं करना अथवा ममता-बुद्धिसे किसी भी भोग्य-वस्तुका संग्रह न करना अपरिग्रह है।

अहिंसावृत्तिका पूर्ण पालन होनेसे उसके निकट रहनेवाले हिंसक पशुओंमें भी हिंसावृत्ति नहीं रहती। (२ । ३५)

सत्यका व्रत पूरा पालन होनेपर जो कुछ भी कहा जाय वही सत्य हो जाता है, उसकी वाणी कभी व्यर्थ नहीं जाती। (२ । ३६)

अस्तेय-व्रतकी पूर्ण पालना होनेसे सारे रत्नोंपर उसका अधिकार हो जाता है।

ब्रह्मचर्यकी पूर्ण प्रतिष्ठा होनेसे वीर्य यानी शारीरिक और मानसिक महान् पराक्रमकी प्राप्ति होती है। (२ । ३८)

अपरिग्रहके पूर्ण पालनसे जन्मान्तरकी बातें जानी जा सकती हैं। (२ । ३९)

२ *नियम*–नियम भी पाँच हैं—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

(यो० सा० ३२)

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

(क) मिट्टी, जल आदिसे शरीरकी और शुद्ध व्यापार और आचरणोंसे आहार-व्यवहारकी शुद्धि, और राग-द्वेषादिके त्यागसे भीतरकी शुद्धि—यह शौच है।

(ख) भगवत्कृपासे जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसीमें सन्तुष्ट होना यह सन्तोष है।

(ग) धर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना या कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत करना अथवा शीतोष्णादि सहना तप है ।

(घ) वेद, उपनिषद्, गीता और ऋषिप्रणीत शास्त्रोंका अध्ययन, गायत्री आदि मन्त्र और भगवन्नामका जप स्वाध्याय कहलाता है ।

(ङ) भगवान्‌को सर्वस्व अर्पण करना और उन्हींके परायण हो जाना, ईश्वर-प्रणिधान है ।

बाह्य शौचके पूर्ण पालनसे अपने शरीरपर घृणा हो जाती है और दूसरेके संसर्गमें वैराग्य हो जाता है । आन्तरिक शौचसे चित्तकी शुद्धि, मनकी प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियोंपर विजय और आत्मदर्शनकी योग्यता प्राप्त हो जाती है । (२ । ४०-४१)

सन्तोषके पूर्ण धारणसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है। (२ । ४२)

तपके द्वारा अशुद्धिका नाश होकर अणिमा, लघिमा आदि शरीरकी और दूरदर्शन-श्रवण आदि इन्द्रियोंकी सिद्धि प्राप्त होती है। (२।४३)

स्वाध्यायसे अपने इष्टदेवताके दर्शन होते हैं । (२ । ४४)

ईश्वर-प्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है । (२ । ४५)

३ *आसन*—स्थिरभावसे अधिक कालतक बैठनेका नाम आसन है । सिद्धासन, पद्मासन, सुखासन आदि अनेक आसन होते हैं । आसनकी सिद्धिसे शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे पीड़ा नहीं होती ।

४ *प्राणायाम*—श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोकनेका नाम प्राणायाम है । रेचक, पूरक और कुम्भक-नामक तीन प्रकारके प्राणायाम होते हैं । प्राणायामका अभ्यास गुरुसे सीखकर करना चाहिये । प्राणायामके अभ्याससे प्रकाशका आवरण यानी ज्ञानको

ढक रखनेवाला पर्दा क्षय हो जाता है। मनकी शक्ति धारणाके योग्य हो जाती है।

५ *प्रत्याहार*—अपने-अपने विषयोंके साथ सम्बन्ध न रहनेपर इन्द्रियोंका चित्तके अनुसार हो जाना इसका नाम प्रत्याहार है। प्रत्याहारसे इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय मिल जाती है।

६ *धारणा*—एक देशमें चित्तको रोकनेका नाम धारणा है।

७ *ध्यान*—चित्तवृत्तिके ध्येय पदार्थमें तैल-धारावत् एकतान स्थिर रहनेका नाम ध्यान है।*

८ *समाधि*—ध्यानकी परिपुष्टि होनेसे ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटी मिटकर एकता हो जाती है, तब उसे समाधि कहते हैं। समाधि सबीज और निर्बीज-भेदसे दो प्रकारकी है, सबीजमें त्रिपुटीके न रहनेपर भी सूक्ष्म संस्कार रहते हैं और निर्बीजमें सूक्ष्म संस्कारोंका भी अत्यन्त निरोध हो जाता है।

सात उपाय

उपर्युक्त आठ उपायोंका आचरण न हो तो निम्नलिखित सात उपायोंके अनुसार निष्काम आचरण करनेसे भगवत्-प्राप्ति हो सकती है।

इस असार संसारमें सात वस्तु है सार।
संग, भजन, सेवा, दया, ध्यान, दैन्य, उपकार॥

---

* ध्यानके सम्बन्धमें विशेष बातें जाननी हों तो इसी पुस्तकके प्रथम भागमें देखना चाहिये।

१ *संग*—संगसे यहाँ सत्संगसे तात्पर्य है। भगवत्-प्रेमी महात्मा पुरुषों और सत्-शास्त्रोंके संगसे मनुष्यको जो लाभ होता है वह अवर्णनीय है। भगवान्‌की महत्ता सत्संगसे ही जानी जाती है। सत्संगसे ही जीवका अज्ञानान्धकार दूर होता है। गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

बिनु सत्सङ्ग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद होहिं न दृढ़ अनुराग॥
तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला इक अंग।
तुलै न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सत्संग॥

इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें सौनकादि ऋषि कहते हैं—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(१।१८।१३)

'हम एक क्षणभरके भगवत्प्रेमियोंके संगकी तुलनामें मनुष्योंके लिये स्वर्ग या मोक्षको भी तुच्छ समझते हैं तब अन्य सांसारिक वस्तुओंकी तो बात ही क्या है?' भगवान् स्वयं श्रीउद्धवसे कहते हैं—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥
(श्रीमद्भा० ११।१२।१-२)

'हे उद्धव ! सारी सांसारिक आसक्तियोंको नाश करनेवाले सत्संगके द्वारा जिस प्रकार मैं पूरी तरह वशमें होता हूँ, उस प्रकार योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, यागादि वैदिक कर्म कुएँ-बावड़ी बनाने और बाग लगाने, दान-दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेदाध्ययन, तीर्थयात्रा, नियम, यम आदि किसी भी साधनसे नहीं होता ।'

परन्तु सत्संगके लिये साधु कैसे होने चाहिये, इस बातपर भी विचार करना आवश्यक है । श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञ पुरुषोंके, बारहवें अध्यायमें भक्तोंके, चौदहवेंमें गुणातीत पुरुषोंके जो लक्षण बतलाये गये हैं, वैसे लक्षण न्यूनाधिकरूपसे जिन पुरुषोंमें घटते हों, वे ही वास्तविक सन्त पुरुष हैं । श्रीमद्भागवतमें सन्तोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीकपिलदेवजी महाराज अपनी मातासे कहते हैं—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥
मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः ॥
त एते साधवः साध्वि ! सर्वसङ्गविवर्जिताः ।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २५ । २१–२४)

'हे माता ! जो द्वन्द्वोंको सहन करते हैं, दयालु हैं, सब भूतप्राणियोंके निःस्वार्थ प्रेमी हैं, शान्त हैं, जिनके कोई भी शत्रु नहीं है, शीलता ही जिनका भूषण है, जो मुझ भगवान्‌में अनन्य और दृढ़भावसे भक्ति करते हैं, जिन्होंने मेरे लिये समस्त कर्मों और स्वजन-बान्धवोंके ममत्वको भी त्याग दिया है, जो मेरे ही आश्रित हैं, मेरी कथाको मधुर समझनेवाले हैं, नित्य मेरी ही कथा कहते-सुनते हैं, ऐसे मुझमें लगे हुए, चित्तवाले वे साधु त्रिविध तापोंसे पीड़ित नहीं होते। ऐसे वे साधु समस्त आसक्तियोंसे रहित होते हैं और वे ही आसक्तिके दोषका नाश कर सकते हैं, अतएव हे साध्वि ! उन्हींका सङ्ग करना चाहिये।

इसलिये हजार काम छोड़कर भी सदा प्रेमसे और श्रद्धासे सत्सङ्ग करना चाहिये।

२ *भजन*—गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

बारि मथे बरु होइ घृत सिकतातें बरु तेल।
बिनु हरि-भजन न भव तरहिं यह सिद्धान्त अपेल॥

बात भी ठीक है। संसारसे तरनेके लिये भगवान्‌का भजन ही मुख्य है। भजनके पीछे सारे गुण आप ही आ जाते हैं। ध्रुव, प्रह्लाद, मीरा आदि भक्तोंको भजनके ही प्रतापसे भगवान्‌ने दर्शन देकर कृतार्थ किया था।

३ *सेवा*—सेवा मनुष्यका मुख्य धर्म है। सारे संसारको भगवान्‌का स्वरूप समझकर मन, वाणी, शरीरसे अभिमान छोड़कर

सबकी निःस्वार्थ सेवा करनी चाहिये। जिसकी सेवा करनेका मौका मिले, उसका और भगवान्‌का अपने ऊपर उपकार मानना चाहिये। क्योंकि उसने हमारी सेवा स्वीकार करके और भगवान्‌ने सेवाका अवसर प्रदान करके हमारा बड़ा उपकार किया। सेवा करके किसीपर एहसान नहीं करना चाहिये तथा सेवा स्वीकार करनेवालेको कभी छोटा नहीं समझना चाहिये।

४ *दया*—दुःखी प्राणीके दुःखको देखकर हृदयका पिघल जाना और उसका दुःख दूर करनेके लिये मनमें भाव उत्पन्न होना दया कहलाता है। अहिंसा अक्रिय है और दया सक्रिय है। अहिंसामें केवल हिंसासे बचना है, परन्तु दयामें दूसरेको सुख पहुँचाना है। जिस मनुष्यके दिलमें दया नहीं, उसका हृदय पाषाणके समान है। गरीब, अनाथ, अपाहिज, रोगी, असहाय जीवोंपर दया करके जीवनको सफल करना चाहिये। चैतन्य महाप्रभुने तो तीन ही बातोंमें अपना उपदेश समाप्त किया है—

नामे रुचि, जीवे दया, वैष्णव-सेवन।
इहा छाड़ा आर नाहिं जानि सनातन॥

'हे सनातन! भगवान्‌के नाममें रुचि, जीवोंपर दया और भक्तोंका सङ्ग—इन तीनके सिवा मैं और कुछ भी नहीं जानता।'

५ *ध्यान*—ध्यान तो ईश्वर-प्राप्तिकी कुञ्जी है। ध्यान करनेकी कोशिश करनेपर अभ्यास न होनेके कारण पहले-पहले

मन ऊबता है तथा घबराता है परन्तु यदि दृढ़ निश्चयके साथ रोज-रोज नियमितरूपसे ध्यानका अभ्यास किया जाय तो मन ध्यानका अभ्यासी बन जाता है, फिर ध्यानमें जो आनन्द आता है, वैसा आनन्द अन्य किसी कार्यमें नहीं आता । इसलिये नित्य-प्रति दृढ़ निश्चयके साथ अपने इष्टदेवके ध्यानका अभ्यास अवश्य करना चाहिये । ध्यान सबसे बढ़कर उपाय है ।

६ *दैन्य*—अभिमान ही मनुष्यको गिरानेवाला है, यदि मनुष्य विनयी हो जाय, परमात्माके सामने दीन बन जाय तो दीन-बन्धु उसपर अवश्य दया करते हैं, इसलिये वक्रता और ऐंठको छोड़कर दीनता धारण करनी चाहिये ।

७ *उपकार*—भागवतमें लिखा है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनं द्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

अठारह पुराणोंमें व्यासके दो ही वचन हैं—परोपकार पुण्यका हेतु है और परपीडन पापका हेतु है । गोसाईंजी महाराज भी कहते हैं—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई । परपीड़ा सम नहिं अधमाई ॥
परहित बस जिनके मन माहीं । तिनकहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

अतएव अभिमान, स्वार्थ और कामनाको छोड़कर निरन्तर परोपकारमें रत रहना चाहिये ।

छः उपाय

उपर्युक्त सात उपायोंके अनुसार न चला जाय तो नीचे लिखे छः उपायोंका अनुसरण करना चाहिये । इन्हींके निष्काम आचरणसे भगवत्-प्राप्ति हो सकती है—

सन्ध्या, पूजा, यज्ञ, तप, दया,सु-सात्त्विक दान ।
इन छःके आचरणसे निश्चय हो कल्यान ॥

१ *सन्ध्या*—द्विजातिमात्रको नित्य त्रिकाल-सन्ध्या करनी चाहिये । त्रिकाल न हो सके तो प्रातःकाल और सायंकाल दो समय तो सन्ध्या अवश्य ही करें । सन्ध्याके द्वारा परमात्माकी—सूर्य, अग्नि और जलरूपसे उपासना होती है । मनु महाराज कहते हैं—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः ॥

(मनु० २ । १०३)

'जो द्विज प्रातःकाल और सायंकालकी सन्ध्योपासना नहीं करता, उसे द्विजजातिके सारे कार्योंसे शूद्रकी तरह दूर रखना चाहिये ।'

अतः सन्ध्योपासन कभी छोड़ना नहीं चाहिये । सूतक आदिके समय या रेल वगैरहमें मानसिक सन्ध्या कर लेना उचित है । सन्ध्या ठीक समयपर करनी चाहिये ।

सन्ध्याका समय यह है—

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका ।
कनिष्ठा सूर्यसहिता प्रातःसन्ध्या त्रिधा स्मृता ॥

उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा।
कनिष्ठा तारकोपेता सायंसन्ध्या त्रिधा स्मृता॥

'प्रातःकालकी सन्ध्या तीन प्रकारकी है, तारा रहते उत्तम, तारे अदृश हो जानेपर मध्यम और सूर्य उदय होनेपर कनिष्ठ, इसी प्रकार सायं-सन्ध्या भी तीन प्रकारकी है। सूर्य रहते उत्तम, सूर्य छिप जानेपर मध्यम और तारे उदय होनेपर कनिष्ठ।'

प्रातःकाल सूर्यदेवके रूपमें भगवान् हमारे प्रदेशमें पधारते हैं और सायंकाल दूसरे प्रदेशके लिये जाते हैं। जैसे हम अपने किसी पूज्य सम्मान्य अतिथिके हमारे घरपर आनेके समयसे पूर्व ही उसके स्वागतकी तैयारी करते हैं, स्टेशनपर पहलेहीसे पहुँचकर उसके सम्मान-सत्कारके लिये पुष्पहार आदि लेकर उसका अभिवादन करनेके लिये खड़े रहते हैं और उसके जानेके समय पहलेहीसे सारा प्रबन्धकर ठीक समयपर उसके साथ स्टेशनतक जाते हैं, इसी प्रकार सन्ध्याके द्वारा भगवान् सूर्यदेवका अभिवादन किया जाता है, जो ठीक समयपर ही होना चाहिये। सन्ध्योपासनासे सारे पाप दूर होते हैं और इसीसे अन्तमें भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। यदि हम जीवनभर नियमपूर्वक सूर्यदेवकी दोनों समय निष्कामभावसे अभ्यर्थना करेंगे तो हमारे मरनेपर सूर्यदेवको भी हमारी मुक्तिके लिये सहायता करनेको बाध्य होना पड़ेगा। शास्त्रमें कहा है—

सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संशितव्रताः।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम्॥

'जो द्विज सदाचारपरायण होकर नित्य सन्ध्योपासन करते हैं, वे सारे पापोंसे छूटकर सनातन ब्रह्मपदको पाते हैं।'

२ *पूजा*–भगवन्मूर्तिकी बाह्य या मानसिक पूजा नित्य-नियमपूर्वक सबको करनी चाहिये। स्त्रियों और बालकोंके लिये घर-घरमें भगवान्‌की मूर्ति या चित्रपट रखकर पूजाकी व्यवस्था होनी चाहिये। स्त्री-बच्चे घरमें भगवान्‌की पूजा करते रहेंगे तो उनके संस्कार अच्छे होंगे। भगवान्‌में भक्ति उत्पन्न होगी। मीराबाई, धन्ना जाट आदि भक्तगण इसी प्रकार पूजासे परम भक्त हो गये थे।

३ *यज्ञ*–श्रीमद्भगवद्गीतामें तो अनेक प्रकारके यज्ञ बतलाये हैं। जिनमें भगवान्‌ने जप-यज्ञको तो अपना स्वरूप ही बतलाया है। *'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'* (१०।२५) इसलिये भगवान्‌के नामका जप तो सभीको करना चाहिये। २१६०० श्वास मनुष्यको प्रायः रोज आते हैं, इसलिये इतने नामोंका जप तो ज़रूर कर ही लेना चाहिये। जपमें उपांशु जप सर्वोत्तम है। इसके सिवा गृहस्थके लिये पञ्चमहायज्ञकी भी बड़ी आवश्यकता है। कम-से-कम बलिवैश्वदेव तो नित्यप्रति अवश्य ही करना चाहिये। बलिवैश्व-देवकी विधि अन्यत्र प्रकाशित है।

४ *तप*–स्वधर्मके पालनमें बड़े-से-बड़ा कष्ट सहना, तप कहलाता है। तथा गीता अध्याय १७ श्लोक १४ से १९ तक शारीरिक, मानसिक, वाचिक तीन प्रकारके तपका वर्णन है, उसके अनुसार सात्त्विक तप करना चाहिये।

५ *दया*—स्मृतिकार कहते हैं—

परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा सदा।
आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्तिता॥

'घरका हो या बाहरका, मित्र हो या वैरी, किसीको भी दुःखमें देखकर सदैव ही उसको बचानेकी चेष्टा करनी दया कहलाती है।' दयालु पुरुषका हृदय दूसरेके दुःखको देखकर तत्काल द्रवित हो जाता है। कहा है—

दया धर्मका मूल है पाप-मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाँड़िये जबलगि घटमें प्रान॥

६ *दान*—दान देना मनुष्यमात्रका धर्म है। धन, विद्या, बुद्धि, अन्न, जल, वस्त्र, सत्परामर्श, जिसके पास जो कुछ हो, योग्य देश, काल, पात्र देखकर उसका दान करना चाहिये, परन्तु दान सात्त्विकभावसे होना चाहिये। जो दान देश, काल, पात्र न देखकर बिना सत्कार या तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है वह तामस है। जो मनमें कष्ट पाकर, बदला लेनेकी इच्छासे या मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा, पुत्र-प्राप्ति, रोग-निवृत्ति या स्वर्ग-सुखादिकी प्राप्तिके लिये दिया जाता है वह राजस है और जो कर्तव्य समझकर प्रत्युपकारकी कोई भी भावना न रखकर उचित देश, काल, पात्रमें दिया जाता है वह सात्त्विक दान है। सात्त्विक दान भगवत्प्राप्तिमें बहुत सहायक होता है। जिस देश और कालमें जिस वस्तुका जिन प्राणियोंके अभाव हो और अपने पास वह वस्तु हो तो उस देश, कालमें उस वस्तुके द्वारा उन प्राणियोंकी

सेवा करना ही देश, काल देखकर दान देना है। भूखे, अनाथ, दुःखी, रोगी और असमर्थ तथा आर्त भिखारी आदि तो अन्न, वस्त्र, ओषधि या जिस वस्तुका जिसके पास अभाव हो, उस वस्तुद्वारा सेवा करनेके सदैव ही योग्य पात्र हैं, दानकी महत्ता रुपयोंकी संख्यापर नहीं है वह तो दाताकी नीयतपर निर्भर है। जिस दानमें जितना ही अधिक स्वार्थ-त्याग होगा, उतना ही उसका महत्व अधिक है। इसीलिये महाभारतके अश्वमेधपर्वमें पाण्डवोंके अपार दानकी निन्दाकर नकुलने उञ्छ-वृत्तिवाले गरीब ब्राह्मणके साधारण रोटीके दानको महत्त्वपूर्ण बतलाया था। (महा० अश्व० ८०। ७) एक आदमी नामके लिये या अन्य किसी स्वार्थके वशमें होकर अपने करोड़ रुपयेमेंसे लाख रुपये दान करता है और दूसरा एक गरीब निःस्वार्थभावसे कर्तव्य समझकर अपने पेटको खाली रखकर अपनी एक ही रोटीमेंसे आधी रोटी दे देता है, इन दोनोंमें आधी रोटीके दानका महत्व अधिक है। यों तो न देनेकी अपेक्षा सकामभावसे भी अच्छे कार्यमें दान देना उत्तम ही है।

पाँच उपाय

उपर्युक्त छः उपायोंको काममें न लाया जाय तो निम्न-लिखित पाँचकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। इन पाँचोंकी कृपा-से परम सिद्धि मिल सकती है।

गायत्री, गोविन्द, गौ, गीता, गङ्गास्नान।
इन पाँचोंकी कृपासे शीघ्र मिलें भगवान॥

१ *गायत्री*—शास्त्रोंमें गायत्रीकी बड़ी ही महिमा गायी गयी है। गायत्रीका जाप शुद्ध और मौन होकर प्रणव और व्याहृति-सहित करना चाहिये। गायत्री-मन्त्रमें सच्चिदानन्दघन विश्वव्यापी ब्रह्मकी स्तुति, उनके दिव्य तेजका ध्यान और प्रार्थना है।

भगवान् मनु गायत्रीकी महिमामें लिखते हैं—

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्॥
एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥
सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥
योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥

(२। ८१, ७८–७९, ८२)

'ओंकारसहित तीन महाव्याहृति और तीन पदोंवाली गायत्रीको वेदका मुख समझना चाहिये। जो वेदज्ञ द्विज प्रातःकाल और सायंकाल प्रणव (ॐ) और व्याहृति (भूः, भुवः, स्वः) सहित इस गायत्रीका जप करते हैं, उनको सम्पूर्ण वेदके अध्ययनका फल मिलता है। जो द्विज नगरके बाहर (एकान्त स्थानमें) स्थित हो, प्रतिदिन एक मासतक एक सहस्र गायत्रीका जप करता है, वह जैसे साँप काँचुलीसे छूट जाता है इसी प्रकार महान् पापसे छूट जाता है। जो पुरुष आलस्यको छोड़कर प्रति-दिन

नियमपूर्वक तीन वर्षतक गायत्रीका जप करता है वह वायुकी तरह गतिवाला और आकाशकी भाँति निर्लेप होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है।' अतएव गायत्रीका जप प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये।

२ *गोविन्द*—भगवान् श्रीगोविन्दके अनन्य चिन्तनसे क्या नहीं होता ? भगवान् स्वयं कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९।२२)

'जो अनन्यभावसे मेरेमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य एकीभावसे मुझमें स्थितिवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।' अतएव दृढ़ निश्चय और श्रद्धा-प्रेमके साथ भगवान्का चिन्तन करना चाहिये।

३ *गौ*—हिन्दू-शास्त्रोंमें गौकी बड़ी महिमा है। गौकी सेवासे सर्व अभीष्टोंकी सिद्धि होती है। गो-मूत्र, गोमय, दूध, दही, और घृत—यह पञ्चगव्य पवित्र और पापनाशक हैं। आजकल गौ-जातिका भारतमें बड़ी ही निर्दयताके साथ ह्रास किया जा रहा है। प्रत्येक धर्मभीरु उन्नति चाहनेवाले पुरुषको तत्पर होकर यथाशक्ति गौ-जातिकी रक्षा और गौकी सेवा करनी चाहिये।

४ *गीता*—गीता तो भगवान्का हृदय है। *'गीता मे हृदयं पार्थ।'*

भगवान् व्यासदेवजी कहते हैं—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

(महा० भीष्म० अ० ४३ । १)

'स्वयं कमलनाभ भगवान्के मुख-कमलसे निकली हुई गीताका ही भलीभाँति गान करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है ?'

गीताकी महिमा कोई क्या कह सकता है ? जो मन लगाकर गीताका अध्ययन करता है, उसीको अनुभव होता है। गीतामें बहुत-से ऐसे श्लोक हैं कि जिनमेंसे किसी आधे या चौथाई श्लोकके अनुसार भी आचरण किया जाय तो भगवत्-प्राप्ति सहज ही हो सकती है। कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गौ हैं, दुहनेवाले गोपालनन्दन श्रीकृष्ण हैं, श्रेष्ठबुद्धि अर्जुन इस महान् गीतामृतरूपी दुग्धको पान करनेवाला बछड़ा है।' अतएव प्रतिदिन मन लगाकर अर्थसहित गीताका पाठ और अध्ययन अवश्य करना चाहिये।

५ *गङ्गास्नान*—श्रीगङ्गाजीकी अपार महिमा है। भक्तोंने गङ्गाजीका नाम ब्रह्मद्रव रक्खा है यानी साक्षात् ब्रह्म ही पिघलकर निराकारसे नीराकार होकर बह चला है। गङ्गाके स्नान-पानसे पापोंका नाश और मुक्तिकी प्राप्ति शास्त्रोंमें जगह-जगह बतलायी

गयी है। आज भी गङ्गातट-जैसा पवित्र स्थान और प्रायः नहीं मिलता। अच्छे-अच्छे साधु-महात्मा गङ्गा-तटपर ही निवास करते हैं। विदेशी डाक्टरोंने परीक्षा करके बतलाया है कि गङ्गाजलमें रोगनाशक शक्ति है। किसी भी रोगके बीजाणु होवें, गङ्गामें पड़कर नष्ट हो जाते हैं। वर्षों रक्खे रहनेपर भी गङ्गाजलमें कीड़े नहीं पड़ते, यह तो विख्यात बात है। जो कोई श्रद्धासे श्रीगङ्गाजीका सेवन, स्नान और जलपान करता है, वह परम गतिको पाता है, यह शास्त्रोंका सिद्धान्त है।

चार उपाय

उपर्युक्त पाँच उपाय न हों तो नीचे लिखे चार उपायोंको काममें लाना चाहिये।

संयम, सेवा, साधना, सत्पुरुषोंका संग।
ये चारों करते तुरत मोहनिशाको भंग॥

१ *संयम*—मन, वाणी, शरीरको इच्छानुसार न चलने देकर और सांसारिक विषय-भोगोंसे रोककर कल्याणमय मार्गमें लगाना ही संयम कहलाता है। मनु महाराजने तो मन, वाणी, शरीरको संयममें रखनेवालेको ही त्रिदण्डी कहा है—

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते॥
त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति॥

(१२।१०-११)

'वाग्दण्ड अर्थात् वाणीका संयम, मनोदण्ड अर्थात् मनका संयम और कायदण्ड अर्थात् शरीरका संयम, इन तीनोंको जो बुद्धिपूर्वक संयममें रखता है वही त्रिदण्डी है। जो मनुष्य समस्त प्राणियोंके प्रति मन, वाणी, शरीरको संयमित कर लेता है तथा उनको रोकनेके लिये काम, क्रोधका संयम करता है, वह मोक्षको प्राप्त करता है।'

जो पुरुष मन, इन्द्रिय और शरीरको वशमें रखकर रागद्वेषके वशमें न होकर संसारमें विचरता है वही आनन्दको प्राप्त होता है। संयमी पुरुष ही नीरोग, बलवान्, धर्मात्मा, दीर्घायु और मोक्षके योग्य होते हैं।

२ *सेवा*—गुरुजनोंकी और प्राणीमात्रकी निष्काम भावसे भगवद्-बुद्धिसे सेवा करनेवाला पद-पदपर भगवान्‌की सेवा करता हुआ अन्तमें भगवान्‌को प्राप्त करता है।

३ *साधना*—भगवत्प्राप्तिके लिये भजन, ध्यान आदि जो कुछ भी किया जाय सभी साधना है। अपने-अपने अधिकार, विश्वास, प्रकृति और रुचिके अनुसार भगवान्‌को पानेके लिये नियमित साधन अवश्य करना चाहिये।

४ *सत्पुरुषोंका संग*—भागवतमें कहा है—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥
(११।२।२९)

'प्राणियोंके लिये मनुष्यदेह अत्यन्त दुर्लभ और क्षणभङ्गुर है । इसमें भी भगवान्‌के प्रिय भक्तोंके दर्शन तो और भी दुर्लभ हैं, क्योंकि भक्त, सन्त-महात्मा एक प्रकारसे भगवान्‌के ही रूप हैं ।' गोसाईंजी महाराज तो उन्हें रामसे भी बढ़कर बतलाते हैं— *'रामतें अधिक रामकर दासा'* सन्तोंके संगसे पापोंका नाश होता है, अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, मन परमात्मामें लगता है और संशयोंका उच्छेद होकर भगवत्प्राप्ति होती है । अतएव सत्पुरुषोंके संगका आश्रय अवश्य लेना चाहिये ।

राजा रहूगणके प्रति महात्मा जडभरत कहते हैं—

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्‌गृहाद्वा ।
न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥
(श्रीमद्भा० ५ । १२ । १२)

'हे राजन् ! परमज्ञान केवल महापुरुषोंका चरणरज मस्तकपर धारण करनेसे ही मिलता है । तपसे, वेदोंसे, दानसे, यज्ञसे, गृहस्थ-धर्मके पालनसे, जल, अग्नि या सूर्यकी उपासनारूप कर्मोंसे वह किसी प्रकार भी नहीं मिलता ।' अतएव महापुरुषोंका सेवन ही मोक्षका द्वार है ।

तीन उपाय

उपर्युक्त चार साधन न करे तो निम्नलिखित तीन साधन करने चाहिये—

सत्य वचन, आधीनता, पर-तिय मातु-समान ।
इतनेपै हरि ना मिले, तो तुलसीदास जमान ॥

१ *सत्य वचन*—कहा है—

सत्य बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जिनके हियमें साँच है तिनके हियमें आप॥

सत्य भगवान्‌का स्वरूप है, जहाँ सत्य है, वहीं भगवान् हैं। सत्यवादी होनेके कारण आजतक श्रीहरिश्चन्द्रका नाम चल रहा है। सत्यवादी होनेके कारण ही जो मुँहसे निकल जाता है, वही सत्य हो जाता है। स्वार्थ, आदत, हँसी-मज़ाक या भविष्यके वचनोंमें भी किसी प्रकार झूठ नहीं बोलना चाहिये।

२ *आधीनता*—अपनेको भगवान्‌के अधीन (अनुकूल) बना देना, अपनी स्वतन्त्रता छोड़कर परमात्माका सेवक बनकर उनकी आज्ञा और संकेतके अनुसार जीवन बिताना ही आधीनता है। संसारमें भगवद्भावसे पुत्रको माता-पिताके, शिष्यको गुरुके, स्त्रीको पतिके और सेवकको स्वामीके अधीन रहकर कर्तव्यका पालन करना भी भगवान्‌के ही अधीन होना है।

भगवान्‌के अधीन होनेपर उसमें भगवान्‌के प्रायः सभी गुणों-का विकास हो जाता है। स्वामीके बलको पाकर सेवक महान् बलवान् हो जाता है। राजाके अधीन रहनेवाला मामूली सिपाही राजाके बलपर बड़े-बड़े धनियों और शक्तिशालियोंको बाँध लेता है, इसी प्रकार भगवान्‌के अधीन होकर मनुष्य भगवान्‌के बलसे

बलीयान् हो सारे पापोंपर विजय प्राप्त करके भगवान्का परम प्रेमी बन सकता है।

३ *पर-तिय मातु-समान*–स्त्रीमात्र जगत्-जननीका स्वरूप है, यह समझकर अपनी स्त्रीको छोड़कर अन्य सबके चरणोंमें हृदयसे प्रणाम करना और सबके प्रति भक्ति-श्रद्धा रखना मनुष्यके लिये कल्याणप्रद है। जो पुरुष परस्त्रीमात्रमें मातृ-बुद्धि रखता है, उसके तेज और तपकी वृद्धि होती है और वह पापोंसे बचकर भगवान्को पा सकता है।

कहा जाता है कि यह दोहा श्रीतुलसीदासजी महाराजका है और वे इसमें इस बातका जिम्मा लेते हैं कि इन तीनों साधनोंका आश्रय लेनेवाले अवश्य ही तर जायँगे।

दो उपाय

उपर्युक्त तीन साधन न साधे जायँ तो नीचे लिखे दो ही साधनोंका अनुसरण करना चाहिये—

दो बातनको भूल मत जो चाहै कल्यान।
नारायण इक मौतको दूजे श्रीभगवान॥

१ *मौतकी याद*–संसारकी प्रत्येक वस्तु नाश होनेवाली है, जो उत्पन्न हुआ है उसका नाश अवश्यम्भावी है। हमारा शरीर और हमारे सम्बन्धी तथा समस्त विषय एक दिन कालके ग्रास बन जायँगे। फिर इनसे मोह क्यों? इस नाशवान् शरीरके लिये, जो प्रतिक्षण मृत्युकी ओर बढ़ रहा है, इतना प्रपञ्च किसलिये? मनुष्यको मौत याद नहीं रहती, इसीसे उसे विषयोंमें वैराग्य नहीं होता। महाराज युधिष्ठिरने यक्षसे कहा है—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥
(महा० वन० ३१३ । ११६)

'रोज-रोज प्राणी मरकर यमलोकको जा रहे हैं, (हाथसे उनकी दाह-क्रिया करते हैं) परन्तु बचे हुए लोग सदा जीना ही चाहते हैं, इससे बढ़कर अचरज और क्या होगा ?' इसलिये 'नारायण स्वामी' मौतको याद रखनेका उपदेश देते हैं, क्योंकि हर समय मौतको याद रखनेसे नये पाप नहीं बन सकते, तथा विषयोंमें वैराग्य हो जाता है ।

२ *भगवान्‌की याद*—वैराग्यके साथ ही अभ्यास भी होना चाहिये । भगवान्‌ने अभ्यास और वैराग्य दोनोंके सम्पादनसे ही मनका निरोध बतलाया है । मृत्युको नित्य याद रखनेसे वैराग्य तो हो जायगा, परन्तु उससे आनन्द नहीं मिलेगा । जगत् शून्य और विनाशी प्रतीत होगा । इसलिये उसीके साथ भगवान्‌का चिन्तन होना चाहिये । सारे संसारमें भगवान् ही व्याप्त हो रहे हैं और जो कुछ होता है, सब उन्हींकी लीला है । वही परमानन्द और परम चेतन तथा ज्ञानस्वरूप हैं । निरन्तर उनका स्मरण करनेसे सब पापोंके नाश और मनके भगवदाकार हो जानेपर अनायास ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ।

एक ही उपाय

ये दो उपाय भी न हों तो भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे उपदिष्ट, सबका सार और महान् इस एक उपायका अवलम्बन तो सभीको करना चाहिये । यह एक ही उपाय ऐसा है जिसके उपयोग करनेसे आप ही सब कुछ सिद्ध हो जाता है । उपाय है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८।६६)

अर्थात्—

सब धर्मनको छोड़कर एक शरण मम होहि।
चिन्ता तजु, सब पापतें मुक्त करौंगो तोहि॥

'हे अर्जुन! तू सब धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।' भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(वा० रा० ६।१८।३३)

'जो एक बार भी मेरे शरण होकर यह कह देता है कि मैं तेरा हूँ, उसको मैं सर्वभूतोंसे अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

बस, भगवान्‌की सर्वतोभावेन शरणागति ही परम और सर्वोत्तम उपाय है। जो भगवान्‌के शरण हो गया वह भगवान्‌का हो गया, वह सदाके लिये निर्भय और निश्चिन्त हो गया।* अतएव सबका आश्रय छोड़कर हमारे एकमात्र परम प्रेमी सदा हित करनेवाले भगवान्‌की शरण ग्रहण करनी चाहिये।

---

* शरणागतिका विशेष तत्त्व जानना हो तो इसी पुस्तकका प्रथम भाग पढ़िये।

श्रद्धा और सत्संगकी आवश्यकता

एक सज्जनने तीन प्रश्न किये हैं, प्रश्न निम्नलिखित हैं—

१–माता, पिता, स्त्री, पुत्रकी भाँति साकार ईश्वरके प्रत्यक्ष दर्शन कैसे हो सकते हैं ?

२–ईश्वरमें तर्करहित श्रद्धा किस अभ्याससे हो सकती है ?

३–'*सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥*' ऐसी सच्ची भावना कैसे हो ?

प्रश्नोंका उत्तर

ईश्वर-विषयक ये तीनों ही प्रश्न बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार यत्किञ्चित् उत्तर लिखनेका साहस कर रहा हूँ।

(१) पहले प्रश्नका साधारण विवेचन इसी पुस्तकके प्रथम भागके पृष्ठ १५४ एवं १५९ में किया गया है। आप उसे देख सकते हैं, उसके सिवा अपनी बुद्धिके अनुसार कुछ फिर भी लिख देता हूँ।

विशुद्ध प्रेम ही ईश्वरके प्रत्यक्ष दर्शनका प्रधान उपाय है। यह प्रेम किस प्रकार होता है, इसका विवेचन करना चाहिये। सबसे प्रथम यह विश्वास होना आवश्यक है कि ईश्वर है और वह सुहृद्, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, परम दयालु, प्रेममय, आनन्ददाता, सर्वत्र साक्षात् विराजमान है। जबतक इस प्रकार-

का विश्वास नहीं होता, तबतक मनुष्य परमात्मासे मिलनेका अधिकारी ही नहीं हो सकता। पवित्र अन्तःकरण होनेपर ही मनुष्य अधिकारी हो सकता है। निष्कामभावसे किये हुए भजन, ध्यान, सेवा, सत्संग मनुष्यके हृदयको पवित्र करते हैं और पवित्र हृदय होनेसे मनुष्य अधिकारी बनता है। ईश्वरका ज्ञान भी उसके अधिकारी बननेके साथ-ही-साथ बढ़ता रहता है। इस प्रकार जब मनुष्यको ईश्वरका भलीप्रकार ज्ञान हो जाता है और जब वह ईश्वरको भलीभाँति तत्त्वसे जान लेता है, तब ईश्वरसे वह जिस रूपमें मिलना चाहता है, भगवान् उसी रूपमें उसको दर्शन देते हैं। भगवान् सर्वव्यापी परमात्मा सच्चिदानन्दरूपसे तो सर्वदा वर्तमान हैं ही, पर भगवान्के रहस्यका ज्ञाता भगवद्भक्त जिस सगुण, साकार, चेतनमय मूर्तिमें उनसे मिलनेकी इच्छा करता है, वह नटवर उसी मोहिनी मूर्तिमें अपने प्रेमी भक्तसे मिलता एवं बातें करता है। इसमें प्रधान कारण प्रेम और पूर्ण विश्वास है, जिसको विशुद्ध श्रद्धा भी कहा जाता है, इसीकी भगवान्ने गीतामें स्थान-स्थानपर प्रशंसा की है। जैसे—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६।४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
(१२ । २)

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं, अर्थात् उनको मैं अति श्रेष्ठ मानता हूँ ।'

वह सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन प्रभु सगुण साकाररूपसे किस प्रकार प्रकट होते हैं ? इस रहस्यको यथार्थतासे तो भगवान्‌का परम श्रद्धालु अनन्यप्रेमी पूर्ण भक्त ही जानता है । क्योंकि यह इतना गम्भीर और रहस्यपूर्ण विषय है कि अन्तःकरणकी पवित्रताके बिना साधारण मनुष्योंकी तो बुद्धिमें ही इसका आना सम्भव नहीं । पर जो उस परमेश्वरका नित्य निरन्तर स्मरण करते हैं, उनके लिये यह भगवान्‌का रहस्यपूर्ण तत्त्व सहज है ।

यद्यपि साधु, महात्मा और शास्त्रोंने इस तत्त्वको समझानेके लिये बहुत प्रयत्न किया है, पर करोड़ोंमें कोई एक विरला ही इस तत्त्वको समझ पाता है—

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥
(७ । ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मुझको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है।'

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥
(गीता २। २९)

'क्योंकि यह आत्मतत्त्व बड़ा गहन है, इसलिये कोई महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों देखता है और वैसे ही कोई दूसरा महापुरुष ही आश्चर्यकी ज्यों इसके तत्त्वको कहता है और दूसरा कोई ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इस आत्माको नहीं जानता।'

जिस प्रकार चुम्बक पत्थर लोहेको आकर्षित करता है, फोनोग्राफकी चूड़ी और रेडियो शब्दको आकर्षित करते हैं एवं कैमेरेका प्लेट जैसे आकारको खींचता है, उसी प्रकार उस भगवान्‌का प्रेमी भक्त अपने अनन्यप्रेमसे भगवान्‌को आकर्षित कर लेता है। कोई देश, कोई वस्तु, कोई जगह भगवान्‌से खाली नहीं, वह सर्वत्र परिपूर्णरूपसे सर्वदा अवस्थित है। प्रेमी भक्त उसको जिस मूर्तिमें, जिस रूपमें और जिस समय प्रकट करना चाहता है, वह लीला-निकेतन नटवर उस प्रेमीके अनन्यप्रेमसे आकर्षित

होकर उसी मूर्ति, उसी रूप और उसी समय साक्षात् प्रकट हो जाता है।

ये जितने प्रकारके उदाहरण ऊपर दिये गये हैं—जड-पदार्थ-विषयक होनेके कारण कोई भी उस चेतनरूप परमात्मामें पूर्ण-रूपसे नहीं घट सकते। क्योंकि परमात्माके सदृश कोई वस्तु है ही नहीं, जिसका उदाहरण देकर उस परमेश्वरके विषयको समझाया जा सके।

संसारमें सभी मनुष्य सुख चाहते हैं। सुखसे या जिससे सुख मिलनेकी आशा रहती है, उससे प्रेम करते हैं इसलिये जो मनुष्य भगवान्‌को परम सुखस्वरूप और एकमात्र सुखप्रद समझ लेता है, उससे बढ़कर या उसके समान आनन्दप्रद एवं आनन्द-स्वरूप किसी वस्तुको भी नहीं समझता तथा उसपर जिसको पूर्ण विश्वास हो जाता है, वह पुरुष ईश्वरको छोड़ और किसीसे प्रेम नहीं कर सकता। संसारमें जहाँ भी सुख और आनन्द प्रतीत होता है, वह उस आनन्दमय परमात्माके आनन्दका आभासमात्र ही है (बृ० ४।३।३२)। वह क्षणिक, अल्प और अनित्य है। परमेश्वर अनन्त, नित्य, पूर्ण, चेतन और आनन्दघन है। इसलिये उस नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके साथ किसी सांसारिक आनन्दकी तुलना नहीं की जा सकती। भजन, ध्यान, सेवा, सत्संग आदिसे पवित्र अन्तःकरण होनेके साथ-ही-साथ उपर्युक्त प्रकारके ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश मनुष्यके हृदयाकाशमें चमकने लगता है।

बतलाइये ! जो इस प्रकार उस परमानन्दके वास्तविक तत्त्वको समझ लेता है, वह कैसे इस सांसारिक तुच्छ विषयजन्य नाशवान्, अनित्य सुखमें फँस सकता है ?

इसलिये मनुष्यको परमेश्वरमें अनन्यप्रेम होनेके लिये भजन, ध्यान, सेवा, सत्संग, सदाचार आदिकी पूर्ण चेष्टा करनी चाहिये।

(२) उस परम प्यारे परमात्माकी मोहिनी मूर्तिका साक्षात् दर्शन करनेवाले एवं उसके तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले पुरुषों-द्वारा ईश्वरके गुण, प्रेम और प्रभावकी बातोंको प्रेमसे सुनने एवं समझनेसे ईश्वरमें तर्करहित विशुद्ध श्रद्धा उत्पन्न होती है। यदि ऐसे महात्माओंसे मिलना न हो तो प्रेम और श्रद्धासे उस परमेश्वर-की प्राप्तिका प्रयत्न करनेवाले साधकोंका सत्संग करना चाहिये, एवं उनसे ईश्वर-विषयक गुण, प्रेम और प्रभावकी चर्चा करनी चाहिये। ऐसा करनेसे भी भगवान्में श्रद्धा और भक्ति बढ़ती है। यदि इस प्रकारके उच्च श्रेणीके साधकका संग भी न मिले तो मनुष्यको जिनमें ईश्वरके प्रेम, प्रभाव, गुण और तत्त्वकी बातोंका वर्णन हो, एवं जो ईश्वर या महापुरुषोंद्वारा रचे हुए हों, ऐसे शास्त्रोंका विचारपूर्वक प्रेमसे अध्ययन करना चाहिये। सम्पूर्ण शास्त्रोंमें ईश्वरतत्त्वके ज्ञानके लिये भगवद्गीताके समान दूसरी पुस्तक नहीं है, महाभारतमें लिखा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

(भीष्म० ४३ । १)

गीताके अध्ययनसे ईश्वरमें पूर्ण श्रद्धा हो सकती है, यदि इन ग्रन्थोंके समझनेकी बुद्धि भी न हो तो उनको परमपिता परमात्मासे नित्यप्रति एकान्तमें सच्चे हृदयसे विनयभावपूर्वक गद्‌गद होकर प्रेमसहित विशुद्ध श्रद्धा होनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। उस दयासागरके सामने की हुई सच्चे हृदयकी प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं होती। इस अभ्याससे परमात्मामें तर्करहित पूर्ण श्रद्धा हो सकती है।

बिना श्रद्धाके ईश्वर-तत्त्वका ज्ञान हो ही नहीं सकता, वरं उत्तरोत्तर पतन ही सम्भव है। जैसे गीतामें लिखा है—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

(९। ३)

'हे परंतप! इस तत्त्वज्ञानरूप धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते हैं।'

अतः ईश्वर-तत्त्वके जाननेके लिये श्रद्धाकी परम आवश्यकता है। क्योंकि श्रद्धासे ही ईश्वरके तत्त्वका ज्ञान होकर परम शान्ति प्राप्त होती है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(४। ३९)

'जितेन्द्रिय, तत्पर हुआ, श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है। ज्ञानको प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

इसलिये ईश्वरमें अनन्य श्रद्धा होनेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

उपर्युक्त चार साधनोंमेंसे किसी एकका या अधिकका जो जितना अभ्यास करेगा, उसकी उतनी ही श्रद्धा बढ़ेगी एवं उस परमपिता परमेश्वरमें उतना ही अधिक प्रेम होगा। सभी साधनोंका पालन करनेसे शीघ्र ईश्वरमें श्रद्धा हो सकती है एवं आदर और प्रेमसे किया हुआ अभ्यास अन्तःकरणको पवित्र करके बहुत अधिक श्रद्धा बढ़ा देता है।

उपर्युक्त साधनोंका प्रेम और आदरसे जितना अधिक अभ्यास किया जाता है, उतना ही शीघ्र मनुष्यका हृदय पवित्र हो जाता है। हृदय पवित्र होनेके साथ ही परमेश्वरमें श्रद्धा बढ़ती है। श्रद्धाकी वृद्धिसे परमेश्वरमें सर्वदा दृढ़ भावना बढ़ती है, भावनाके दृढ़ होनेसे सर्वत्र ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है। उस समय वह सर्वव्यापी परमेश्वर सीयराममय देखनेवालेको सीयराममय एवं केवल राममय देखनेवालेको राममय दिखलायी पड़ने लगता है।

ईश्वर-सम्बन्धी वक्ता और श्रोता

श्री

परमात्माकी प्राप्तिके साधनोंमें सबसे पहला मूल-साधन परमात्माके प्रभावको जानना है, जबतक मनुष्य परमात्माके प्रभाव और अलौकिक गुणोंको नहीं जानता, तबतक उसे परमात्मापर विश्वास नहीं होता। परमात्माकी प्राप्ति कठिन नहीं है, कठिन है वास्तवमें परमात्मापर विश्वास होना। प्रभाव न जाननेके कारण विश्वासहीन मनुष्य ही ऐसा कह दिया करते हैं कि 'न मालूम भगवान् हैं या नहीं, और यदि हैं भी तो अपने भाग्यमें उनका मिलना कहाँ रक्खा है?' परन्तु असलमें यह समझना भूल है, परमात्मा अवश्य हैं, और वह हैं भी परम दयालु तथा पतितपावन। उनका विरद ही दीनोंको अपनाना, पतितोंको पावन करना,

आश्रितोंकी रक्षा करना और शरणागतोंको गोदमें उठाकर अभय करना है । जिस समय भक्तशिरोमणि भरतजी महाराज श्रीराम-चरण-दर्शनकी इच्छासे वन जा रहे थे, उस समय मार्गमें जब वह माता कैकेयीकी कृतियोंकी ओर देखते थे तब उनके पैर पीछे पड़ते थे, उन्हें श्रीरामके सामने जानेमें अत्यन्त सङ्कोच होता था, जब अपनी ओर निहारते तो पैर रुक जाते, सङ्कोच नहीं मिटता, परन्तु जब भगवान् श्रीरामके स्वभावकी ओर दृष्टि जाती तब उनकी परम दयालुता और स्वाभाविकी पतितपावनी करनी समझकर पैर आप ही उत्साहसे आगे पड़ते—

फेरति मनहुँ मातुकृत खोरी । चलत भक्तिबल धीरज धोरी ॥
जब समुझहिं रघुनाथ सुभाऊ । तब पथ परत उतावल पाँऊ ॥

परन्तु यह इसीलिये कि श्रीभरतजी महाराज भगवान्का प्रभाव जानते थे । इस प्रकार जो भगवान्का प्रभाव जानता है, वह आप ही भगवान्की ओर बढ़ने लगता है । परन्तु इस प्रभाव-के जाननेका उपाय क्या है ? इसका उपाय है, प्रभाव बतलानेवाले ग्रन्थरत्नोंका अध्ययन करना तथा प्रभाव जाननेवाले सत्पुरुषोंद्वारा प्रभावका रहस्य जानना । इस तरहके ग्रन्थोंका मर्म जाननेके लिये भी मर्मज्ञ सत्पुरुषोंकी सहायता आवश्यक होती है । अतएव सत्संगसे ही भगवान्का प्रभाव जाना जा सकता है, यही सिद्धान्त है ।

वास्तवमें सत्संगसे बहुत लाभ है । सत्संगका लाभ प्रत्यक्ष भी है । अन्यान्य दान, व्रत, स्नानादि साधनोंका फल कालान्तर-

में होता है, परन्तु सत्संगका फल तो हाथोंहाथ देखनेमें आता है। श्रद्धासे सत्संगमें जाकर उपदेश सुननेवाले मनुष्यपर उपदेशोंका असर तत्काल देखनेमें आता है। सुने हुए उपदेशके विरुद्ध आचरण करनेमें उसे संकोच होता है। वक्तापर श्रद्धा होनेके कारण श्रोता उसके वचनोंका बहुत कुछ अनुसरण करने लगते हैं। अवश्य ही वक्ता जिस विषयका उपदेश करता है, वह उसका अनुभवी होना चाहिये। वक्तामें यदि सामर्थ्य न हो तो उसे स्पष्ट कह देना चाहिये कि मैं इसके योग्य नहीं हूँ। यद्यपि श्रद्धालु श्रोताको असमर्थ वक्ताकी भी सदाचरणमें प्रवृत्त करनेवाली बातोंसे लाभ ही होता है। मनुष्य यदि मिट्टीकी मूर्ति बनाकर श्रद्धासे उससे उपदेश लेना चाहे तो उसे वह मूर्ति ही प्रकारान्तरसे उपदेश दे सकती है। इसमें एकलव्य भीलकी कथा प्रसिद्ध है। (महा० आदि० १३०। ३३ से ३५) फिर मनुष्यमें ऐसी शक्ति हो जाना और उसके उपदेशसे श्रोताओंका कल्याणपथमें अग्रसर होना कौन बड़ी बात है?

वक्ताको चाहिये कि वह अपने हृदयको सदा देखता रहे। कहीं मान-बड़ाईमें भूलकर अपनी स्थितिसे न गिर जाय। श्रोताओंपर उसी वक्ताके वचनोंका स्थायी असर होता है, जिसमें निम्नलिखित पाँच बातें होती हैं।

(१) वह जिस विषयका प्रतिपादन करता हो, उसमें स्वयं सन्देहरहित हो। श्रोताओंकी रुचिके अनुसार ऐसे किसी विषयका सिद्धान्तरूपसे प्रतिपादन नहीं करना चाहिये, जिसको वह स्वयं निःसन्दिग्धरूपसे वैसा ही न मानता हो।

(२) वह जो कुछ कहता हो सो सत्य होना चाहिये। किसी प्रकार भी छल, कपट या असत्यका लेश न रहना चाहिये।

(३) वक्ताका उद्देश्य केवल अपने सिद्धान्तका प्रचार करना ही हो, न कि धन-मान आदि किसी प्रकारका भी स्वार्थ-साधन करना।

(४) अपने सिद्धान्तके प्रतिपादनमें दूसरोंकी निन्दा न करता हो।

(५) जो कुछ उपदेश दे, उसका स्वयं कार्यरूपसे पालन करता हो।

इन पाँचोंमेंसे जिस बातकी जितनी कमी होती है उतना ही उस वक्ताका प्रभाव जनतापर कम पड़ता है, इसके सिवा वक्ताको यह अभिमान कभी नहीं करना चाहिये कि 'मैं तो सिर्फ परोपकारके लिये ही ऐसा करता हूँ, मेरा इसमें क्या स्वार्थ है ? मैं तो केवल दूसरोंको अच्छे मार्गपर लानेके लिये ही कष्ट सहन करता हूँ।' इस प्रकारकी धारणासे वक्ताके मनमें एक तरहका मिथ्याभिमान उत्पन्न हो जाता है, वह समझ लेता है,—मैं जब निःस्वार्थ-भावसे जनताकी सेवा करता हूँ, तब जनताको मेरा कृतज्ञ होना चाहिये और यों वह उस एहसानमन्द जनतासे सेवाके बदलेमें सेवा, धन या मानके पुरस्कारकी आशा करने लगता है। आशापूर्तिमें बाधा उपस्थित होनेपर वह क्रोधका कारण बन जाती है और अन्तमें क्रोध बढ़कर प्रतिहिंसा हिंसाके रूपमें परिणत हो जाती है। वक्ताका उपकार मानना तो उस

जनताका कर्तव्य है, जिसका वक्ताके उपदेशसे उपकार हुआ है। जबरदस्ती उपकार मनवानेका अधिकार वक्ताको नहीं है, क्योंकि वह जो कुछ करता है, सो वास्तवमें अपने ही स्वार्थके लिये करता है, भले ही उसका वह स्वार्थ कितना ही सात्त्विक और पवित्र क्यों न हो ?

बात तो असलमें यह है कि सत्-विचारोंका प्रचार करनेवाले वक्ताकी भलाई श्रोताओंसे कहीं अधिक होती है। उसे तो श्रोताओंका उलटा उपकार मानना चाहिये। आजकल बात कुछ विपरीत हो गयी है। यों तो श्रोताका वक्तापर बहुत उपकार होता है। परन्तु पाँच प्रकारके लाभ तो प्रत्यक्ष हैं—

(१) श्रोताओंके कारण ही वक्ताका समय सत्-चर्चामें व्यय होता है।

(२) श्रोताओंके सामने वक्ता अपनी वाणीसे जो कुछ परमार्थकी बातें कहता है, उनकी स्फुरणा उसके हृदयमें पहले होती है। जब उसके सदुपदेशसे श्रोताओंको लाभ पहुँचता है, तब जिस वक्ताके हृदयमें वे बातें पहले पैदा हुईं, उसको तो उससे अधिक लाभ होना स्वाभाविक ही है। फिर जितनी बातें वाणीसे कही जाती हैं, वे मानसिक भावोंकी अपेक्षा न्यून ही होती हैं, क्योंकि मनका भाव वाणीके द्वारा प्रायः पूर्णरूपसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। जितने भाव मनमें पैदा होते हैं, उनसे कम ही बातें कही जाती हैं और जितनी कही जाती हैं, उतनी सबके सब श्रोताओंके कानों और मनोंतक उसी रूपमें पूरी-पूरी

पहुँच भी नहीं पातीं। इस दृष्टिसे भी वक्ताको ही विशेष लाभ होता है।

(३) यदि वक्ता अयोग्य भी होता है तो बहुत-से प्रेमी श्रोता सज्जनोंकी 'मानसिक सद्भावना' उसमें योग्यता उत्पन्न कर देती है। बहुतसे लोग सच्चे मनसे जिसके प्रति निरन्तर 'शुभ मानसिक संकल्प' करते हों, उसका योग्य बन जाना बहुत सम्भव है।

(४) वक्ता अपने व्याख्यानमें जैसी बातें कहता है, जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है, वह उसके पल्ले बँध जाते हैं। वह बात उसमें नहीं भी होती तो अपना प्रभाव बनाये रखनेके लिये वह उन बातोंको अपनेमें उत्पन्न करनेकी चेष्टा करता है। जैसे जो वक्ता व्याख्यानमें तम्बाकू छोड़नेका उपदेश करता है वह स्वयं भी पीनेमें शर्माता है, यों उसके दोष चले जाते हैं। व्याख्यानमें अच्छी बातें कहनी ही पड़ती हैं, इससे वह धीरे-धीरे अच्छा बन जाता है। यह भी श्रोताओंके कारण ही होता है।

(५) अच्छी बातें कहनेके लिये उसे बारम्बार सद्ग्रन्थोंका अवलोकन-अध्ययन करना पड़ता है, जिससे उसका ज्ञान और अनुभव क्रमशः बहुत बढ़ जाता है।

इन सारी बातोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि वक्ताको सदैव श्रोताओंके प्रति कृतज्ञ रहना चाहिये।

श्रोताओंको चाहिये कि वक्ताकी अच्छी बातें अवश्य ही श्रद्धाके साथ सुनें और केवल सुनकर ही न रह जायँ, उन्हें कार्यरूपमें भी परिणत करें। परन्तु कम-से-कम श्रद्धा करनेके पहले अपनी बुद्धिसे यह निर्णय अवश्य कर लें कि यह मनुष्य श्रद्धाके लायक है या नहीं। जो वक्ता किसी प्रकारका व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन करना चाहता हो, धन-मानकी इच्छा रखता हो, स्त्रियोंसे एकान्तमें मिलता हो, जिसके आचरणोंमें दोष दिखायी पड़े, जिसको बात-बातमें क्रोध आता हो, जो हिंसाका उपदेश करता हो, जिसके उपदेश सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय आदि सदाचारोंके विपरीत हों, जो ईश्वरका अस्तित्व न मानता हो, उससे सदा बहुत ही सावधान रहना चाहिये।

इन दुर्गुणोंके विपरीत जो सदाचारी हों, जिनमें काम, क्रोध, लोभरूपी दोष न हों, जो व्यक्तिगत स्वार्थ-साधनकी चेष्टा न करते हों, जिनके आचरण शुद्ध और निष्काम हों, जिनके संगसे दैवी-सम्पत्तिके सद्‌गुणोंका अपनेमें विकास होता दिखायी पड़े, जो परमात्माके उदार सद्‌गुणोंके विश्वासी हों और उन्हींकी बड़े प्रेमसे, मनसे चर्चा करते हों, ऐसे सज्जनोंके संगसे परमात्माका प्रभाव जाना जाता है, प्रभावके जाननेसे परमात्मामें विश्वास होता है और दृढ़ विश्वाससे भगवान्‌की प्राप्ति होती है।

बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
रामकृपा बिनु सपनेहु, जीव न लह बिसराम॥

महात्मा किसे कहते हैं ?

महात्मा शब्दका अर्थ और प्रयोग

‘महात्मा’ शब्दका अर्थ है ‘महान् आत्मा’ यानी सबका आत्मा ही जिसका आत्मा है। इस सिद्धान्तसे ‘महात्मा’ शब्द वस्तुतः एक परमेश्वरके लिये ही शोभा देता है, क्योंकि सबके आत्मा होनेके कारण वे ही महात्मा हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

(१०।२०)

‘हे अर्जुन ! मैं सब भूतप्राणियोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ।’

परन्तु जो पुरुष भगवान्‌को तत्त्वसे जानता है अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है वह भी महात्मा ही है, अवश्य ही ऐसे महात्माओंका मिलना बहुत ही दुर्लभ है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

(७ । ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई ही मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें कोई ही पुरुष (मेरे परायण हुआ) मुझको तत्त्वसे जानता है ।'

जो भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है, उसके लिये सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा उसीका आत्मा हो जाता है । क्योंकि परमात्मा सबके आत्मा हैं और वह भक्त परमात्मामें स्थित है । इसलिये सबका आत्मा ही उसका आत्मा है । इसके सिवा '*सर्वभूतात्मभूतात्मा*' (गीता ५ । ७) यह विशेषण भी उसीके लिये आया है । वह पुरुष सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंको अपने आत्मामें और आत्माको सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें देखता है । उसके ज्ञानमें सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंके और अपने आत्मामें कोई भेद-भाव नहीं रहता ।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

(ईश० ६)

'जो समस्त भूतोंको अपने आत्मामें और समस्त भूतोंमें अपने आत्माको ही देखता है, वह फिर किसीसे घृणा नहीं करता ।'

सर्वत्र ही उसकी आत्म-दृष्टि हो जाती है, अथवा यों कहिये कि उसकी दृष्टिमें एक विज्ञानानन्दघन वासुदेवसे भिन्न और कुछ भी नहीं रहता । ऐसे ही महात्माओंकी प्रशंसामें भगवान्‌ने कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(गीता ७ । १९)

'सब कुछ वासुदेव ही है, इस प्रकार (जाननेवाला) महात्मा अति दुर्लभ है ।'

खेदकी बात है कि आजकल लोग स्वार्थवश किसी साधारण-से-साधारण मनुष्यको भी महात्मा कहने लगते हैं । 'महात्मा' या 'भगवान्' शब्दका प्रयोग वस्तुतः बहुत समझ-सोचकर किया जाना चाहिये । वास्तवमें महात्मा तो वे ही हैं जिनमें महात्माओंके लक्षण और आचरण हों । ऐसे महात्माका मिलना बहुत ही दुर्लभ है, यदि मिल भी जायँ तो उनका पहचानना तो असम्भव-सा ही है, *'महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च'* (नारदसूत्र ३९) 'महात्माका संग दुर्लभ, दुर्गम और अमोघ है ।'

साधारणतया उनकी यही पहचान सुनी जाती है कि उनका संग अमोघ होनेके कारण उनके दर्शन, भाषण और आचरणोंसे मनुष्योंपर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है । ईश्वर-स्मृति, विषयोंसे वैराग्य, सत्य, न्याय और सदाचारमें प्रीति, चित्तमें प्रसन्नता तथा शान्ति आदि सद्गुणोंका स्वाभाविक ही प्रादुर्भाव हो जाता है । इतनेपर भी बाहरी आचरणोंसे तो यथार्थ महात्माओंको पहचानना बहुत ही कठिन है, क्योंकि पाखण्डी मनुष्य भी लोगोंको ठगनेके लिये महात्माओं-जैसा स्वांग रच सकता है । इसलिये परमात्माकी पूर्ण दयासे ही महात्मा मिलते हैं और उन्हींकी दयासे उनको पहचाना भी जा सकता है ।

महात्माओंके लक्षण

सर्वत्र समदृष्टि होनेके कारण उनमें रागद्वेषका अत्यन्त अभाव हो जाता है, इसलिये उनको प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें हर्ष-शोक नहीं होता। सम्पूर्ण भूतोंमें आत्म-बुद्धि होनेके कारण अपने आत्माके सदृश ही उनका सबमें प्रेम हो जाता है, इससे अपने और दूसरोंके सुख-दुःखमें उनकी समबुद्धि हो जाती है और इसलिये वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें स्वाभाविक ही रत होते हैं। उनका अन्तःकरण अति पवित्र हो जानेके कारण उनके हृदयमें भय, शोक, उद्वेग, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोषोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। देहमें अहंकारका अभाव हो जानेसे मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाकी इच्छाकी तो उनमें गन्धमात्र भी नहीं रहती। शान्ति, सरलता, समता, सुहृदता, शीतलता, सन्तोष, उदारता और दयाके तो वे अनन्त समुद्र होते हैं। इसीलिये उनका मन सर्वदा प्रफुल्लित, प्रेम और आनन्दमें मग्न और सर्वथा शान्त रहता है।

महात्माओंके आचरण

देखनेमें उनके बहुतसे आचरण दैवी-सम्पदावाले सात्त्विक पुरुषोंके-से होते हैं, परन्तु सूक्ष्म विचार करनेपर दैवी-सम्पदावाले सात्त्विक पुरुषोंकी अपेक्षा उनकी अवस्था और उनके आचरण कहीं महत्त्वपूर्ण होते हैं। सत्यस्वरूपमें स्थित होनेके कारण उनका प्रत्येक आचरण सदाचार समझा जाता है। उनके आचरणोंमें असत्यके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। अपना व्यक्तिगत किञ्चित् भी स्वार्थ न रहनेके कारण उनके आचरणोंमें किसी

भी दोषका प्रवेश नहीं हो सकता, इसलिये उनके सम्पूर्ण आचरण दिव्य समझे जाते हैं। वे सम्पूर्ण भूतोंको अभयदान देते हुए ही विचरते हैं। वे किसीके मनमें उद्वेग करनेवाला कोई आचरण नहीं करते। सर्वत्र परमेश्वरके स्वरूपको देखते हुए स्वाभाविक ही तन, मन और धनको सम्पूर्ण भूतोंके हितमें लगाये रहते हैं। उनके द्वारा झूठ, कपट, व्यभिचार, चोरी आदि दुराचार तो हो ही नहीं सकते। यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि जो उत्तम कर्म होते हैं, उनमें भी अहंकारका अभाव होनेके कारण आसक्ति, इच्छा, अभिमान और वासना आदिका नाम-निशान भी नहीं रहता। स्वार्थका त्याग होनेके कारण उनके वचन और आचरणोंका लोगोंपर अद्भुत प्रभाव पड़ता है। उनके आचरण लोगोंके लिये अत्यन्त हितकर और प्रिय होनेसे लोग सहज ही उनका अनुकरण करते हैं। श्रीगीतामें भगवान् कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी उसीके अनुसार बर्तते हैं, वह जो कुछ प्रमाण कर देते हैं, लोग भी उसीके अनुसार बर्तते हैं।'

उनका प्रत्येक आचरण सत्य, न्याय और ज्ञानसे पूर्ण होता है, किसी समय उनका कोई आचरण बाह्यदृष्टिसे भ्रमवश लोगोंको अहितकर या क्रोधयुक्त मालूम हो सकता है किन्तु विचारपूर्वक तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर वस्तुतः उस आचरणमें भी दया और प्रेम ही भरा हुआ मिलता है और परिणाममें उससे लोगोंका परम हित ही

होता है। उनमें अहंता-ममताका अभाव होनेके कारण उनका बर्ताव सबके साथ पक्षपातरहित, प्रेममय और शुद्ध होता है। प्रिय और अप्रियमें उनकी समदृष्टि होती है। वे भक्तराज प्रह्लाद-की भाँति आपत्तिकालमें भी सत्य, धर्म और न्यायके पक्षपर ही दृढ़ रहते हैं। कोई भी स्वार्थ या भय उन्हें सत्यसे नहीं डिगा सकता।

एक समय केशिनी-नाम्नी कन्याको देखकर प्रह्लाद-पुत्र विरोचन और अङ्गिरा-पुत्र सुधन्वा उसके साथ विवाह करनेके लिये परस्पर विवाद करने लगे। कन्याने कहा कि 'तुम दोनोंमें जो श्रेष्ठ होगा, मैं उसीके साथ विवाह करूँगी।' इसपर वे दोनों ही अपनेको श्रेष्ठ बतलाने लगे। अन्तमें वे परस्पर प्राणोंकी बाजी लगाकर इस विषयमें न्याय करानेके लिये प्रह्लादजीके पास गये। प्रह्लाद-जीने पुत्रकी अपेक्षा धर्मको श्रेष्ठ समझकर यथोचित न्याय करते हुए अपने पुत्र विरोचनसे कहा कि 'सुधन्वा तुझसे श्रेष्ठ है, इसके पिता अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं और इस सुधन्वाकी माता तेरी माता-से श्रेष्ठ है, इसलिये यह सुधन्वा तेरे प्राणोंका स्वामी है।' यह न्याय सुनकर सुधन्वा मुग्ध हो गया और उसने कहा 'हे प्रह्लाद ! पुत्रप्रेमको त्यागकर तुम धर्मपर अटल रहे, इसलिये तुम्हारा यह पुत्र सौ वर्षतक जीवित रहे।'

श्रेयान् सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः श्रेयांस्तथाङ्गिराः।
माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव।
विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव॥

पुत्रस्नेहं परित्यज्य यस्त्वं धर्मे व्यवस्थितः।
अनुजानामि ते पुत्रं जीवत्वेष शतं समाः॥

(महा० सभा० ६७।८७-८८)

महात्मा पुरुषोंका मन और उनकी इन्द्रियाँ जीती हुई होनेके कारण न्यायविरुद्ध विषयोंमें तो उनकी कभी प्रवृत्ति ही नहीं होती। वस्तुतः ऐसे महात्माओंकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन वासुदेवसे भिन्न कुछ भी नहीं होनेके कारण यह सब भी लीला-मात्र ही है, तथापि लोकदृष्टिमें भी उनके मन, वाणी, शरीरसे होनेवाले आचरण परम पवित्र और लोकहितकर ही होते हैं। कामना, आसक्ति और अभिमानसे रहित होनेके कारण उनके मन और इन्द्रियोंद्वारा किया हुआ कोई भी कर्म अपवित्र या लोकहानि-कर नहीं हो सकता। इसीसे वे संसारमें प्रमाणस्वरूप माने जाते हैं।

महात्माओंकी महिमा

ऐसे महापुरुषोंकी महिमाका कौन बखान कर सकता है? श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, सन्तोंकी वाणी और आधुनिक महात्माओंके वचन इनकी महिमासे भरे हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीने तो यहाँतक कह दिया है कि भगवान्‌को प्राप्त हुए भगवान्‌के दास भगवान्‌से भी बढ़कर हैं—

मोरे मन प्रभु अस बिसवासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम-सिन्धु घन सज्जन धीरा। चन्दन-तरु हरि सन्त समीरा॥
सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर-परायण, जेहि कुल उपज बिनीत॥

ऐसे महात्मा जहाँ विचरते हैं वहाँका वायुमण्डल पवित्र हो जाता है। श्रीनारदजी कहते हैं—

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मी कर्माणि सच्छास्त्री शास्त्राणि।

(नारद भ० ६९)

'वे अपने प्रभावसे तीर्थोंको (पवित्र करके) तीर्थ बनाते हैं, कर्मोंको सुकर्म बनाते हैं और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र बना देते हैं।' वे जहाँ रहते हैं, वही स्थान तीर्थ बन जाता है या उनके रहनेसे तीर्थका तीर्थत्व स्थायी हो जाता है, वे जो कर्म करते हैं, वे ही सुकर्म बन जाते हैं, उनकी वाणी ही शास्त्र है अथवा वे जिस शास्त्रको अपनाते हैं, वही सत्-शास्त्र समझा जाता है।

शास्त्रमें कहा है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

'जिसका चित्त अपार संवित् सुखसागर परब्रह्ममें लीन है, उसके जन्मसे कुल पवित्र होता है, उसकी जननी कृतार्थ होती है और पृथ्वी पुण्यवती हो जाती है।'

धर्मराज युधिष्ठिरने भक्तराज विदुरजीसे कहा था—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(भाग० १।१३।१०)

'हे स्वामिन्! आप-सरीखे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थरूप हैं (पापियोंके द्वारा कलुषित हुए) तीर्थोंको आपलोग अपने हृदयमें

स्थित भगवान् श्रीगदाधरके प्रभावसे पुनः तीर्थत्व प्राप्त करा देते हैं।'

महात्माओंका तो कहना ही क्या है, उनकी आज्ञा पालन करनेवाले मनुष्य भी परम पदको प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् स्वयं भी कहते हैं कि जो किसी प्रकारका साधन न जानता हो वह भी महान् पुरुषोंके पास जाकर उनके कहे अनुसार चलनेसे मुक्त हो जाता है।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३।२५)

'परन्तु दूसरे इस प्रकार मुझको तत्त्वसे न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं। वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरसे निःसन्देह तर जाते हैं।'

महात्मा बननेके उपाय

इसका वास्तविक उपाय तो परमेश्वरकी अनन्य-शरण होना ही है, क्योंकि परमेश्वरकी कृपासे ही यह पद मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(१८।६२)

'हे भारत ! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी दयासे ही तू परमशान्ति और सनातन परमधामको प्राप्त होगा ।'

परन्तु इसके लिये ऋषियोंने और भी उपाय बतलाये हैं। जैसे मनु महाराजने धर्मके दश लक्षण कहे हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

(मनु० ६ । ९२)

'धृति, क्षमा, मनका निग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध ये दश धर्मके लक्षण हैं ।'

महर्षि पतञ्जलिने अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये (जो कि आत्मसाक्षात्कारके लिये अत्यन्त आवश्यक है) एवं मनको निरोध करनेके लिये बहुतसे उपाय बतलाये हैं । जैसे—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।

(१ । ३३)

'सुखियोंके प्रति मैत्री, दुःखियोंके प्रति करुणा, पुण्यात्माओं-को देखकर प्रसन्नता और पापियोंके प्रति उपेक्षाकी भावनासे चित्त स्थिर होता है ।'

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । (२ । ३०)
शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

(२ । ३२)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पाँच यम हैं और सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम हैं ।'

और भी अनेक ऋषियोंने महात्मा बननेके यानी परमात्माके पदको प्राप्त होनेके लिये सद्भाव और सदाचार आदि अनेक उपाय बतलाये हैं ।

भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें अध्यायमें श्लोक ७ से ११ तक 'ज्ञान' के नामसे और सोलहवें अध्यायमें श्लोक १-२-३ में 'दैवी-सम्पदा' के नामसे एवं सतरहवें अध्यायमें श्लोक १४-१५-१६ में 'तप' के नामसे सदाचार और सद्‌गुणोंका ही वर्णन किया है ।

यह सब होनेपर भी महर्षि पतञ्जलि, शुकदेव, भीष्म, वाल्मीकि, तुलसीदास, सूरदास यहाँतक कि स्वयं भगवान्‌ने भी शरणागतिको ही बहुत सहज और सुगम उपाय बताया है । अनन्य भक्ति, ईश्वर-प्रणिधान, अव्यभिचारिणी भक्ति और परम प्रेम आदि उसीके नाम हैं ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(गीता ८ । १४)

'हे पार्थ ! जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मुझको स्मरण करता है उस मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(वा० रा० ६। १८। ३३)

'जो एक बार भी मेरे शरण होकर 'मैं तेरा हूँ' ऐसा कह देता है, मैं उसे सर्व भूतोंसे अभय प्रदान कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

इसलिये पाठक सज्जनोंसे प्रार्थना है कि ज्ञानी, महात्मा और भक्त बननेके लिये ज्ञान और आनन्दके भण्डार सत्यस्वरूप उस परमात्माकी ही अनन्य शरण लेनी चाहिये। फिर उपर्युक्त सदाचार और सद्भाव तो अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।

भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेपर उनकी दयासे आप ही सारे विघ्नोंका नाश होकर भक्तको भगवत्-प्राप्ति हो जाती है। योगदर्शनमें कहा है—

'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च'

(१। २७-२८-२९)

'उसका वाचक प्रणव (ओंकार) है'। 'उसका जप और उसके अर्थकी भावना करनी चाहिये।' 'इससे अन्तरात्माकी प्राप्ति और विघ्नोंका अभाव भी होता है।'

भगवत्-शरणागतिके बिना इस कलिकालमें संसार-सागरसे पार होना अत्यन्त ही कठिन है।

कलियुग केवल नाम अधारा।
सुमिर-सुमिर भव उतरहि पारा॥
कलियुग सम युग आन नहिं, जो नर कर विस्वास।
गाय राम-गुन-गन विमल, भव तर बिनहिं प्रयास॥
हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

'कलियुगमें हरिका नाम, हरिका नाम, केवल हरिका नाम ही (उद्धार करता) है, इसके सिवा अन्य उपाय नहीं है, नहीं है, नहीं है।'

'क्योंकि यह अलौकिक (अति अद्भुत) त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, जो पुरुष निरन्तर मुझको ही भजते हैं, वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं यानी संसारसे तर जाते हैं।

हरि-माया-कृत दोष-गुन, बिनु हरि-भजन न जाहिं।
भजिय राम सब काम तजि, अस बिचारि मनमाहिं॥

महात्मा बननेके मार्गमें मुख्य विघ्न

ज्ञानी, महात्मा और भक्त कहलाने और बननेके लिये तो प्रायः सभी इच्छा करते हैं परन्तु उसके लिये सच्चे हृदयसे साधन करनेवाले लोग बहुत ही कम हैं। साधन करनेवालोंमें भी

परमात्माके निकट कोई ही पहुँचता है क्योंकि राहमें ऐसी बहुत-सी विपद्-जनक घाटियाँ आती हैं जिनमें फँसकर साधक गिर जाते हैं। उन घाटियोंमें 'कञ्चन' और 'कामिनी' ये दो घाटियाँ बहुत ही कठिन हैं, परन्तु इनसे भी कठिन तीसरी घाटी मान-बड़ाई और ईर्ष्याकी है। किसी कविने कहा है—

कञ्चन तजना सहज है, सहज त्रियाका नेह।
मान बड़ाई ईर्ष्या, दुर्लभ तजना येह॥

इन तीनोंमें भी सबसे कठिन है बड़ाई। इसीको कीर्ति, प्रशंसा, लोकैषणा आदि कहते हैं। शास्त्रमें जो तीन प्रकारकी तृष्णा (पुत्रैषणा, लोकैषणा और वित्तैषणा) बतायी गयी हैं, उन तीनोंमें लोकैषणा ही सबसे अधिक बलवान् है। इसी लोकैषणाके लिये मनुष्य धन, धाम, पुत्र, स्त्री और प्राणोंतकका भी त्याग करनेके लिये तैयार हो जाता है।

जिस मनुष्यने संसारमें मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाका त्याग कर दिया, वही महात्मा है और वही देवता और ऋषियोंद्वारा भी पूजनीय है। साधु और महात्मा तो बहुत लोग कहलाते हैं किन्तु उनमें मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाका त्याग करनेवाला कोई विरला ही होता है। ऐसे महात्माओंकी खोज करनेवाले भाइयोंको इस विषयका कुछ अनुभव भी होगा। हमलोग पहले-पहल जब किसी अच्छे पुरुषका नाम सुनते हैं तो उनमें श्रद्धा होती है पर उनके पास जानेपर जब हमें उनमें मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा दिखलायी देती है, तब उनपर हमारी वैसी श्रद्धा नहीं ठहरती

जैसी उनके गुण सुननेके समय हुई थी। यद्यपि अच्छे पुरुषोंमें किसी प्रकार भी दोषदृष्टि करना हमारी भूल है, परन्तु स्वभाव-दोषसे ऐसी वृत्तियाँ होती हुई प्रायः देखी जाती हैं और ऐसा होना बिल्कुल निराधार भी नहीं है। क्योंकि वास्तवमें एक ईश्वरके सिवा बड़े-से-बड़े गुणवान् पुरुषमें भी दोषोंका कुछ मिश्रण रहता ही है। जहाँ बड़ाईका दोष आया कि झूठ, कपट और दम्भ भी आ ही जाते हैं, जब झूठ, कपट और दम्भको स्थान मिल जाता है तो अन्यान्य दोषोंके आनेको तो सुगम मार्ग बन जाता है। यह कीर्तिरूपी दोष देखनेमें छोटा-सा है परन्तु यह केवल महात्माओंको छोड़कर अन्य अच्छे-से-अच्छे पुरुषोंमें भी सूक्ष्म और गुप्तरूपसे रहता है। यह साधकको साधन-पथसे गिराकर उसका मूलोच्छेदन कर डालता है।

अच्छे पुरुष बड़ाईको हानिकर समझकर विचार-दृष्टिसे उसको अपनेमें रखना नहीं चाहते और प्राप्त होनेपर उसका त्याग भी करना चाहते हैं। तो भी यह सहजमें उनका पिण्ड नहीं छोड़ती। इसका शीघ्र नाश तो तभी होता है जब कि यह हृदय-से बुरी लगने लगे और इसके प्राप्त होनेपर यथार्थमें दुःख और घृणा हो। साधकके लिये साधनमें विघ्न डालनेवाली यह मायाकी मोहिनी मूर्ति है, जैसे चुम्बक लोहेको, स्त्री कामी पुरुषको, धन लोभी पुरुषको आकर्षण करता है, यह उससे भी बढ़कर साधकको संसारसमुद्रकी ओर खींचकर उसे इसमें बरबस डुबो देती है। अतएव साधकको सबसे अधिक इस बड़ाईसे ही डरना चाहिये।

जो मनुष्य बड़ाईको जीत लेता है वह सभी विघ्नोंको जीत सकता है।

योगी पुरुषोंके ध्यानमें तो चित्तकी चञ्चलता और आलस्य ये दो ही महाशत्रुके तुल्य विघ्न करते हैं! चित्तमें वैराग्य होनेपर विषयोंमें और शरीरमें आसक्तिका नाश हो जाता है, इससे उपर्युक्त दोष तो कोई विघ्न उपस्थित नहीं कर सकते, परन्तु बड़ाई एक ऐसा महान् दोष है जो इन दोषोंके नाश होनेपर भी अन्दर छिपा रहता है। अच्छे पुरुष भी जब हम उनके सामने उनकी बड़ाई करते हैं तो उसे सुनकर विचारदृष्टिसे इसको बुरा समझते हुए भी इसकी मोहिनी शक्तिसे मोहित हुए-से उस बड़ाई करनेवालेके अधीन-से हो जाते हैं। विचार करनेपर माऌम होता है कि इस कीर्तिरूपी मोहिनी शक्तिसे मोहित न होनेवाले वीर करोड़ोंमें कोई एक ही है। कीर्तिरूपी मोहिनी शक्ति जिनको नहीं मोह सकती, वही पुरुष धन्य है, वही मायाके दासत्वसे मुक्त है, वही ईश्वरके समीप है और वही यथार्थ महात्मा है। यह बहुत ही गोपनीय रहस्यकी बात है।

जिसपर भगवान्‌की पूर्ण दया होती है, या यों कहें जो भगवान्‌की दयाके तत्त्वको समझ जाता है, वही इस कीर्तिरूपी दोषपर विजय पा सकता है। इस विघ्नसे बचनेके लिये प्रत्येक साधकको सदा सावधान रहना चाहिये।

महापुरुषोंकी महिमा

संसारमें सबसे अधिक संख्या तो सांसारिक भोगोंमें आसक्त मनुष्योंकी ही है । भगवत्-प्राप्तिके साधनमें लगे हुए अच्छे पुरुषोंकी संख्या भी कुछ अंशमें देखनेमें आती है, पर महापुरुष तो विरले ही हैं और जो हैं उनसे लोग पूरा लाभ नहीं उठा रहे हैं । इसके मुख्य कारण दो हैं—(१) अश्रद्धा और (२) पहचाननेकी योग्यताका अभाव । श्रद्धा या तो श्रद्धावान् पुरुषोंके संगसे होती है अथवा अन्तःकरण-

की शुद्धिसे। पर श्रद्धालुओंकी संख्या भी बहुत कम है और जो हैं भी, उनमें हमारी श्रद्धा नहीं है। महापुरुषोंको न पहचाननेका कारण भी अश्रद्धा ही है।

मनुष्योंकी दृष्टि स्वभावतः दोष-दर्शनकी ओर ही अधिक रहती है जिसके कारण श्रद्धा पहले तो कठिनतासे उत्पन्न होती है और होती है तो उसका स्थिर रहना बड़ा ही कठिन होता है। अच्छे पुरुषोंमें भी लोग दोष-बुद्धि कर ही लेते हैं। साक्षात् भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्ण हमारी विशेष श्रद्धाके पात्र हैं, परन्तु दोष-दृष्टिवालोंको उनके चरित्रकी आलोचना करनेपर उनमें भी दोष मिल ही जाते हैं। वाल्मीकीय रामायणमें तो श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रमें अनेक दोष और सन्देहजनक स्थल मिल ही सकते हैं पर जिन गोस्वामी तुलसीदासजीने दोषोंका बहुत कुछ परिहार करनेकी चेष्टा की है उनके 'मानस' में भी अज्ञ और अश्रद्धालु लोग दो-तीन स्थलोंपर सन्देह, तर्क और अश्रद्धा कर बैठते हैं। उनका कहना है कि रामने बालिको छिपकर बाणद्वारा मारा, शूर्पणखाके साथ मज़ाक किया और अग्नि-परीक्षामें उत्तीर्ण हो जानेपर भी निरपराधिनी सीताका परित्याग करके लोकनिन्दाको अधिक महत्व देकर न्याय और आत्मबलकी न्यूनता दिखलायी। इसके सिवा श्रीराम साधारण मनुष्योंकी भाँति सीताके लिये विलाप करने और जोर-जोरसे रोने लगे। इसी प्रकार श्रीकृष्णकी बाल-लीलामें वे चोरी, व्यभिचार और झूठ आदिके दोष लगाते हैं। उनके प्रौढ़ावस्थाके कार्योंमें भी अनेक दोषों-

की कल्पना करते रहते हैं—जैसे युधिष्ठिरको मिथ्याभाषणके लिये प्रेरित करना, युद्धक्षेत्रमें शस्त्र धारण न करनेकी प्रतिज्ञाको तोड़कर आवेश और क्रोधमें आकर उन्मत्तकी भाँति भीष्मके सम्मुख दौड़ना। इन स्थलोंपर उन्हें श्रीकृष्णमें मिथ्याभाषण, प्रतिज्ञाभंग और अनुचित व्यवहारके दोष प्रत्यक्ष दृष्टिगत होते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि दोष देखनेवालोंको तो निर्विकार अवतारोंमें भी दोष मिल ही जाते हैं। तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है? परन्तु बात तो यह है कि हम विषय-विमूढ़ जीव भगवान्‌की लीला और उनके कार्योंको क्या समझें? उनपर किसी प्रकारका कानून तो लागू है नहीं और यदि है भी तो हम उसे समझ ही कैसे सकते हैं? जब ज्ञानीकी क्रियाओंको समझनेमें ही हमारी बुद्धि जवाब दे देती है तो फिर साक्षात् मायापति ईश्वरके कार्योंको विचारने और समझनेकी हममें योग्यता ही क्या है? यदि हम स्वभाव-दोषसे उनको तर्ककी कसौटीपर कसनेका निन्दनीय प्रयास करें तो वह हमारी युक्ति और तर्कके आधारपर ही ईश्वरकी सिद्धि हुई। फिर ईश्वरमें ईश्वरत्व ही क्या रहा? ऐसी दशामें तो कोई भी व्यक्ति श्रद्धाके योग्य प्रमाणित नहीं होता—किसीपर भी श्रद्धा नहीं की जा सकती।

पर, हमें यह बात भलीभाँति समझ लेनी चाहिये कि उत्तम क्रियाशील ज्ञानीकी समस्त क्रियाओंको हम समझ नहीं सकते। अतः उनमें शङ्का करनी किसी भी प्रकारसे उचित नहीं है। यदि श्रद्धाकी कमीके कारण उनमें कोई दोष दीख भी जाय तो

विचारद्वारा मनमें समाधान करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । इतना करनेपर भी यदि सन्तोष न हो तो श्रद्धा और विनयपूर्वक उन्हें पूछकर भी सन्देह निवृत्त किया जा सकता है । महात्माओंको न पहचाननेमें प्रधान हेतु अन्तःकरणकी मलिनतासे पैदा हुई अश्रद्धा ही है । जब हम किसी महापुरुषके पास जाते हैं तो अश्रद्धाको प्रायः साथ ही लेकर जाते हैं । हम इसी बातकी परीक्षा करते फिरते हैं कि किन महात्माजीमें कितना पानी है । दुःखकी बात तो यह है कि हम एक साधारण वैद्यकी भी इतनी परीक्षा नहीं करते । वह चाहे नितान्त अज्ञ ही हो, पर फिर भी हम अपना जीवन सर्वतोभावेन उसके समर्पण कर देते हैं । यदि वह विष पिला दे तो भी हम उसे पीनेमें नहीं हिचकते । मेरे कहनेका यह अभिप्राय नहीं कि कोई ढोंगी मनुष्य महात्मा बन बैठा हो तो उसीमें अन्धे होकर श्रद्धा कर लेनी चाहिये । श्रद्धा करनेकी आवश्यकता है सच्चे महापुरुषोंमें, पर जबतक हमको ऐसे पूर्ण महात्मा न मिलें, तबतक हम जिन्हें अपनी बुद्धि-से अच्छे पुरुष समझें, उन्हींके सद्गुणोंको ग्रहण करना चाहिये । दुर्गुण तो किसीके भी नहीं लेने चाहिये । उपनिषद्में कहा है—

यान्यनवद्यानि कर्माणि । तानि सेवितव्यानि नो इतराणि । यान्यस्माकꣳ सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥ (तैत्ति० १ । ११ । २)

गुरु कहता है—'हे शिष्य ! जो शास्त्रोक्त कर्म हैं उन्हींका तुम्हें आचरण करना चाहिये, शास्त्रविरुद्धका नहीं; हममें भी जो

अच्छे कर्म हैं केवल उन्हींका तुम्हें अनुकरण करना उचित है, दूसरे (निन्दनीय) कर्मोंका नहीं ।'

पूर्ण महात्माओंके दर्शन हो जायँ तब तो कहना ही क्या है, क्योंकि उनके मुखसे जो शब्द निकलते हैं वे पूर्णतः तुले हुए होते हैं । जैसे एक व्यापारी अपनी दूकानका माल तौल-तौलकर ग्राहकोंको देता है—अन्दाजसे नहीं । इसी प्रकार महापुरुषकी वाणीका प्रत्येक शब्द उसके हृदयरूपी तराजूपर तुल-तुलकर आता है । उनके वाक्य अमूल्य होते हैं, उनकी क्रियाएँ अमूल्य होती हैं और उनका भजन अमूल्य होता है । उनके मन, वाणी और शरीरके प्रत्येक कार्य महत्वपूर्ण और तात्त्विक होते हैं । उनकी मौन—अक्रिय-अवस्थामें भी विश्व-कल्याणका उपदेश भरा रहता है । अतः उनका भाषण, स्पर्श, दर्शन, कर्म, ध्यान और यहाँतक कि उनकी छूई हुई वस्तु भी पवित्र समझी जाती है । भगवान्‌ने ऐसे ही महापुरुषोंका अनुकरण करना बतलाया है ।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

(गीता ३ । २१)

वे जो कुछ प्रमाणित कर देते हैं (स्वयं चाहे न करें और केवल कह दें कि मैं अमुक कार्यको अच्छा मानता हूँ) लोग उसी-को प्रामाणिक मानने लगते हैं । उनका उपदेश, उनको किया हुआ नमस्कार, उनके साथ किया हुआ सम्भाषण—सभी कुछ कल्याण-कारक होता है । ज्ञान-प्राप्तिद्वारा आत्मोद्धारके लिये उन पुरुषोंकी शरण ग्रहण करनी चाहिये । भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
(गीता ४ । ३४)

'हे अर्जुन ! उन तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे, भली-भाँति दण्डवत्-प्रणाम, सेवा और निष्कपट-भावसे किये हुए प्रश्नों-द्वारा उस ज्ञानको जानो, वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुम्हें उस ज्ञानका उपदेश करेंगे ।'

इस प्रकारके पुरुष यदि हमें मिल जायँ और फिर हम उन्हें पहचानकर, उनका अमोघ सङ्ग करें तथा उनकी बातोंको लोहेकी लकीर—ईश्वरकी आज्ञाके तुल्य मानकर काममें लावें तो हम अपना तो क्या, दूसरोंका भी कल्याण करनेमें समर्थ हो सकते हैं ! गङ्गाके स्नान-पानसे जिस प्रकार बाहर-भीतरकी पवित्रता होती है, उससे भी बढ़कर महात्माओंका सङ्ग पावन करनेवाला होता है । दुर्भाग्यवश यदि ऐसे सिद्ध भक्तोंकी प्राप्ति न हो अथवा होकर भी यदि हम उन्हें पहचान न सकें तो दूसरे दर्जेमें शास्त्रों और दैवी-सम्पदावाले साधकोंको आधार बनाना चाहिये । शास्त्रोंकी अधिकता और उनमें प्रतिपादित विषयोंकी गूढ़ताको न समझ सकनेके कारण केवल गीता ही हमारे लिये पर्याप्त हो सकती है, क्योंकि भगवान्ने इसमें सब शास्त्रोंका सार भर दिया है । अतः सर्वस्वका नाश होनेपर भी गीता और महात्मा पुरुषोंकी बात नहीं टालनी चाहिये । इतनी श्रद्धा हो जानेपर फिर कल्याण होनेमें देरीका कोई काम नहीं । जिस माताके गर्भसे ऐसा सुपुत्र उत्पन्न हो, वह निस्सन्देह ही पुण्यवती और सौभाग्यशालिनी है ।

पुत्रवती युवती जग सोई । रघुवर-भगत जासु सुत होई ॥
सो कुल उमा धन्य सुनु, जगत-पूज्य सुपुनीत ।
श्रीरघुवीर-परायण, जेंहि नर उपज विनीत ॥

ऐसे महापुरुष भागीरथीकी तरह स्वयं पवित्र और दूसरोंको भी पवित्र करनेवाले होते हैं । शास्त्रकारोंने तो महात्माओंकी महिमा गङ्गासे भी बढ़कर बतलायी है । इस विषयकी निम्नलिखित कथा प्रसिद्ध है—

एक बार गङ्गाने ब्रह्माजीके पास जाकर यह प्रार्थना की कि 'महाराज ! असंख्य पापियोंके दल मुझमें स्नान करके अपने अनन्त जन्मोंके पाप छोड़ जाते हैं, फिर मेरे लिये भी तो कोई ऐसा उपाय होना चाहिये कि जिससे मैं भी पापमुक्त और पवित्र बन सकूँ ।' इसके उत्तरमें ब्रह्माजी बोले—'गङ्गे ! सन्तोंके होते हुए तुझे चिन्ता ही किस बातकी है ? उनके चरण-स्पर्शमात्रसे तेरे समस्त पापोंका तत्काल विध्वंस हो जायगा ।' वास्तवमें सन्तोंकी चरण-रजमें ऐसी अद्भुत शक्ति है कि उसे मस्तकपर रखते ही मनुष्य पवित्र हो जाता है । ऐसे भगवद्भक्त पवित्रको भी पवित्र करनेवाले होते हैं । *'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि ।'* (नारद सू० ६९) वे जहाँ तप करते हैं वही भूमि तीर्थ बन जाती है । तीर्थोंका तीर्थत्व सन्तों और प्रभुके संगसे ही माना जाता है । जहाँ भगवान्‌ने वास किया अथवा महापुरुषोंने तपस्या की वही स्थान तीर्थ बन गया । कपिलायतन और भारद्वाज-आश्रमके दर्शनार्थ लोग इसीलिये जाते हैं कि वहाँ कपिल और भारद्वाजने तपस्या की थी । पञ्चवटी और

चित्रकूटकी पवित्रता भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वहाँ निवास करनेके कारण ही मान्य है। नर-नारायणकी तपोभूमि होनेके कारण ही बदरिकाश्रमके दर्शनार्थ लोग कठिन कष्ट सहकर भी जाते हैं। पुलको वानर-सेनाने बनाया था, इसीसे आज सेतुबन्ध-रामेश्वरके पाषाणखण्डोंको लोग पूज्य मानते हैं। भक्त जो क्रिया कर जाते हैं, वह लाखों वर्षोंके बाद भी पूजित होती है। नैमिषारण्यमें सन्त एकत्र होकर हरि-चर्चा किया करते थे, इसीसे वह स्थान तीर्थ माना जाता है। अवध और सरयूकी महिमाका प्रधान कारण श्रीरामावतार ही है। मथुरा, गोकुल और वृन्दावन आदि तीर्थ श्रीकृष्णावतारके कारण ही इतने अधिक मान्य और पूजित हैं। संसारमें जितने भी तीर्थ और देवस्थान हैं उन सबकी महिमाके प्रधान कारण भगवान् और उनके भक्त ही हैं। परमपावनी भागीरथी प्रभु-चरणोंके प्रभावसे ही सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं—

स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।

(गीता १०।३१)

कहीं-कहीं तो भक्तोंकी महिमा भगवान्‌से भी बढ़कर बतलायी गयी है। यथा—

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। रामते अधिक रामकर दासा॥
राम सिन्धु, घन सज्जन धीरा। चन्दन तरु हरि, सन्त समीरा॥

इन चौपाइयोंमें श्रीरामकी निन्दा नहीं समझनी चाहिये, इनसे उनकी महिमा और भी बढ़ती है। यद्यपि प्रत्यक्षमें इनके द्वारा भक्तोंकी महिमा ही प्रकट होती है पर वस्तुतः यह महिमा

भगवान्‌की ही हैं, क्योंकि उनकी महामहिमासे ही भक्त महिमान्वित होते हैं। ऐसे महापुरुषोंका सङ्ग मिलना बड़ा ही कठिन है, पुण्यके प्रभावसे ही उनकी प्राप्ति होती है—

पुण्य-पुञ्ज बिन मिलहिं न सन्ता। सत्सङ्गति संसृतिकर अन्ता॥

भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
(गीता १३। २५)

'दूसरे यानी जो मन्द-बुद्धिवाले पुरुष हैं वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे यानी तत्त्वके जाननेवाले महापुरुषोंसे सुनकर उपासना करते हैं—उनके कहनेके अनुसार ही श्रद्धासहित तत्पर होकर साधन करते हैं (इससे) वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूपी संसार-सागरसे निस्सन्देह तर जाते हैं।

वेद, उपनिषद्, इतिहास, पुराण सभी शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर महापुरुषोंकी महिमाका एक स्वरसे गान किया गया है। फिर परमात्माकी गुणगरिमाकी तो बात ही क्या है? उनकी महिमाका जितना भी गान किया जाय, सभी थोड़ा है। महात्माओंकी अथवा वैभव-सम्पन्न सांसारिक लोगोंकी जो कुछ भी बड़ी-से-बड़ी महिमा हमारे देखने-सुननेमें आती है, वह सब वास्तवमें भगवान्‌की ही महिमा है। भगवान्‌ने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥
(गीता १०। ४१)

'हे अर्जुन ! जो-जो भी ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है उस-उसको तू मेरे ही तेजके अंशसे उत्पन्न हुई जान ।' ऐसे महामहिम प्रभुके या प्रेमी भक्तोंके समागमद्वारा भी जो मनुष्य लाभ नहीं उठा सकते, उनके लिये भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने ठीक ही कहा है—

जे न तरहिं भवसागरहिं, नर समाज अस पाय ।
ते कृतनिन्दक मन्दमति, आतमहन गति जाय ॥

सन्त-शिरोमणि तुलसीदासजीने तो साधु-सङ्गके सुखको मुक्तिके सुखसे भी अधिक आदर दिया है—

तात स्वर्ग-अपवर्ग-सुख, धरिय तुला इक अङ्ग ।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग ॥

उन्होंने तो यहाँतक कह दिया है कि बिना सत्सङ्गके मनुष्यका उद्धार हो ही नहीं सकता—

बिनु सतसंग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गये बिनु रामपद, होइ न दृढ़ अनुराग ॥

इस प्रकार महात्माओंके अमोघ सङ्ग और महती कृपासे जो व्यक्ति परमात्माके रहस्यसहित प्रभावको तत्त्वसे जान जाता है वह स्वयं परम पवित्र होकर इस अपार संसार-सागरसे तरकर दूसरोंको भी तारनेवाला बन सकता है ।

जन्म कर्म च मे दिव्यम्

भगवान्के जन्म-कर्मकी दिव्यता एक अलौकिक और रहस्यमय विषय है, इसके तत्त्वको वास्तवमें तो भगवान् ही जानते हैं, अथवा यत्किञ्चित् उनके वे भक्त जानते हैं, जिनको उनकी दिव्य मूर्तिका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ हो; परन्तु वे भी जैसा जानते हैं कदाचित् वैसा कह नहीं सकते। जब एक साधारण विषयको भी मनुष्य जिस प्रकार अनुभव करता है उसी प्रकार नहीं कह सकता, तब ऐसे अलौकिक विषयको कोई कैसे कह सकता है? इस विषयमें विस्तारपूर्वक सूक्ष्म विवेचनरूपसे शास्त्रोंमें प्रायः स्पष्ट उल्लेख भी नहीं मिलता, जिसके आधारपर मनुष्य उस विषयमें कुछ विशेष समझ सके। इस स्थितिमें यद्यपि इस विषयपर लिखनेमें मैं अपनेको असमर्थ मानता हूँ, तथापि अपने मनोरञ्जनार्थ अपने मनके कुछ भावोंको यत्किञ्चित् प्रकट करता हूँ।

भगवान्का जन्म दिव्य है, अलौकिक है, अद्भुत है। इसकी दिव्यताको जाननेवाला करोड़ों मनुष्योंमें शायद ही कोई एक होगा। जो इसकी दिव्यताको जान जाता है वह मुक्त हो जाता है। स्वयं भगवान्ने गीतामें कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(४।९)

'हे अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, किन्तु मुझको ही प्राप्त होता है।'

इस रहस्यको नहीं जाननेवाले लोग कहा करते हैं कि निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माका साकाररूपमें प्रकट होना न तो सम्भव है और न युक्तिसंगत ही है। वे यह भी शङ्का करते हैं कि सर्वव्यापक, सर्वत्र समभावसे स्थित, सर्वशक्तिमान् भगवान् पूर्णरूपसे एक देशमें कैसे प्रकट हो सकते हैं? और भी अनेक प्रकारकी शङ्काएँ की जाती हैं। वास्तवमें ऐसी शङ्काओंका होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जब मनुष्य-जीवनमें इस लोककी किसी अद्भुत बातके सम्बन्धमें भी बिना प्रत्यक्ष-ज्ञान हुए उसपर पूरा विश्वास नहीं होता, तब भगवान्के विषयमें विश्वास न होना आश्चर्य अथवा असम्भव नहीं कहा जा सकता। भौतिक विषयको तो उसके क्रियासाध्य होनेके कारण विज्ञानके जाननेवाले किसी भी समय प्रकट करके उसपर विश्वास करा भी सकते हैं, किन्तु परमात्मासम्बन्धी विषय बड़ा ही विलक्षण है। प्रेम और श्रद्धासे

स्वयमेव निरन्तर उपासना करके ही मनुष्य इस तत्त्वका प्रत्यक्ष कर सकता है। कोई भी दूसरा मनुष्य अपनी मानवी शक्तिसे इसे प्रकट करके नहीं दिखला सकता। भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता; ११।५४)

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

विचार करनेपर यह प्रतीत होगा कि ऐसा होना युक्तिसंगत ही है। प्रह्लादको भगवान्‌ने खम्भेमेंसे प्रकट होकर दर्शन दिया था। इस प्रकार भगवान्‌के प्रकट होनेके अनेक प्रमाण शास्त्रोंमें विभिन्न स्थलोंपर मिलते हैं। सर्वशक्तिमान् परमात्मा तो असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं, फिर यह तो सर्वथा युक्तिसंगत है। भगवान् जब सर्वत्र विद्यमान हैं तब उनका स्तम्भमेंसे प्रकट हो जाना कौन आश्चर्यकी बात है? यदि यह कहें कि निराकार सर्वव्यापक परमात्मा एक देशमें पूर्णरूपसे कैसे प्रकट हो सकते हैं तो इसको समझानेके लिये हम अग्निका उदाहरण सामने रखते हैं, यद्यपि यह सम्पूर्णरूपसे पर्याप्त नहीं है क्योंकि परमात्माके सदृश व्यापक वस्तु अन्य कोई है ही नहीं, जिसकी परमात्माके साथ तुलना की जा सके।

अग्नितत्त्व कारणरूपसे अर्थात् परमाणुरूपसे निराकार है और लोकमें समभावसे सभी जगह अप्रकटरूपेण व्याप्त है। लकड़ियोंके मथनेसे, चकमक-पत्थरसे और दियासलाईकी रगड़से अथवा अन्य साधनोंद्वारा चेष्टा करनेपर वह एक जगह अथवा एक ही समय कई जगह प्रकट होती है; और जिस स्थानमें अग्नि प्रकट होती है उस स्थानमें अपनी पूर्ण शक्तिसे ही प्रकट होती है। अग्निकी छोटी-सी शिखाको देखकर कोई यह कहे कि यहाँ अग्नि पूर्णरूपसे प्रकट नहीं है, तो यह उसकी भूल है। जहाँपर भी अग्नि प्रकट होती है वह अपनी दाहक तथा प्रकाशक शक्तिको पूर्णतया साथ रखती हुई ही प्रकट होती है और आवश्यक होनेपर वह जोरसे प्रज्वलित होकर सारे ब्रह्माण्डको भस्म करनेमें समर्थ हो सकती है। इस तरह पूर्णशक्तिसम्पन्न होकर एक जगह या एक ही समय अनेक जगह एकदेशीय साकाररूपमें प्रकट होनेके साथ ही वह अग्नि अव्यक्त—निराकाररूपमें सर्वत्र व्याप्त भी रहती है। इसी प्रकार निराकार सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन अक्रियरूप परमात्मा अप्रकटरूपसे सब जगह व्याप्त होते हुए भी सम्पूर्ण गुणोंसे सम्पन्न अपने पूर्णप्रभावके सहित एक जगह अथवा एक ही कालमें अनेक जगह प्रकट हो सकते हैं; इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? इस प्रकार भगवान्‌का प्रकट होना तो सर्व प्रकारसे युक्तिसंगत ही है।

कोई-कोई पुरुष यह शंका करते हैं कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, वे अपने संकल्पमात्रसे ही रावण और कंस आदिको

दण्ड दे सकते थे, फिर उन्हें श्रीराम और श्रीकृष्णके रूपमें अवतार लेनेकी क्या आवश्यकता थी ? यह शंका भी सर्वथा अयुक्त है। ईश्वरके कर्तव्यके विषयमें इस प्रकारकी शंका करनेका मनुष्यको कोई अधिकार नहीं है तथापि जिनका चित्त अज्ञानसे मोहित है उनके मनमें ऐसी शंका हो जाया करती है। भगवान्‌के अवतरणमें बहुत-से कारण हो सकते हैं, जिनको वस्तुतः वे ही जानते हैं। फिर भी अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार कई कारणोंमेंसे एक यह भी कारण समझमें आता है कि वे संसारके जीवोंपर दया करके सगुणरूपमें प्रकट होकर एक ऐसा ऊँचा आदर्श रख जाते हैं—संसारको ऐसा सुलभ और सुखकर मुक्ति-मार्ग बतला जाते हैं जिससे वर्तमान एवं भावी संसारके असंख्य जीव परमेश्वरके उपदेश और आचरणको लक्ष्यमें रखकर उनका अनुकरण कर कृतार्थ होते रहते हैं।

भगवान्‌के जन्म और विग्रह दिव्य होते हैं, यह बड़े ही रहस्यका विषय है। भगवान्‌का जन्म साधारण मनुष्योंकी भाँति नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण जब कारागारमें वसुदेव-देवकीके सामने प्रकट हुए, उस समयका श्रीमद्भागवतका प्रसंग देखने और विचारनेसे मनुष्य समझ सकता है कि उनका जन्म साधारण मनुष्योंकी भाँति नहीं हुआ। अव्यक्त सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपनी लीलासे ही शंख, चक्र, गदा, पद्मसहित विष्णुके रूपमें वहाँ प्रकट हुए। उनका प्रकट होना और पुनः अन्तर्धान होना उनकी स्वतन्त्र लीला है, वह हमलोगोंके उत्पत्ति-विनाशकी तरह

नहीं है। भगवान्‌की तो बात ही निराली है। एक योगी भी अपने योगबलसे अन्तर्धान हो जाता है और पुनः उसी स्वरूपमें प्रकट होकर दर्शन देता है परन्तु उसकी अन्तर्धानकी अवस्थामें उसे कोई मरा हुआ नहीं समझता। जब महर्षि पतञ्जलि आदि योगके ज्ञाता एक योगीकी ऐसी शक्ति बतलाते हैं तब परमात्मा ईश्वरके लिये अपने पहले रूपको छिपाकर दूसरे रूपमें प्रकट होने आदिमें तो बड़ी बात ही क्या है? अवश्य ही भगवान् श्रीकृष्ण-का अवतरण साधारण लोकदृष्टिमें उनके जन्म लेनेके सदृश ही हुआ, परन्तु वास्तवमें वह जन्म नहीं था, वह तो उनका प्रकट होना था। श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

(१०।१४।५५)

'आप इन श्रीकृष्णको सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके आत्मा जानें। इस लोकमें भक्तजनोंके उद्धारके लिये वे ही भगवान् अपनी मायासे देहधारी-से प्रतीत होते हैं।'

जब भगवान् दिव्यरूपसे प्रकट हुए तब माता देवकी उनकी अनेक प्रकारसे स्तुति करती हुई कहती हैं—

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥

(श्रीमद्भा० १०।३।३०)

'हे विश्वात्मन् ! आप शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और श्रीसे सुशोभित चार भुजावाले अपने इस अद्भुत रूपको छिपा लीजिये ।' देवकीके प्रार्थना करनेपर भगवान्ने अपने चतुर्भुजरूपको छिपाकर द्विभुज बालकका रूप धारण कर लिया ।

इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया ।
पित्रोः संपश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ॥

(१०।३।४६)

इससे उनका प्रकट होना ही स्पष्ट सिद्ध होता है । गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने अर्जुनके प्रार्थना करनेपर पहले उसे अपना विश्वरूप दिखलाया, फिर उसीकी प्रार्थनापर चतुर्भुजरूप धारण किया और अन्तमें पुनः द्विभुजरूप होकर दर्शन दिये । इससे प्रकट होता है कि भगवान् अपने भक्तोंकी इच्छाके अनुसार उन्हें दर्शन देकर अन्तर्धान हो जाते हैं । इस प्रकार भगवान्के प्रकट और अन्तर्धान होनेको जो लोग मनुष्योंके जन्म और मरणके सदृश समझते हैं वे भगवान्के तत्त्वको नहीं जानते, अपने जन्मकी दिव्यताको दिखलाते हुए भगवान् गीतामें अर्जुनके प्रति कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥

(४।६)

'मैं अविनाशीस्वरूप, अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी, अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ ।'

इस श्लोकमें 'अपि' और 'सन्' शब्दोंसे भगवान्‌का यह कथन स्पष्ट है कि मेरे प्रकट होनेके तत्त्वको नहीं जाननेवाले मूर्खोंको मैं अजन्मा होता हुआ भी जन्मता हुआ-सा प्रतीत होता हूँ। जब मैं सगुणरूपसे अन्तर्धान होता हूँ तब मेरे इस छिपनेके रहस्यको न जाननेवाले मूर्खोंकी दृष्टिमें मैं अविनाशी, विनाशभावको प्राप्त होता हुआ-सा प्रतीत होता हूँ। जब मैं लीलासे साधारणरूपमें प्रकट होता हूँ तब उसका यथार्थ मर्म न जाननेवाले मूढ़ोंकी दृष्टिमें मैं सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मा सारे भूतप्राणियोंका ईश्वर होता हुआ भी साधारण मनुष्य-सा प्रतीत होता हूँ।

उपर्युक्त वर्णनसे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान्‌का प्रकट होना और अन्तर्धान होना मनुष्योंकी उत्पत्ति और विनाशके सदृश नहीं है। उनका जन्म मनुष्योंके जन्मकी भाँति होता तो एक क्षणके अन्दर एक शरीरसे दूसरे शरीरका परिवर्तन करना जैसे उन्होंने देवकी और अर्जुनके सामने किया था, कभी नहीं बन सकता।

मनुष्योंके शरीरके विनाशकी तरह भगवान्‌के दिव्य वपुका विनाश भी नहीं समझना चाहिये। जिस शरीरका विनाश होता है वह तो यहीं पड़ा रहता है, किन्तु देवकीके सामने चतुर्भुजरूपके और अर्जुनके सामने विश्वरूप और चतुर्भुजरूपके अदृश्य हो जानेपर उन वपुओंकी वहाँ उपलब्धि नहीं होती। इतना ही नहीं, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने जिस देहसे एक सौ पचीस वर्ष-

तक लोकहितके लिये विविध लीलाएँ की वह देह भी अन्तमें नहीं मिला। वे उसी लीलामय वपुसे ही परमधामको पधार गये। इसके बाद भी जब-जब भक्तोंने इच्छा की, तब-तब उसी श्याम-सुन्दर-शरीरसे पुनः प्रकट होकर उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया। यदि उनके देहका विनाश हो गया होता तो परमधाम पधारनेके अनन्तर इस प्रकार पुनः प्रकट होना कैसे बनता?

इससे यह बात सिद्ध हुई कि भगवान्का अन्तर्धान होना ही अपने परमधाममें सिधारना है, न कि मनुष्यदेहोंकी भाँति विनाश होना। श्रीमद्भागवतमें भी लिखा है—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाग्नेय्याऽदग्ध्वा धामाविशत्स्वकम्॥

(११।३१।६)

'भगवान् योगधारणाजनित अग्निके द्वारा धारणाध्यानमें मंगल-कारक अपनी लोकाभिरामा मोहिनी मूर्तिको भस्म किये बिना ही इस अपने शरीरसे परमधामको पधार गये।'

भगवान्का प्राकट्य भूतप्राणियोंकी उत्पत्तिकी अपेक्षा ही नहीं, किन्तु योगियोंके प्रकट होनेकी अपेक्षा भी अत्यन्त विलक्षण है। वह जन्म दिव्य है, अलौकिक है, अद्भुत है। भगवान् मूल प्रकृतिको अपने अधीन किये हुए ही अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं। जगत्के छोटे-बड़े सभी चराचर जीव प्रकृतिके और अपने गुण, कर्म, स्वभावके वशमें हुए प्रारब्धके अनुसार सुख-दुःखादि भोगोंको भोगते हैं। यद्यपि योगीजन साधारण मनुष्यों-की भाँति ईश्वरकी मायाके और अपने स्वभावके पराधीन तो

नहीं हैं तथापि उनका जन्म मूल प्रकृतिको वशमें करके ईश्वरकी भाँति लीलामात्र नहीं होता। परन्तु परमात्मा किसीके वशमें होकर प्रकट नहीं होते। वे अपनी इच्छासे केवल कारुण्यतावश ही अवतरित होते हैं, इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥

(४। ६)

ईश्वरका प्रकट होना उनकी लीला है, और जीवोंका जन्म लेना दुःखमय है; ईश्वर प्रकट होनेमें सर्वथा स्वतन्त्र हैं और जीव जन्म लेनेमें सर्वथा परतन्त्र हैं। ईश्वरके जन्ममें हेतु है जीवोंपर उनकी अहैतुकी दया, और जीवोंके जन्ममें हेतु हैं उनके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म। जीवोंके शरीर अनित्य, पापमय, रोगग्रस्त, लौकिक और पाञ्चभौतिक होते हैं एवं ईश्वरका शरीर परमदिव्य अप्राकृत होता है। वह पाञ्चभौतिक नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजी कहते हैं—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥

(१०। १४। २)

'हे देव! आपके इस दिव्य प्रकट देहकी महिमाको भी कोई नहीं जान सकता, जिसकी रचना पञ्चभूतोंसे न होकर मुझपर अनुग्रह करनेके लिये अपने भक्तोंकी इच्छाके अनुसार ही हुई है।

फिर आपके उस साक्षात् आत्मसुखानुभव अर्थात् विज्ञानानन्दघन स्वरूपको तो हमलोग समाधिके द्वारा भी नहीं जान सकते।'

इससे भी यह बात समझमें आती है कि भगवान्‌का शरीर लौकिक पञ्चभूतोंसे बना हुआ नहीं था। वह तो उनका खास संकल्प है, दिव्य प्रकृतियोंसे बना है, पाप-पुण्यसे रहित होनेके कारण अनामय अर्थात् रोगसे रहित एवं विशुद्ध है। विज्ञानानन्द-घन परमात्माके सगुणरूपमें प्रकट होनेके कारण ही उस रूपको आनन्दमय कहा है। मानो सम्पूर्ण अनन्त आनन्द ही मूर्तिमान् होकर प्रकट हो गया है, या यों समझिये कि साक्षात् प्रेम ही दिव्य मूर्ति धारणकर प्रकट हो गया है। इसीसे जो उस आनन्द और प्रेमार्णव श्यामसुन्दर दिव्य शरीरका तत्त्व जान लेता है वह प्रेममें मुग्ध हो जाता है; आनन्दमय बन जाता है। प्रेम और आनन्द वास्तवमें एक ही चीज है, क्योंकि प्रेमसे ही आनन्द होता है। प्रकृतिके सम्बन्ध बिना मनुष्यकी चर्म-दृष्टिसे वे दृष्टि-गोचर नहीं हो सकते। इसीलिये परमेश्वर अपनी प्रकृतिके शुद्ध सत्त्वको साथ लिये हुए प्रकट होते हैं अर्थात् जिन दिव्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिका योगी लोगोंको अनुभव होता है उन्हीं दिव्य धातुओंसे सम्बन्ध किये हुए भगवान् प्रकट होते हैं; भक्तोंपर अनुग्रह कर वे विज्ञानानन्दघन परमात्मा जब अपने भक्तोंको दर्शन देकर उनसे वार्तालाप करते हैं, तब अपनी लीलासे उपर्युक्त दिव्य तन्मात्राओंको स्वाधीन करके ही वे प्रकट हुआ करते हैं, क्योंकि नेत्र रूपको देख सकता है, अतएव भगवान्‌को रूपवाला बनना

पड़ता है; त्वचा स्पर्शको विषय करती है, अतएव भगवान्‌को स्पर्शवाला बनना पड़ता है; नासिका गन्धको विषय करती है, अतएव भगवान्‌को दिव्य गन्धमय वपु धारण करना पड़ता है। इसी प्रकार मन और बुद्धि मायाका कार्य होनेसे मायासे सम्मिलित वस्तुको ही चिन्तन करने और समझनेमें समर्थ हैं। इसलिये निराकार सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्मा प्रकृतिके गुणोंसहित अपने भक्तोंको विशेष ज्ञान करानेके लिये साकार होकर प्रकट होते हैं, प्रकृतिके सहित उस शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माके प्रकट होनेका तत्त्व सबकी समझमें नहीं आता। इसीलिये भगवान्‌ने गीता-में कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
(७। २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसीलिये यह अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्मरहित, अविनाशी परमात्माको तत्त्वसे नहीं जानता है अर्थात् मुझे जन्मने-मरने-वाला मानता है।'

तत्त्वको न जाननेके कारण ही लोग भगवान्‌का अपमान भी किया करते हैं और भगवान्‌के शक्ति-सामर्थ्यकी सीमा बाँधते हुए कह देते हैं कि विज्ञानानन्दघन निराकार परमात्मा साकार-रूपसे प्रकट हो ही नहीं सकते। वे साक्षात् परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको परमात्मा न मानकर एक मनुष्यविशेष मानते हैं; भगवान्‌के सम्बन्धमें इस प्रकारकी धारणा करनी किसी चक्रवर्ती

विश्व-सम्राट्को एक साधारण ताल्लुकेदार मानकर उसका अपमान करनेकी भाँति ईश्वरकी अवज्ञा या उनका अपमान करना है। भगवान्ने गीतामें कहा भी है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(९।११)

'सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परमभावको न जाननेवाले मूढ़लोग, मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझको साधारण मनुष्य मानते हैं।'

इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि निराकार सर्वव्यापी भगवान् जीवोंके ऊपर दया करके धर्मकी संस्थापनाके लिये दिव्य साकाररूपसे समय-समयपर अवतरित होते हैं। इस प्रकार शुद्ध सच्चिदानन्द निराकार परमात्माके दिव्य गुणोंके सहित प्रकट होनेके तत्त्वको जो जानता है वही पुरुष उस परमात्माकी दयासे परमगतिको प्राप्त होता है।

जिस प्रकार भगवान्के जन्मकी अलौकिकता है उसी प्रकार भगवान्के कर्मोंकी भी अलौकिकता है। इसलिये भगवान्के कर्मोंकी दिव्यता जाननेसे पुरुष परमपदको प्राप्त हो जाता है। भगवान्के कर्मोंमें क्या दिव्यता है, उसका जानना क्या है और जाननेसे मुक्ति कैसे होती है, इस विषयमें कुछ लिखा जाता है। भगवान्के कर्मोंमें अहैतुकी दया, समता, स्वतन्त्रता, उदारता,

दक्षता और प्रेम आदि गुण भरे रहनेके कारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या, सिद्ध योगियोंकी अपेक्षा भी उनके कर्मोंमें अत्यन्त विलक्षणता होती है। वे सर्वशक्तिमान्, सर्वसामर्थ्यवान्, असम्भवको भी सम्भव कर देनेवाले होनेपर भी न्यायविरुद्ध कोई कार्य नहीं करते, उन विज्ञानानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णने सर्व भूतप्राणियोंपर परम दया करके धर्मकी स्थापना और जीवोंका कल्याण किया। उनकी प्रत्येक क्रियामें प्रेम एवं दक्षता, निष्कामता और दया परिपूर्ण है। जब भगवान् वृन्दावनमें थे, तब उनकी बाललीलाकी प्रत्येक प्रेममयी क्रियाको देखकर गोप और गोपियाँ मुग्ध हो जाया करती थीं, भगवान् श्रीकृष्णके तत्त्वको जाननेवाले जितने भी स्त्री-पुरुष थे, उनमें कोई एक भी ऐसा नहीं था जो उनकी प्रेममयी लीलाको देखकर मुग्ध न हो गया हो। उनकी मुरलीकी तानको सुनकर मनुष्य तो क्या पशु-पक्षीतक मुग्ध हो जाते थे। उनके शरीर और वाणीकी चेष्टाएँ ऐसी अद्भुत थीं, जिनका किसी मनुष्यमें होना असम्भव है। प्रौढ़-अवस्थामें भी उनके कर्मोंकी विलक्षणताको देखकर उनके तत्त्वको जाननेवाले प्रेमी भक्त पद-पदपर मुग्ध हुआ करते थे। अर्जुन तो उनके कर्म और आचरणोंपर तथा हाव-भाव-चेष्टाको देख-देखकर इतना मुग्ध हो गया था कि वह सदा उनके इशारेपर कठपुतलीकी भाँति कर्म करनेके लिये तैयार रहता था।

भगवान्‌के लिये कोई कर्तव्य न होनेपर भी वे केवल जीवोंको सन्मार्गमें लगानेके लिये ही कर्म किया करते हैं। गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

(३ । २२)

'हे अर्जुन ! यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा किञ्चित् भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है तो भी मैं कर्ममें ही बर्तता हूँ ।'

भगवान्‌को समता भी बड़ी प्रिय थी । इसलिये गीतामें भी उन्होंने समताका वर्णन किया है—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

(६ । ९)

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुगणोंमें तथा धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी जो समान-भाववाला है, वह अति श्रेष्ठ है ।'

गीतामें केवल कहा ही नहीं, अपितु काम पड़नेपर भगवान्‌ने अपने मित्र और वैरियोंके साथ बर्ताव भी समताका ही किया । महाभारत-युद्धके प्रारम्भमें दुर्योधन और अर्जुन युद्धके लिये मदद माँगने द्वारिका गये और दोनोंहीने भगवान्‌से युद्धमें सहायताकी प्रार्थना की । भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि एक ओर मेरी एक अक्षौहिणी नारायणी सेना है और दूसरी ओर मैं अकेला हूँ, पर मैं युद्धमें हथियार नहीं लूँगा । इससे यह बात सिद्ध हुई कि भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुन और दुर्योधन दोनोंके साथ समान

व्यवहार किया। यहाँ यह विचारणीय विषय है कि भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुन कितना अधिक प्रिय था, वे कहनेको ही दो शरीर थे। महाभारत मौसलपर्वमें वसुदेवजी अर्जुनसे कहने लगे—

योऽहं तमर्जुनं विद्धि योऽर्जुनः सोऽहमेव तु ॥
यद्ब्रूयात्तत्तथा कार्यमिति बुध्यस्व भारत।

(६।२१-२२)

हे अर्जुन! तू समझ, श्रीकृष्णने मुझे कहा—'जो मैं हूँ सो अर्जुन है और जो अर्जुन है सो मैं हूँ, वह जैसा कहे, आप वैसा ही कीजियेगा।'

तथा श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

(४।३)

इतना होते हुए भी वे अपने प्रिय सखा अर्जुनके विपक्षमें लड़नेवाले उसके शत्रु दुर्योधनको भी समान-भावसे सहायता करनेको तैयार हो गये। जो अपने मित्रका शत्रु होता है वह अपना शत्रु ही समझा जाता है। महाभारत उद्योगपर्वमें भगवान् श्रीकृष्ण जब सन्धि कराने गये तब उन्होंने स्वयं यह कहा भी था—

यस्तान्द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु ।
ऐकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ॥

(९१।२८)

'जो पाण्डवोंका वैरी है, वह मेरा वैरी है और जो उनके अनुकूल है, वह मेरे अनुकूल है। मैं धर्मात्मा पाण्डवोंसे अलग नहीं

हूँ। ऐसा होनेपर भी भगवान्‌ने दुर्योधनकी सैन्यबलसे सहायता की। संसारमें ऐसा कौन पुरुष होगा जो अपने प्रेमी मित्रके शत्रुको उसीसे युद्ध करनेके कार्यमें सहायता दे। परन्तु भगवान्‌की समताका कार्य विलक्षण था। इस मददको पाकर दुर्योधन भी अपनेको कृतकृत्य मानने लगा। और उसने ऐसा समझा कि मानों मैंने श्रीकृष्णको ठग लिया—

कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा सम्प्राप परमां मुदम्।
दुर्योधनस्तु तत्सैन्यं सर्वमादाय पार्थिवः॥
(उद्योगपर्व ७। २४)

भगवान् श्रीकृष्णके प्रभावको दुर्योधन नहीं जानता था, इसीलिये उसने इसमें उनकी उदारता और समता तथा महत्ताका तत्त्व न जानकर इसे मूर्खता समझा। जो लोग महान् पुरुषोंके प्रभावको नहीं जानते, उनको उन महापुरुषोंकी क्रियाओंके अन्दर दया, समता एवं उदारता आदि गुण दृष्टिगोचर नहीं होते। दुर्योधनके उदाहरणसे यह बात प्रत्यक्ष प्रमाणित होती है।

भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ भी करते थे, सबके अन्दर समता, निःस्वार्थता, अनासक्तता आदि भाव पूर्ण रहते थे, इसीसे वे कर्मोंके द्वारा कभी लिपायमान नहीं होते थे। गीतामें उन्होंने कहा भी है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥
(४ । १३-१४)

'हे अर्जुन ! गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मेरेद्वारा रचे गये हैं, उनके कर्ताको भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू अकर्ता ही जान । क्योंकि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है इसलिये मुझको कर्म लिपायमान नहीं करते । इस प्रकार जो मुझको तत्त्वसे जानता है वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता ।' तथा—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥
(९ । ९)

'हे अर्जुन ! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित हुए मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते ।'

भगवान्‌की तो बात ही क्या है, तत्त्वको जाननेवाला पुरुष भी कर्मोंमें लिपायमान नहीं होता । अब यह बात समझनेकी है कि उपर्युक्त श्लोकोंके तत्त्वको जानना क्या है ? वह यही है कि भगवान् श्रीकृष्णको कर्मोंमें आसक्ति, विषमता और फलकी इच्छा नहीं रहती थी । जो मनुष्य यह समझकर कि कर्मोंमें आसक्ति, फलकी इच्छा एवं विषमता ही बन्धनके हेतु हैं, इन दोषोंको त्याग-कर अहङ्काररहित होकर कर्म करता है, वही कर्मोंके तत्त्वको जानकर कर्म करता है । इस प्रकार कर्मके तत्त्वको जानकर कर्म

करनेवाला कर्मके द्वारा नहीं बँधता । ऐसा समझकर जो स्वयं इन दोषोंको त्यागकर कर्म करता है वही इस तत्त्वको समझता है । जैसे संखिया, पारा आदिके दोषोंको मारकर उनका सेवन करनेवालेको हानिकी जगह परम लाभ पहुँचता है, इसी प्रकार विषमता, अभिमान, फलकी इच्छा और आसक्तिको त्यागकर कर्मोंका सेवन करनेवाला मनुष्य उनसे न बँधकर मुक्तिको प्राप्त होता है ।

दूधमें विष मिला हुआ है, यह जानकर कोई भी मनुष्य उस दूधका पान नहीं करता है, यदि करता है तो उसे अत्यन्त मूढ़ समझना चाहिये । इसी प्रकार कर्मोंमें आसक्ति, कर्तृत्व-अभिमान, फलकी इच्छा और विषमता आदि दोष विषसे भी अधिक विष होकर मनुष्यको बार-बार मृत्युके चक्करमें डालनेवाले हैं । जो पुरुष इस प्रकार समझता है वह उपर्युक्त दोषोंसे मुक्त होकर कभी कर्म नहीं करता ।

भगवान् श्रीकृष्णके कर्मोंमें और भी अनेक विचित्रताएँ हैं जिनको हम नहीं जान सकते और जो यत्किञ्चित् जानते हैं उसको भी समझाना बहुत कठिन है । हम तो चीज़ ही क्या हैं, भगवान्‌की लीलाओंको देखकर ऋषि, मुनि और देवतागण भी मोहित हो जाया करते थे । श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि एक समय श्रीकृष्णचन्द्रजीकी लीलाओंको देखकर ब्रह्माजीको भी मोह हो गया था, उन्होंने ग्वालबालोंके सहित बछड़ोंको ले जाकर एक कन्दरामें रख दिया, महाराज श्रीकृष्णचन्द्रजीने यह जानकर तुरन्त वैसे ही दूसरे ग्वालबाल और बछड़े रच लिये और गौओं तथा

गोपियों आदि किसीको यह मालूम नहीं हुआ कि यह बालक तथा बछड़े दूसरे ही हैं ।

वास्तवमें ब्रह्माजी-जैसे महान् देव ईश्वरके विषयमें मोहित हो जायँ, यह बात युक्तिसे सम्भव नहीं मालूम होती, किन्तु ईश्वरके लिये कोई बात भी असम्भव नहीं है । वे असम्भवको भी सम्भव करके दिखा सकते हैं । विचारनेकी बात है कि इस प्रकारके अलौकिक तथा अद्भुत कर्म साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है योगीलोग भी नहीं कर सकते ।

परमात्माके जन्म और कर्मकी दिव्यताका विषय बड़ा अलौकिक और रहस्यमय है । अर्जुन भगवान्का अत्यन्त प्रिय सखा था, इसीलिये भगवान्ने यह अत्यन्त गोपनीय रहस्य अर्जुनके प्रति कहा था ।

इस प्रकार भगवान्के जन्म और कर्मकी दिव्यताको जो तत्त्वसे जानता है वही भगवान्को तत्त्वसे जानता है । अतएव हम सबको इसके तत्त्वको समझनेकी कोशिश करनी चाहिये । जो पुरुष इस तत्त्वको जितना ही अधिक समझेगा, वह उतना ही आनन्दमें मुग्ध होता हुआ परमात्माके नजदीक पहुँचेगा । उसके कर्मोंमें भी अलौकिकता भासने लगेगी और वह भगवान्के प्रभावको जानकर प्रेममें मुग्ध हो शीघ्र ही परमगतिको प्राप्त हो जायगा ।

भगवान्‌का अवतार-शरीर

एक सज्जनने निम्नलिखित प्रश्न किये हैं। प्रश्न महत्त्वके हैं। संक्षेपमें उत्तरसहित प्रश्न प्रकाशित किये जाते हैं। प्रश्नोंकी भाषामें कुछ सुधार किया गया है।

१—क्या पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण आदिके पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर होते हैं?

२—साधारण जीवोंके शरीरका अभिमानी तो जीवात्मा होता है परन्तु अवतार-शरीरका अभिमानी कौन होता है?

३—यदि सगुण ईश्वरको ही उस शरीरका अभिमानी माना जाय तो जो विश्वात्मा इस समस्त विश्वका अभिमानी है, वह केवल एक शरीरका अभिमानी कैसे हो सकता है?

४—एक शरीरका अभिमानी है तो उसमें कुछ भेद होगा या नहीं यानी वह जिस प्रकार सामान्य-रूपसे सब स्थानोंमें है, उससे अवतार-शरीरमें कुछ विशेष रूपसे है या नहीं?

५—श्रीमद्भगवद्गीतासे पूर्वके किसी ग्रन्थमें अवतारवादका बीजरूपसे भी वर्णन है क्या?

इनका क्रमशः उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवान्‌का जन्म और उनका विग्रह सर्वथा दिव्य एवं अलौकिक है । मलिन विकाररूप पञ्चमहाभूत जो हमलोगोंके दृष्टिगोचर होते हैं, भगवान्‌का शरीर उनसे बना हुआ नहीं होता । तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञ मनुष्योंको ऐसा ही प्रतीत होता है कि भगवान् श्रीकृष्णका शरीर हमलोगों-जैसा ही है । भगवान् कहते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥
(गीता ७ । २५)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
(गीता ९ । ११)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसलिये अज्ञानी मनुष्य मुझ अजन्मा, अविनाशी परमात्माको (तत्त्वसे) नहीं जानता, वह मुझे जन्म लेने और मरनेवाला समझता है ।'

'सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं, अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें लीला करते हुए मुझको साधारण मनुष्य मानते हैं ।'

भगवान्‌के परमतत्त्वको जाननेवाले बड़भागी पुरुषोंको तो भगवान्‌का शरीर सर्वथा दिव्य ही प्रतीत होता है, उनकी दृष्टिसे

भगवान्‌का यथार्थ स्वरूप कभी ओझल नहीं होता, इसीसे वे मुक्त होते हैं। स्वयं भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(गीता ४ । ९)

'हे अर्जुन ! मेरा जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है वह शरीरको त्यागकर पुनः जन्मको प्राप्त नहीं होता। वह तो मुझ (परमात्मा) को ही प्राप्त होता है।'

सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा अजन्मा, अविनाशी, सर्वभूतोंके परम गति और परम आश्रय हैं, वे केवल धर्मकी स्थापना और संसारका उद्धार करनेके लिये ही अपनी योगमायासे सगुण-रूप होकर प्रकट होते हैं। उनके समान सुहृद्, प्रेमी और पतित-पावन दूसरा कोई नहीं है। ऐसा समझकर जो पुरुष परमेश्वरका अनन्य प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ आसक्तिरहित हो संसारमें बर्तता है, वही वास्तवमें उन्हें तत्त्वसे जानता है। ऐसे तत्त्वज्ञकी दृष्टि ही वास्तविक दृष्टि है। जो लोग मायाके आवरणसे ढके रहनेके कारण वास्तविक दृष्टिसे शून्य हैं, वे परमात्माके साकाररूपको विकारी पाञ्चभौतिक मानते हैं। असलमें न तो भगवान्‌का शरीर ही साधारण प्राणियोंका-सा है और न उनका अवतरण ही जीवोंकी उत्पत्तिके समान है। जीव मायाबद्ध है, वह उसीके नियन्त्रणमें पाप-पुण्योंके अनुसार परवश हुआ जन्म-मरणको प्राप्त होता है। भगवान् कहते हैं—

भूतग्रामामिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥
(गीता ९ । ८)

'प्रकृतिके वशसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको मैं रचता हूँ ।' परन्तु भगवान् इस प्रकार पाप-पुण्यका फल भोगनेके लिये पाप-पुण्यसे परवश होकर जन्म ग्रहण नहीं करते । प्रकृति और माया उनकी चेरी हैं, शक्ति हैं, वे प्रकृतिको अपने अधीन करके शुद्ध संकल्प और शुद्ध सत्त्वसे लीलामात्रसे ही लोकोद्धार और धर्म-संस्थापनके लिये प्रकट होते हैं । वे मायाको अधीन बनाकर लीलासे ही शरीर धारण करते हैं । उनका लीलाविग्रह उन शुद्ध महाभूतोंका होता है, जिन भूतोंकी दिव्य मात्राओंका योगीगण योगबलसे अनुभव किया करते हैं । दिव्य सत्त्वका शरीर होनेके कारण उसमें किसी भी शारीरिक और मानसिक विकारको किञ्चित् भी स्थान नहीं होता । इसीसे उसको 'अनामय' कहते हैं । इसी कारण किसी भी प्रामाणिक ग्रन्थमें कहीं ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि अवतार-शरीरको कभी कोई रोग हुआ हो । भागवत, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें अवतारके लिये 'अनामय' शब्दका प्रयोग तो बहुत स्थानोंपर मिलता है ।

जब एक योगी भी अपनी योगशक्तिके बलसे अनेक शरीर धारण कर सकता है तब महान् योगेश्वरेश्वर मायाके स्वामी लीलामय भगवान्के लिये एकसे अनेक रूपोंमें प्रकट हो जाना कौन बड़ी बात है ? इसी लीलाका नाम योगमाया है । अपने अवतार-जन्मको प्राकृत मनुष्योंके जन्मसे भिन्न प्रकारका सिद्ध करते हुए भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥
(गीता ४ । ६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा समस्त भूत-प्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योग-मायासे प्रकट होता हूँ ।'

यहाँ 'माया' शब्द लीलाका वाचक है, प्रकृतिका नहीं । 'प्रकृति' शब्द तो अलग आया ही है, 'माया' भी उसी अर्थमें होता तो इसका प्रयोग व्यर्थ होता । इस श्लोकमें आया हुआ 'अपि' शब्द भी इस सिद्धान्तका समर्थन करता है कि भगवान् उत्पन्न नहीं होते—उत्पन्न हुए-से प्रतीत होते हैं, अजन्मा रहनेपर भी जन्मते हुए-से दिखायी देते हैं । वे अपनी लीलासे 'लोकदृष्टि' में मनुष्य प्रतीत होते हैं । भगवान्‌के विग्रहका यह रहस्य साधारण मनुष्योंके मन-बुद्धिसे परेकी बात है । भगवद्रूपमें स्थित परम भक्त महात्मा लोग ही भगवत्कृपासे इसे जान सकते हैं ।

सो जानहि जेहि देहु जनाई । जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई ॥

(२) भगवान्‌के शरीरमें कोई भी अभिमानी नहीं होता । जब अज्ञान-दशासे ज्ञान-दशामें पहुँचे हुए एक जीवन्मुक्तका कार्य भी देहाभिमानीके बिना चल जाता है, तब श्रीभगवान्‌के दिव्य शरीरमें भिन्न अभिमानीके अध्यारोपकी क्या आवश्यकता है ? उस दिव्य शरीरके द्वारा सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्माकी सत्ता-स्फूर्तिसे कार्य होते हैं । लोगोंको समझानेके लिये यह कहा जा

सकता है कि शुद्ध ब्रह्मके साथ समष्टिचेतन—जो एक ही तत्त्व-रूप परमात्मा है, वही अभिमानीके सदृश स्थित प्रतीत होता है। यदि यह कहा जाय कि सृष्टिकर्ता ईश्वर उसमें अभिमानी हैं तो इससे सृष्टिकर्ता ईश्वर अपने शुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्मस्वरूपसे अलग कर दिये जाते हैं। यदि कोई सज्जन यह कहें कि हम वास्तवमें तो मायाविशिष्ट ईश्वर और शुद्ध ब्रह्मको पृथक्-पृथक् नहीं मानते, केवल लोगोंको समझानेके लिये सृष्टिकर्ता समष्टिचेतन अंशमें ही अध्यारोप करके उसे औपचारिक अभिमानी मानते हैं तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

(३) यह तो कहा ही जा चुका कि ईश्वर वास्तवमें उस शरीरका अभिमानी नहीं होता। विश्वका अभिमानी एकदेशीय शरीरका अभिमानी कैसे बन सकता है ? यह एक साधारण-सी बात है और विचार करते ही समझमें आ सकती है। जब सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त अग्निका अभिमानी देवता एक होनेपर भी (अव्यक्तरूपसे अग्निके सर्वत्र व्यापक रहते हुए भी) अनेक भिन्न-भिन्न स्थानोंमें व्यक्त प्रज्वलित मूर्ति धारण करके उसका अभिमानी-सा बन, सबकी दी हुई आहुतियोंको ग्रहण कर उनके अनुसार फल देता है, तब सर्वशक्तिमान्, सर्वाश्रय, सर्वव्यापी परमात्माके लिये ऐसा करनेमें कौन-सा आश्चर्य है ? जैसे एक विशेष स्थानमें प्रज्वलित व्यक्त अग्निका अभिमानी वहाँकी आहुतियोंको ग्रहण करता हुआ भी अन्य सब जगहोंसे लुप्त नहीं हो जाता, इसी प्रकार परमात्माके एक जगह प्रकट हो जानेसे अन्य सम्पूर्ण स्थानों-

में उसका अभाव नहीं हो जाता । शास्त्रोंके अनुसार जब अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवगण स्तुति-आराधनासे प्रसन्न हो एक ही साथ अनेक स्थानोंमें प्रकट होकर उपासकोंको उनके भावानुसार वर देनेकी शक्ति रखते हैं तो फिर सर्वदेवदेव भगवान्‌के ऐसा करनेमें क्या आश्चर्य है ?

(४) भगवान् शरीरके अभिमानी तो नहीं हैं परन्तु अवतार-शरीरमें उनका विशेषत्व अवश्य है, वह शरीर वास्तवमें उनकी दिव्य मूर्ति ही है । सब जगह समानभावसे सर्वशक्तिमत्ताके साथ विराजित होनेपर भी अपने अवतारमें वे विशेषरूपसे हैं । जैसे सब जगह समानभावसे व्याप्त होनेपर भी हृदयमें भगवान्‌का विशेषरूपसे रहना माना गया है । *'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो' (१५।१५) 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' (१३।१७) 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (१८।६१)* आदिसे सिद्ध है। उनमें भी ज्ञानीके हृदयमें तो उनका और भी विशेषरूपसे रहना बतलाया गया है । भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
(गीता ९ । २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है परन्तु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें और मैं भी उनमें (प्रत्यक्ष प्रकट) हूँ ।' इस प्रकार जब भक्तोंके हृदयमें भगवान्‌की विशेषता सिद्ध है तब अपने परम दिव्य व्यक्त

लीलाविग्रहमें विशेषतासे होना तो प्रत्यक्ष ही सिद्ध है । भगवान् श्रीकृष्ण अपने लिये स्वयं कहते हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

(गीता १४ । २७)

'हे अर्जुन ! अविनाशी परब्रह्मका, अमृतका, नित्य धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ !'

सूर्यका प्रकाश सब जगह समान होनेपर भी काठ और काँचमें प्रत्यक्ष भेद प्रतीत होता है । काठमें प्रतिबिम्ब नहीं होता, पर काँचमें होता है । काँचोंमें भी सूर्यमुखी काँचमें तो इतनी विशेषता है कि उससे रूई और कपड़े भी जल जाते हैं । सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी संसारके पदार्थोंकी अपेक्षा हृदयमें विशेषता है, ज्ञानी या भक्तके हृदयमें उससे भी अधिक विशेषता है । अवतार-विग्रहमें तो उन सबसे अधिक विशेषता है । वह तो उनका स्वरूप ही है, इससे उसके कार्य भी सब भगवद्रूप ही हैं ।

(५) अवतारवादका वर्णन अनेक ग्रन्थोंमें है । श्रीवाल्मीकि-रामायणमें (जो जगत्‌में आदिकाव्य माना जाता है) ही अवतारवादका स्पष्ट वर्णन है । कल्याणके 'रामायणांक' में प्रकाशित 'वाल्मीकीय रामायणसे अवतारवादकी सिद्धि' शीर्षक लेख ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये ।

भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्ण ब्रह्मके अवतार थे या यों कहिये कि साक्षात् पूर्ण ब्रह्म ही श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए हैं; उनके दिव्य गुण, प्रभाव और लीलाओंकी आश्चर्यमयी उपदेशप्रद मधुर लीलाओंसे हमारे प्राचीन ग्रन्थ भरे पड़े हैं। श्रीमद्भागवत, महाभारत, जैमिनीय अश्वमेध और अन्यान्य पुराण आदिमें भगवान्के प्रेम, प्रभाव और ऐश्वर्यकी अलौकिक बातें स्थान-स्थानपर प्रसिद्ध हैं। जन्मते ही चतुर्भुजरूपसे प्रकट होकर फिर छोटे बालक बन जाना, यशोदा मैयाको मुखके अन्दर ब्रह्माण्ड दिखलाना, गोप-बालक और बछड़ोंकी नवीन सृष्टि करना, अक्रूरजीको मार्ग और जलके अन्दर एक ही साथ दोनों जगह एक ही रूपमें दर्शन देना, कंस आदि महान् असुरोंका लीलामात्रसे विनाश कर देना, गुरु, ब्राह्मण और देवकीजीके मृत पुत्रोंको ला देना, विविधरूपोंसे एक ही साथ सम्पूर्ण रानियोंके महलोंमें निवास करना, द्रौपदीके स्मरण करते ही उसका चीर बढ़ा देना, दुर्वासाजीके आतिथ्यके समय संकटापन्न

द्रौपदीके स्मरण करते ही अचानक वहाँ प्रकट हो जाना, कौरवोंकी सभामें विराट्‌रूप दिखाना, प्रिय भक्त अर्जुनको भक्ति और ज्ञानका रहस्य समझाते हुए उसे विश्वरूप और चतुर्भुजरूपसे दर्शन देना, अर्जुनकी रक्षाके लिये जयद्रथवधके समय सूर्यका अस्त दिखाकर फिर सूर्यको प्रकट कर देना, युद्धके अन्तमें अर्जुनको पहले रथसे नीचे उतारकर फिर स्वयं उतरते ही रथका जलकर भस्म होते दिखलाना और यह कहना कि यह रथ तो भीष्म, द्रोणादिके बाणोंसे पहले ही दग्ध हो चुका था, परन्तु मैंने अपने संकल्पसे इसे टिका रक्खा था; शरशय्यापर पड़े हुए भीष्मकी सारी पीड़ाओंको हरकर उन्हें अतुल बल, तेज और ज्ञान प्रदान करना, ऋषि उत्तङ्कको अपना अलौकिक प्रभाव और ऐश्वर्ययुक्त रूप दिखलाना, मृत परीक्षितको जीवित करना, अश्वमेधयज्ञके समय पाण्डवोंके स्मरण करते ही द्वारकासे अचानक रातके समय आ जाना, सुधन्वासे लड़ते हुए अर्जुनके द्वारा याद करनेपर तुरन्त उपस्थित होकर रथकी लगाम हाथमें ले लेना और शरीरसहित ही परम धाम पधारना आदि अनेकों अद्भुत कर्मोंकी कथाओंके पढ़नेसे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ऐसे कर्म मनुष्यके लिये तो असम्भव हैं ही देवताओंकी शक्तिसे भी अतीत हैं। इस छोटेसे लेखमें अति संक्षेपके साथ भगवान्‌के कुछ अद्भुत कर्मोंका दिग्दर्शन कराया जाता है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी प्रेम और आनन्दकी तो मूर्ति ही थे। उनका अवतार प्रेम और धर्मके संस्थापन और प्रचारके लिये

ही हुआ था । भगवान्ने विशुद्ध प्रेमका जो विशाल प्रवाह बहा दिया उसे एक बार समझ लेनेपर ऐसा कौन है जिसका हृदय द्रवित और आनन्दसे पुलकित न हो जाय । परन्तु उनकी प्रेम-मयी लीला और उनके गहन प्रेमके तत्त्वका ज्ञान उनके अनुग्रहसे ही हो सकता है । श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें गोपियोंके साथ भगवान्के प्रेमके व्यवहारका जो वर्णन आता है उसे पढ़नेपर मनुष्यके हृदयमें अनेक प्रकारकी शंकाएँ उत्पन्न होती हैं । अक्षरोंके अर्थसे तो उस प्रेममें विषय-विकार ही टपकता है, परन्तु यह प्रसंग विचारणीय है । यदि गोपियोंके साथ भगवान्का विषय-जन्य अनुचित प्रेम होता तो उद्धव-सरीखे महात्मा और गौराङ्ग महाप्रभु-सदृश त्यागी भक्त और सन्तजन उसकी कभी प्रशंसा नहीं करते । गोपियोंका प्रेम मूर्खतापूर्ण नहीं था, वे श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान् समझती थीं । स्वयं गोपियोंके वाक्य हैं—

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३१ । ४)

'हे सखे ! ब्रह्माकी प्रार्थनापर आपने विश्वके पालनके लिये सात्वत (यदु) कुलमें अवतार लिया है । आप केवल यशोदाके ही पुत्र नहीं हैं, वास्तवमें आप समस्त प्राणियोंके अन्तरात्माके साक्षी हैं ।' इससे सिद्ध होता है कि उनका प्रेम विशुद्ध और ज्ञानपूर्ण था । उनके प्रेमकी सभी सन्त-पुरुषोंने सराहना की है । इतना ही नहीं, स्वयं भगवान्ने भी उनके प्रेमकी महिमा गायी है और अर्जुनसे कहा है कि—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते ।
ताभिर्विना न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम् ॥

'हे पार्थ ! जो गोपियाँ अपने शरीरको 'मेरा (कृष्णका) है' ऐसा समझकर ही सँभाल रखती हैं उन्हें छोड़कर मेरे निगूढ प्रेमका पात्र और कोई नहीं है ।'

इसके अतिरिक्त भगवान् स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं, उनमें तो विषय-विकारकी आशंका ही नहीं की जा सकती । कोई यह पूछे कि फिर भागवत आदि पुराणोंमें वर्णित वैषयिक प्रसंगोंका क्या अर्थ है । मेरी साधारण बुद्धिके अनुसार तो इसका यही उत्तर है कि उन शब्दोंका मतलब समझनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है; इतिहास, स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थोंमें जहाँ कहीं भी ईश्वरपर झूठ, कपट, व्यभिचार आदि दोषोंका आरोप प्रतीत हो और मद्य, मांस आदिके सेवन तथा असत्य, दम्भ, व्यभिचार आदि दोषोंका विधान मिले, उन पंक्तियोंको छोड़कर ही शेष सदुपदेशको ग्रहण करना और तदनुसार आचरण करना चाहिये ।

संसार परिवर्तनशील है । देश, काल, वस्तु आदिका प्रति-क्षण परिवर्तन होता रहता है । पुरानी घटनाओंमें समयका बहुत व्यवधान पड़ जानेके कारण समयके परिवर्तनसे शास्त्रोंके वर्णनकी सारी बातोंका पूरा मतलब ठीक-ठीक समझमें नहीं आता । इसके सिवा दीर्घकालतक देशपर विधर्मियोंका आधिपत्य रहनेके कारण हमारे शास्त्रोंमें धर्मके विपरीत झूठ, कपट, चोरी आदि कुभाव घुसेड़ दिये गये हों तो भी कोई आश्चर्य नहीं है । अतएव पुराणोंकी

सभी बातोंको अक्षरशः समझाने और उनकी पूर्वापर पूरी शृंखला बैठाकर उन्हें मिथ्या या सत्य सिद्ध करनेका दायित्व हम साधारण लोगोंको अपने ऊपर नहीं लेना चाहिये। क्योंकि हमलोग सर्वज्ञ नहीं हैं। इसके सिवा भगवान् संसारमें अवतार ग्रहण करके जो लीला करते हैं उनमें कहीं शास्त्रकी मर्यादाके विपरीत दोषका आभास दिखलायी दे तो इस विषयमें मनमें यही निश्चय रखना चाहिये कि भगवान्‌में कोई दोष कभी हो नहीं सकता। भगवान् और उनके कर्म सर्वथा दिव्य हैं। साथ ही पुराण-इतिहास आदिको भी असत्य नहीं कहा जा सकता।

भगवान्‌के लीलामय दिव्य जन्म-कर्मका रहस्य सम्पूर्णरूपसे तो देवता और महर्षियोंके भी समझमें नहीं आ सकता। भगवान्‌ने स्वयं ही कहा है—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

(गीता १०।२)

'मेरी उत्पत्तिको अर्थात् विभूतिसहित लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिगण ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओं और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ।' यद्यपि इतिहास-पुराण आदि शास्त्रोंके रचयिता ऋषि तत्त्वको जाननेवाले सिद्ध महापुरुष और योगी थे, तथापि वे भी भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी लीला और उनके प्रभावको सम्पूर्णरूपसे वर्णन करनेमें असमर्थ थे। फिर भी उन महात्माओंने कृपा-परवश

हो जो कुछ लिखा है सो सत्य ही है, अल्पबुद्धि होनेके कारण हमलोग उनके भावोंको ठीक-ठीक समझ नहीं सकते और अपनी अल्पज्ञताका दोष उन महात्माओंके मत्थे मढ़ते हैं।

महाभारत आदिसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि अवताररूपमें प्रकट हुए भगवान्‌को सब ऋषिगण नहीं पहचान सकते थे। उनमेंसे कोई-कोई तत्त्ववेत्ता महात्मा महर्षि ही भगवान्‌की कृपासे उनको जानते थे—

तुम्हरी कृपा तुमहिं रघुनन्दन। जानत भक्त भक्त-उर चन्दन॥

क्योंकि भगवान् जिस शरीरमें जन्म ग्रहण करते हैं उसी शरीरके समान सब चेष्टा करते हैं। जब भगवान् मनुष्य-शरीरमें अवतीर्ण होते हैं तब मनुष्यके अनुसार चेष्टा करते हैं। उस समय उनके मनुष्योचित कर्मोंको देखकर मुनिगणोंको भी भ्रम हो जाता है, फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? श्रीवशिष्ठजीने कहा है—

देखि-देखि आचरण तुम्हारा। होत मोह मम हृदय अपारा॥

महाभारतके अश्वमेधपर्वके ५३ वें अध्यायमें कथा है कि कौरव-पाण्डवोंके युद्धकी समाप्तिके बाद युधिष्ठिर महाराजसे आज्ञा लेकर भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुरसे जा रहे थे। मार्गमें मरुस्थलमें निवास करनेवाले गुरु-भक्त तपस्वी ऋषि उत्तङ्कसे उनकी भेंट हुई। पाँच पाण्डवोंके सिवा अन्य सारे कौरवोंके विनाशकी बात भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे सुनकर ऋषि उत्तङ्कको बड़ा क्रोध आ गया और वे उनसे बोले कि 'आपने सब प्रकारसे शक्तिसम्पन्न होनेपर भी युद्धका निवारण नहीं किया, इसलिये मैं आपको शाप दूँगा'।

भगवान् बड़े दयालु थे, उन्होंने मुनिको शाप देनेसे रोककर कहा कि, 'हे तपस्विश्रेष्ठ ! तुमने अपने गुरुको सेवा करके प्रसन्न किया है, जिससे तुम्हारे तपका बड़ा तेज है, मैं उस तपका नाश कराना नहीं चाहता, मुझपर तुम्हारे शापका कोई असर नहीं होगा, शाप देनेसे तुम्हारे तपका नाश हो जायगा । इसलिये तुम मेरे अध्यात्म-विषयक आत्मतत्त्व और प्रभावकी बातें सुनो ।' तदनन्तर ५४ वें अध्यायमें ऋषि उत्तङ्कके पूछनेपर भगवान्ने अपने अवतार लेनेका कारण तथा प्रभाव और स्वरूपका वर्णन किया—

बह्वीः संसरमाणो वै योनीर्वर्त्तामि सत्तम ।
धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च ॥१३॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव ।
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रोऽथ प्रभवाप्ययः ॥१४॥
भूतग्रामस्य सर्वस्य स्रष्टा संहार एव च ।
अधर्मे वर्तमानानां सर्वेषामहमच्युतः ॥१५॥
धर्मस्य सेतुं बध्नामि चलिते चलिते युगे ।
तास्ता योनीः प्रविश्याहं प्रजानां हितकाम्यया ॥१६॥

'हे द्विजवर, भार्गव ! मैं धर्मकी रक्षा और स्थापना करनेके लिये बहुत-सी योनियोंमें उन-उन योनियोंके वेष और रूपोंसे युक्त हुआ तीनों लोकोंमें अवतार धारण करता हूँ । मैं ही विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्र हूँ । मैं ही उत्पत्ति और प्रलयरूप हूँ तथा सकल भूत-समुदायका रचनेवाला और संहार करनेवाला भी मैं ही हूँ । मैं

अच्युत परमात्मा परिवर्तनशील युगोंमें प्रजाके हितकी कामनासे भिन्न-भिन्न योनियोंमें प्रवेश करके अधर्ममें बर्तनेवाले समस्त प्राणियोंके लिये धर्मकी मर्यादाको दृढ़ करता हूँ।'

यदा त्वहं देवयोनौ वर्त्तामि भृगुनन्दन।
तदाहं देववत्सर्वमाचरामि न संशयः ॥ १७ ॥

'हे भृगुनन्दन ! जब मैं देवयोनिमें प्रकट होता हूँ तब निःसन्देह देवताओंके समान ही समस्त आचरण करता हूँ।'

यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्त्तामि भृगुनन्दन।
तदा गन्धर्ववत्सर्वमाचरामि न संशयः ॥१८॥

'हे भार्गव ! जब मैं गन्धर्वयोनिमें प्रकट होता हूँ तब निःसन्देह गन्धर्वोंके समान ही समस्त आचरण करता हूँ।'

नागयोनौ यदा चैव तदा वर्त्तामि नागवत्।
यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद्विचराम्यहम् ॥१९॥

'जब मैं नागयोनिमें उत्पन्न होता हूँ तो नागों-जैसा बर्ताव करता हूँ और जब यक्ष-राक्षसोंकी योनियोंमें उत्पन्न होता हूँ तो उन्हींके अनुरूप आचरण करता हूँ।'

मानुष्ये वर्त्तमाने तु कृपणं याचिता मया।
न च ते जातसम्मोहा वचोऽगृह्णन्त मोहिताः ॥२०॥

'इस समय मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होकर मनुष्य-जैसा आचरण करते हुए मैंने दीनतापूर्वक उन लोगोंसे प्रार्थना की परन्तु वे मोहसे अन्धे हो रहे थे, अतः उन मूढोंने मेरा कहना न माना।'

इस प्रकार भगवान्के प्रभाव और स्वरूपकी बात सुनकर ऋषिको भगवान् श्रीकृष्णके साक्षात् परमात्मा होनेका पूर्ण विश्वास हो गया और ऋषिने विनीतभावसे भगवान्से विश्वरूप-दर्शन करानेके लिये प्रार्थना की। ऋषिकी प्रार्थनापर भगवान्ने अनुग्रह करके उन्हें अपना विश्वरूप दिखलाया, जिसे देखकर उत्तङ्क-ऋषि भगवान्की स्तुति करने लगे। तदनन्तर ऋषिको वरदान देकर भगवान् द्वारिकापुरीको पधार गये।

ऋषि उत्तङ्कके इस दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता है कि भगवान्की कृपा बिना यज्ञ, दान, तप और गुरु-सेवन आदि करनेवाले तपस्वी ऋषि भी भगवान्के अवतार-विग्रहको पहचान नहीं सकते। भगवान् दया करके जिसको अपना परिचय देते हैं, वे ही उन्हें पहचान सकते हैं और फिर उनकी कृपासे तद्रूप हो जाते हैं।

सो जानहिं जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहिं ह्वै जाई॥

जबतक भगवान् स्वयं दया करके अपनेको नहीं जनाते, तबतक दूसरेके द्वारा जनाये जानेपर भी भगवान्को नहीं जाना जा सकता। संजयके बहुत कुछ समझाने और प्रभाव बतलानेपर भी धृतराष्ट्रने भगवान्को नहीं जाना। महाभारत-उद्योगपर्वके ६८ वें अध्यायमें कथा है—संजय दूत बनकर पाण्डवोंके पास जाते हैं और वहाँसे लौटकर भगवान् वेदव्यासजीकी आज्ञासे भगवान् श्रीकृष्णके प्रभाव और ईश्वर-सम्बन्धी तत्त्वका वर्णन करते हैं—

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥ ९॥

'जहाँ सत्य है, जहाँ धर्म है, जहाँ लज्जा है, जहाँ सरलता है वहीं कृष्ण है और जहाँ कृष्ण है वहीं जय है ।'

पृथिवीं चान्तरिक्षञ्च दिवं च पुरुषोत्तमः ।
विचेष्टयति भूतात्मा क्रीडन्निव जनार्दनः ॥१०॥

'सब प्राणियोंके आत्मस्वरूप पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण खेल करते हुए-से पृथिवी, अन्तरिक्ष और देवलोकको घुमा रहे हैं ।'

स कृत्वा पाण्डवान्सत्रं लोकं सम्मोहयन्निव ।
अधर्मनिरतान्मूढान्दग्धुमिच्छति ते सुतान् ॥११॥

'वे ही भगवान्, लोगोंको मोहित करते हुए-से पाण्डवोंको निमित्त बनाकर अधर्मनिरत तुम्हारे मूर्ख पुत्रोंको भस्म करना चाहते हैं ।'

कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः ।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम् ॥१२॥

'भगवान् केशव कालचक्र, जगच्चक्र और युगचक्रको अपनी योगशक्तिसे निरन्तर घुमाते हैं ।'

कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च ।
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥१३॥

'मैं आपसे यह सत्य कहता हूँ कि वे भगवान् श्रीकृष्ण अकेले ही काल, मृत्यु और चराचर समस्त जगत्का शासन करते हैं ।'

ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः ।
कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव वर्धनः ॥१४॥

'महायोगी श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्का शासन करते हुए ही किसानकी तरह जगत्की वृद्धि करनेके लिये कर्मोंका आरम्भ करते हैं।'

तेन वञ्चयते लोकान्मायायोगेन केशवः।
ये तमेव प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः ॥१५॥

'भगवान् केशव उस अपनी योगमायासे मनुष्योंको ठगते हैं। जो मनुष्य केवल उसीकी शरणमें चले जाते हैं, वे मायासे मोहित नहीं होते।'

यह सुनकर धृतराष्ट्र संजयसे पूछते हैं कि 'माधव श्रीकृष्ण सब लोकोंके महान् ईश्वर हैं, इस बातको तू कैसे जानता है और मैं उन्हें क्यों नहीं जानता ?' संजय कहते हैं, 'हे राजन्! जिनका ज्ञान अज्ञानके द्वारा ढँका हुआ है, वे भगवान् श्रीकृष्णको नहीं जान सकते। आपमें वह ज्ञान नहीं है, इसलिये आप नहीं जानते, मैं जानता हूँ।' तदनन्तर उद्योगपर्वके ७० वें अध्यायमें फिर धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा कि 'हे संजय! श्रीकृष्णके विषयमें मैं तुझसे पूछता हूँ, तू मुझे कमलनयन श्रीकृष्णकी कथा सुना, जिससे मैं श्रीकृष्णके नाम और चरित्रोंको जानकर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णको प्राप्त होऊँ।' इसके बाद संजयने श्रीकृष्णके नाम, गुण और प्रभावका अनेक श्लोकोंमें वर्णन किया तो भी धृतराष्ट्र भगवान् श्रीकृष्णको भलीभाँति नहीं पहचान सके। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जिसपर भगवान्की दया होती है, वही भगवान्को पहचान सकता है।

भगवान्‌की प्रत्येक क्रियामें विलक्षण भाव भरा है। वे सर्व-शक्तिसम्पन्न, बुद्धिके सागर और बड़े ही कुशल थे। उनकी कोई भी क्रिया या उनका एक भी संकल्प कभी निष्फल नहीं होता था। कहीं उनकी कोई चेष्टा निष्फल हुई है तो वह उनकी इच्छासे ही हुई है। उस निष्फलतामें बड़ा रहस्य भरा रहता है। भगवान् जब पाण्डवोंके दूत बनकर हस्तिनापुर गये और उनके सन्धिरूप कार्यकी सिद्धि नहीं हुई, इसमें यही कारण है कि उनकी सन्धि करानेकी इच्छा ही नहीं थी। यह बात दूत बनकर जाते समय द्रौपदीके साथ उनकी जो बातचीत हुई है, उससे स्पष्ट सिद्ध है। द्रौपदी उस समय अनेक विलाप करती हुई (महाभारत उद्योगपर्व अध्याय ८२ में) भगवान्‌से प्रार्थना करती है—

सुता द्रुपदराजस्य वेदिमध्यात् समुत्थिता।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी तव कृष्ण प्रिया सखी ॥२१॥
आजमीढकुलं प्राप्ता स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः।
महिषी पाण्डुपुत्राणां पञ्चेन्द्रसमवर्चसाम् ॥२२॥
सुता मे पञ्चभिर्वीरैः पञ्च जाता महारथाः।
अभिमन्युर्यथा कृष्ण तथा ते तव धर्मतः ॥२३॥
साहं केशग्रहं प्राप्ता परिक्लिष्टा सभाङ्गता।
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां त्वयि जीवति केशव ॥२४॥

'हे कृष्ण! यज्ञवेदीसे उत्पन्न हुई राजा द्रुपदकी पुत्री, धृष्टद्युम्नकी बहिन, आपकी प्यारी सखी, आजमीढ-कुलमें ब्याही गयी महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू, इन्द्रके समान तेजस्वी पाँच पाण्डुपुत्रोंकी

महाराणी, उन पाँच वीरोंसे उत्पन्न पाँच महारथी पुत्र जो कि धर्मके नाते अभिमन्युके समान ही आपको प्रिय हैं, उनकी माता ऐसी मैं पाण्डुपुत्रोंके देखते हुए और हे केशव ! आपके जीवित रहते हुए केश पकड़कर सभामें लायी गयी और दुःखित की गयी थी ।'

जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चालेष्वथ वृष्णिषु ।
दासीभूतास्मि पापानां सभामध्ये व्यवस्थिता ॥२५॥

'पाण्डुपुत्रोंके, पाञ्चालोंके और वृष्णियोंके जीवित रहते हुए भी पापियोंकी सभामें लायी जाकर, मैं दासी बना ली गयी थी ।'

निरमर्षेष्वचेष्टेषु प्रेक्षमाणेषु पाण्डुषु ।
पाहि मामिति गोविन्द मनसा चिन्तितोऽसि मे ॥२६॥

'यह सब देखते हुए भी पाण्डव जब क्रोधरहित और निश्चेष्ट ही बने रहे तब 'हे गोविन्द ! मेरी रक्षा करो' ऐसा मैंने मनसे चिन्तन किया था ।'

अयन्ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धृतः ।
स्मर्तव्यः सर्वकार्येषु परेषां सन्धिमिच्छता ॥३६॥

'हे पुण्डरीकाक्ष ! शत्रुओंके साथ सन्धि करते समय सब कामोंमें यह दुःशासनके हाथसे खींची हुई मेरी वेणी आपको याद रखनी चाहिये ।'

दुःशासनभुजं श्यामं संच्छिन्नं पांशुगुण्ठितम् ।
यद्यहन्तु न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥३९॥

'यदि मैं दुःशासनकी श्याम भुजाको कटकर धूलिमें सनी हुई नहीं देखूँगी तो मेरे हृदयको कैसे शान्ति मिलेगी ?'

इत्युक्त्वा वाष्परुद्धेन कण्ठेनायतलोचना ।
रुरोद कृष्णा सोत्कम्पं सस्वरं वाष्पगद्गदम् ॥४२॥

'शोकावरुद्ध कण्ठसे इस प्रकार विलाप करके विशालनेत्रा द्रौपदी, काँपती हुई गद्गद होकर उच्चस्वरसे रोने लगी ।'

द्रौपदीके वचन सुनकर भगवान् दया करके कौरवोंको नष्ट करनेकी घोर प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं—

चलेद्धि हिमवान् शैलो मेदिनी शतधा फलेत् ।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत् ॥४८॥

'भले ही हिमालय पर्वत विचलित हो जाय, पृथिवीके सैकड़ों टुकड़े हो जायँ, तारोंके सहित स्वर्ग गिर पड़े, पर मेरे वचन व्यर्थ नहीं हो सकते ।'

सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे वाष्पो निगृह्यताम् ।
हतामित्रान् श्रिया युक्तानचिराद्द्रक्ष्यसे पतीन् ॥४९॥

'हे द्रौपदी ! अश्रुओंको रोको, मैं तुम्हारेसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू अपने पतियोंको शीघ्र ही राज्यश्रीसे युक्त और निहत-शत्रु अर्थात् जिनके शत्रु मर चुके हैं ऐसे देखेगी ।'

इससे सिद्ध है कि भगवान्‌को युद्ध अवश्यमेव कराना था, केवल संसारकी मर्यादा रखनेके लिये तथा अपने प्यारे पाण्डवोंका कलङ्क दूर करनेके लिये ही उनका हस्तिनापुर जाकर सन्धिके लिये चेष्टा करना समझा जाता है ।

युद्धमें अस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा करके प्रिय भक्त भीष्म-के लिये चक्र ग्रहण करनेमें भी उनकी इच्छा ही कारण है ।

भीष्मपर्वका यह प्रसंग देखनेसे माल्रूम होता है कि यह बड़े ही रहस्य और वीर-रससे भरी हुई प्रेममयी लीला है। भीष्मपितामह बड़े ही भक्त और श्रद्धालु थे। उनकी प्रसन्नताके लिये ही भगवान्‌ने यह विचित्र क्रिया की। वास्तवमें भगवान्‌की सम्पूर्ण क्रियाएँ निर्दोष और दिव्य हैं। उनकी दिव्यताका जानना साधारण बात नहीं है।

भगवान्‌के अनन्त दिव्य गुणोंकी महिमा कौन गा सकता है? संसारमें क्षमा, दया, शान्ति आदि जितने गुण दीखते हैं, तेज, ऐश्वर्य आदि जितनी विभूतियाँ प्रतीत होती हैं, शक्ति और प्रताप आदि जितने उच्च भाव हैं, उन सबको भगवान् श्रीकृष्णके तेजके एक अंशका ही विस्तार समझना चाहिये। भगवान् स्वयं कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०। ४१-४२)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान। अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को (अपनी योगमायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

ईश्वर दयालु और न्यायकारी है

सच्चिदानन्दघन अखिल विश्वेश्वर परमदयालु परमेश्वरकी सत्ताको स्वीकार करनेवाले प्रायः सभी मतोंके लोग इस बातको स्वीकार करते हैं कि ईश्वर दयालु और न्यायकारी है। ईश्वरमें केवल दयालुता या केवल न्यायकारिताका एकाङ्गी भाव नहीं है, उसमें ये दोनों ही गुण एक ही समय, एक ही साथ पूर्णरूपसे रहते हैं और वे जीवोंके प्रति व्यवहार करनेमें दोनों ही भावोंसे एक ही साथ काम

लेते हैं। इसपर कुछ लोग ऐसी शङ्का किया करते हैं कि 'न्याय और दया दोनों गुण एक साथ कैसे रह सकते हैं? अदालतमें न्यायासनपर बैठा हुआ जज यदि दयाके वश होकर दण्डके योग्य वास्तविक अपराधी व्यक्तिको बिल्कुल दण्ड न दे या उचितसे कम दे, तो क्या उसकी न्यायमें कोई बाधा नहीं आती? अथवा यदि वह अपराधीको पूरा दण्ड दे दे तो उसकी दया वहाँ क्या बिल्कुल बेकार नहीं रह जाती है? इसी प्रकार ईश्वरके लिये भी क्यों नहीं समझना चाहिये?'

इस शंकाका उत्तर देना सहज काम नहीं है। परमात्माके गुणोंका विवेचन करना और उनपर टीका-टिप्पणी करना मुझ-जैसे मनुष्यके लिये तो निरा लड़कपन ही है, परन्तु अपने चित्त-विनोदार्थ परमात्माके गुणगानकी भावनासे यत्किञ्चित् प्रयत्न किया जाता है। वास्तवमें मनुष्यकृत कानूनके साथ ईश्वरके कानूनकी समता कदापि नहीं की जा सकती। मनुष्य यदि स्वार्थसे कानून नहीं बनाता तो उसपर वातावरण और परिस्थितिका प्रभाव तो जरूर ही पड़ता है। भविष्यके विवेचनमें भी वह सर्वथा निर्भूल नहीं समझा जा सकता, आसक्ति या अन्य किसी कारणवश उसमें अन्यान्य प्रकारसे भी भूलके लिये गुंजाइश रह सकती है, परन्तु ईश्वरमें भूलके लिये तनिक भी गुंजाइश नहीं है। इसके सिवा ईश्वर दया, न्याय और उदारताकी अनन्त निधि होनेके कारण उसके कानूनमें भी दया, न्याय और उदारताकी बाहुल्यता रहती है। सच्ची बात तो यह है कि जगत्को सत्य समझनेवाला मनुष्य

की किश्त करके उसपर दो हजारकी डिग्री दे दी । जजकी दयालुता देखकर नारायणप्रसाद विह्वल हो गया । क्या इस फैसलेमें जज अन्यायी समझा जायगा ? क्या उसका यह काम रिश्वतखोरीका माना जायगा, अथवा क्या इसमें दयालुता नहीं मानी जायगी ? इसमें दया और न्याय दोनों ही हैं । जब यहाँकी कानूनमें ऐसा होता है, तब श्रीभगवान् अपने भक्तको उसकी इच्छानुसार फैसला दे दें तो क्या इसमें उनकी दयालुता या न्यायमें कोई दोष आता है ?

अब फौजदारीके दो उदाहरण देखिये—

गोविन्दराम और रामप्रसाद एक ही मुहल्लेमें रहते थे, वे आपसमें सदा ही तर्क-वितर्क किया करते । तर्कमें लड़ाईका डर रहता ही है । एक दिन परस्पर शास्त्रार्थमें रामप्रसादको अपने विपरीत सिद्धान्त सुनकर गुस्सा आ गया । क्रोधमें मनुष्यकी बुद्धि मारी जाती है । अतः उसने दो-चार हाथ जोरसे गोविन्दरामपर जमा दिये । गोविन्दरामने उसपर फौजदारी दावा कर दिया । रामप्रसादको इस बातका पता लगते ही उसने मैजिस्ट्रेटकी सेवामें जाकर सारी बातें सच-सच कह दीं । उसने कहा कि 'हम लोग धर्मके सम्बन्धमें आपसमें विवाद कर रहे थे, गोविन्दरामने मुझे न्याययुक्त ही फटकारा था । परन्तु अपने मनके बहुत विपरीत होनेसे मुझे गुस्सा आ ही गया, जिससे मेरेद्वारा यह अपराध बन गया । जो कुछ दोष है सो वास्तवमें मेरा ही है, मुझे अपनी करनीपर बड़ा ही पश्चात्ताप है, अब आप जो कुछ आज्ञा करें वही करनेको मैं तैयार हूँ ।' मैजिस्ट्रेटने कहा कि 'भाई, मैं इसमें

कुछ भी नहीं कर सकता, तुम गोविन्दरामके पास जाकर उससे क्षमा-प्रार्थना करो, वह चाहे तो तुम्हें क्षमा कर सकता है, तुम्हारे लिये यही सबसे सरल उपाय है।' मैजिष्ट्रेटकी बात सुनकर रामप्रसाद गोविन्दरामके घर गया और उसके चरणोंमें पड़कर अपना दोष स्वीकार करते हुए क्षमा-प्रार्थना की और कहा कि 'अब मैं आपकी चरण-शरण आ पड़ा हूँ, मैं जरूर अपराधी हूँ, पर मुझे छोड़ना पड़ेगा।' उसकी अनुनय-विनय सुनकर और उसके हृदयमें सच्चा पश्चात्ताप देखकर गोविन्दराम राजी हो गया और उसने मुकद्दमा उठानेकी दरखास्त दे दी। मैजिष्ट्रेटने दरखास्त मंजूर करके रामप्रसादको बेदाग छोड़ दिया। क्या इसमें कोई भी मनुष्य यह कह सकता है कि गोविन्दराम या मैजिष्ट्रेटने कोई अन्याय किया, या उन्होंने दया नहीं की? एक समय भक्त अम्बरीषका अपराध करनेपर दुर्वासा मुनिको भगवान् श्रीविष्णुने भी उसीकी शरणमें भेजा था, वहाँ जानेपर अम्बरीषने चक्रसे विनय करके उनके प्राण बचा दिये थे! दया और न्याय दोनों ही क्रियाएँ साथ-साथ सम्पन्न हुईं।

शिवराम नामक एक भले स्वभावका सदाचारी मनुष्य एक गाँवमें रहता था, उसी गाँवमें एक डाकूका घर था। शिवराम कभी-कभी उससे डकैतीकी घटनाएँ सुनता था। कुसङ्गका फल बहुत बुरा होता है। शिवरामका मन एक दिन ललचाया, लोभने उसकी बुद्धि बिगाड़ दी, परिणाम-ज्ञानशून्य होकर वह नन्दराम नामक गृहस्थके घर डाका डालकर तीन हजार रुपये नकद और

कुछ गहने लूट लाया । आत्मरक्षाके लिये रोकनेवालोंपर दो-चार लाठियाँ भी जमा दीं ।

धन लेकर घर पहुँचा और अपनी स्त्रीसे सारा हाल कहा। शिवरामकी पत्नी बड़ी साध्वी थी, उसे स्वामीके इस कुकृत्यको सुनकर बड़ा दुःख हुआ । उसने चरणोंमें सिर टेककर स्वामीको धर्म सुझाया और प्रार्थना की कि, यह धन अभी आप लौटा दीजिये । शिवराम वास्तवमें अच्छा आदमी था, वह डकैती-पेशावाला तो था ही नहीं, कुसङ्गसे उसकी बुद्धि नष्ट हो गयी थी । स्त्रीके समझानेपर उसे अपना अपराध दीपककी ज्योतिकी भाँति स्पष्ट दीखने लगा । पत्नीकी सलाहसे वह तुरन्त धन लेकर कलक्टर साहेबके बंगलेपर गया और रुपये तथा गहने उनके पास रखकर आत्मसमर्पण करते हुए उसने गिड़गिड़ाकर कहा कि 'मुझसे बड़ा भारी अपराध हो गया, कुसङ्गसे मेरे मनमें लोभ पैदा हो गया था, जिससे मेरी मति मारी गयी, मैंने बेचारे नन्दरामको अन्यायरूपसे सताया और वह कुकर्म किया जो मेरे बाप-दादोंमें किसीने भी नहीं किया था । मेरा अपराध किसी प्रकार क्षम्य तो नहीं है परन्तु मैं आपके शरण हूँ, आप मुझे बचाइये, भविष्यमें मैं कभी ऐसा कुकर्म नहीं करूँगा ।' कलक्टरको उसकी बातपर विश्वास हो गया, उसने सोचा कि यदि इसकी नीयत खराब होती तो माल लेकर हाजिर क्यों होता ? कलक्टरने उसे वहीं रोककर पुलिसके द्वारा नन्दरामको बुलवाया । नन्दराम पुलिसमें इत्तला करने जा ही रहा था कि उसको एक कानिष्टेबलने आकर कहा—

'तुम्हारे घर जिसने डकैती की है, वह मालसमेत कलक्टर साहेबके बंगलेपर हाजिर है, साहेबने तुम्हें अभी बुलाया है ।' माल मिलनेकी बात सुनते ही नन्दरामको बड़ी खुशी हुई और वह तुरन्त ही सिपाहीके साथ साहेबके बंगलेपर जा पहुँचा । उसे देखकर शिवरामने उसके चरण पकड़ लिये और अपना अपराध क्षमा करनेके लिये रो-रोकर प्रार्थना करने लगा । नन्दरामने उसकी एक भी नहीं सुनी और कहा कि 'तुझे जेल भिजवाये बिना मैं कभी नहीं छोड़ूँगा ।' मामला कोर्टमें गया, कलक्टर साहेबके पूछनेपर शिवरामने वही बातें साफ-साफ फिर कह दीं जो उसने बंगलेपर कही थीं, इसपर साहेबने नन्दरामसे पूछा कि, 'बताओ, इसकी चालचलनके सम्बन्धमें तुम्हारा क्या खयाल है ? नन्दरामको स्वीकार करना पड़ा कि, 'मैं इसे जानता हूँ, यह अच्छे घरानेका लड़का है, डाकुओंकी सङ्गतिसे ही इसको दुर्बुद्धि पैदा हुई होगी परन्तु इसे सजा जरूर मिलनी चाहिये, नहीं तो यह फिर ऐसे ही काम करेगा ।' कलक्टर दयालु था, वह शिवरामकी सरलता और सत्यतापर मुग्ध हो गया और उसने भविष्यके लिये सावधान करके शिवरामको छोड़ दिया ।' इस प्रकार दया करनेवाला कलक्टर क्या अन्यायी समझा जायगा ? इसी प्रकार सच्चे और सरल हृदयसे भगवान्के शरण होनेपर वे भी मुक्त कर देते हैं ।

यहाँपर यह प्रश्न उठ सकता है, ये सब उदाहरण तो साधारण अपराधोंके हैं, खून आदिके मामलेमें विपक्षके लोग राजी हो जायँ तो भी न्यायकारी जज अपराधीको नहीं छोड़ सकता,

यदि छोड़ देता है तो वह अवश्य ही अन्यायी समझा जाता है। इसका उत्तर देनेसे पूर्व यह समझना चाहिये, खून या मनुष्य-वध तीन प्रकारसे किया जाता है। न्यायके लिये, भूलसे, या जान-बूझकर अन्यायसे। न्यायके लिये किया जानेवाला मनुष्य-वध तो खूनके अपराधमें गिना ही नहीं जाता। निःस्वार्थभावसे धर्मकी रक्षाके लिये, लोकहितके लिये, न्यायरक्षाके लिये या आत्मरक्षाके लिये जो नर-वध होते हैं, उनमें तो मारनेवाला दण्डनीय ही नहीं होता। अपराधीको न्याययुक्त फाँसीकी सजा देनेवाले जज या फाँसीकी सजा पाये हुए मनुष्यको फाँसीपर लटकानेवाले जल्लादको कोई अपराधी नहीं मानता। यथार्थमें डाकुओंसे धन-प्राणको बचानेके लिये उनपर शस्त्र-प्रहार करनेवाला भी पुरस्कारका पात्र समझा जाता है। हालमें एक बंगाली युवतीने बुरी नीयतसे घरमें घुस आनेवाले एक नौजवानको मार डाला था। वह पकड़ी गयी, परन्तु कोर्टने उसके कार्यकी प्रशंसा करते हुए उसे छोड़ दिया। अवश्य ही मनुष्यके न्यायमें इस गलतीके लिये गुंजाइश रह सकती है कि वह किसी स्थलमें न्यायानुकूल कर्म करनेवालेको भी दण्डनीय समझ लेता है परन्तु अन्तर्यामी सर्वतोचक्षु परमात्माके यहाँ तो ऐसी भूलकी कोई सम्भावना ही नहीं।

दूसरे प्रकारका खून भूलसे होता है। ऐसे खूनका अपराधी कसूरवार तो समझा जाता है, क्योंकि उसकी असावधानीसे ही नर-हत्या होती है, परन्तु उसका कसूर पहलेकी अपेक्षा बहुत हल्का समझा जाता है। ऐसा अपराधी चेष्टा करनेपर छूट भी

जाता है या कोशिशकी कमीसे उसे कुछ सजा भी हो सकती है।

तीसरे प्रकारका खून क्रोध, लोभ, वैर आदिके कारण जान-बूझकर किया जाता है, ऐसा अपराधी कसूर साबित होनेपर यहाँके कानूनके अनुसार प्रायः न्यायालयसे नहीं छूट सकता।

इनमें पहलेके उदाहरण तो दिये जा चुके हैं, ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। श्रीखड्गबहादुर नामक नैपाली युवकने अत्याचारी हीरालाल अग्रवालको मार डाला था, उसे हल्का दण्ड भी हो गया था परन्तु लोगोंके कहनेपर वाइसरायने उसे छोड़ दिया।

दूसरेके लिये निम्नलिखित उदाहरण दिया जाता है—राजपूतानेके एक गाँवमें रामसिंह नामक एक राजपूत नवयुवक जंगलमें पहाड़ीके नीचे निशाना मारना सीख रहा था, पास ही उसका मित्र सजनसिंह खड़ा था। निशानेपर मारनेके लिये वह बन्दूकका घोड़ा दबा ही रहा था कि सामनेसे एक आदमी जाता दिखलायी पड़ा, उसको बचानेके लिये उसने हाथ घुमाया, घोड़ा दब गया और गोली छूटकर पास खड़े हुए सजनसिंहके हृदयको चीरकर पार हो गयी, वह धड़ामसे गिर पड़ा। रामसिंहके होश हवा हो गये। पुलिस आयी। रामसिंह खूनके अपराधमें पकड़ा गया, एक तो उसे अपने हाथसे मित्रके मरनेका दुःख था और

दूसरा यह राजसंकट ! बेचारेकी बड़ी ही दुर्दशा थी । कोर्टमें मामला पेश हुआ । रामसिंहने सारी घटना सच-सच सुनाकर दुःख प्रकट करते हुए क्षमा माँगी । हाकिमने सजनसिंहके घर-वालोंसे पूछा कि, 'आपलोग सच कहें कि आपकी समझसे रामसिंहकी नीयतमें कोई दोष था या नहीं ? यह जिस गलतीको बता रहा है उसके सम्बन्धमें आप लोगोंकी क्या धारणा है ? उन लोगोंने कहा कि 'हमलोग भी इस बातपर तो विश्वास करते हैं कि इसकी नीयत सजनसिंहको मारनेकी नहीं थी, वह इसका मित्र भी था, हम लोग भी उस समय वहीं उपस्थित थे, परन्तु इसकी असावधानीसे वह मारा गया, अतएव इसे दण्ड अवश्य मिलना चाहिये ।' हाकिमने उसकी नीयत और सत्यतापर विश्वासकर आगेके लिये सतर्क करते हुए उसे बेदाग छोड़ दिया । क्या इस प्रकार दया करनेवाले हाकिमको कोई अन्यायी कह सकता है ? जब मनुष्य भी इस तरह दया और न्यायका बर्ताव एक साथ कर सकता है तब शरण जानेपर न्यायकी रक्षा करते हुए ही परमात्मा उसके अपराधोंको क्षमा कर दें, इसमें क्या आश्चर्य है ?

इस उदाहरणपर एक प्राचीन गाथाका स्मरण हो आता है जिसमें भूलसे अपराध करनेवाले परम धार्मिक पुरुषको भी दण्ड भोगना पड़ा था । इतिहास महाराज दशरथका है, जिनके हाथसे मातृ-पितृभक्त श्रवणकुमार मारा गया था । इस इतिहासको लेकर लोग यह प्रश्न किया करते हैं कि 'जब महाराज

दशरथका भूलसे किया हुआ अपराध क्षमा नहीं हुआ तब यह कैसे माना जा सकता है कि भूलसे किये हुए अपराधीका अपराध क्षमा हो जाता है ?' इस शंकाका उत्तर इतिहाससहित इस प्रकार है—

महाराज दशरथ एक समय रातको वनमें हिंसक पशुओंके शिकारके लिये गये थे। एक जगह उन्होंने नदीमें हाथीकी गर्जना-का-सा शब्द सुनकर तीक्ष्ण शब्दवेधी बाण मारा, उसी क्षण किसीके कराहनेकी स्पष्ट आवाज आयी और यह शब्द सुने कि 'अरे, मुझ निर्दोष तपस्वीको बिना अपराध किसने मारा ? मैंने किसीकी क्या बुराई की थी जो इस प्रकार मुझे मार डाला, अब मेरे बूढ़े मा-बापकी कौन सेवा करेगा ? उन्हें कौन खिलावे-पिलावेगा ?' इन दयनीय शब्दोंको सुनकर दशरथके हृदयमें बड़ी व्यथा हुई, उन्होंने घबराये हुए दौड़कर नदी-तीरपर आकर देखा तो एक जटाधारी तपस्वी ऋषि खूनसे लथपथ पड़े हैं। दशरथके क्षमा-प्रार्थना करनेपर ऋषिने कहा कि 'मेरे अन्धे मा-बाप प्यासे थे, मैं उनके लिये जल भरने आया था, घड़ा भरनेमें शब्द हुआ इसीपर तुमने बाण मार दिया। मेरे माता-पिता मेरी बाट देखते होंगे, जाकर उन्हें यह वृत्तान्त कहो, उनको प्रसन्न करो, जिससे वह तुम्हें शाप न दे दें। मेरे शरीरसे बाण निकाल दो, मुझे बड़ी पीड़ा हो रही है। तुम्हें ब्रह्म-हत्याका पाप नहीं लगेगा, क्योंकि मैं श्रवणकुमार नामक वैश्य हूँ।' इसपर दशरथजीने उनका बाण निकाला और उसके

निकलते ही श्रवणके प्राण भी निकल गये। राजा जल लेकर श्रवणके माता-पिताके पास गये। वे पुत्रकी प्रतीक्षा कर रहे थे, पैरोंकी आहट सुनकर उन्होंने देरसे आनेका कारण पूछा। दशरथने अपना नाम-पता बताकर बड़ी ही विनयके साथ सारा हाल उन्हें सुनाया और जल पीनेके लिये प्रार्थना की। बूढ़े दम्पति एक बार मूर्छित हो गये, फिर होशमें आकर कहने लगे—'राजन्! अपना यह अशुभ कर्म तुम स्वयं आकर हमसे न कहते तो तुम्हारे सिरके हजारों टुकड़े हो गये होते। तुमने भूलसे यह कार्य किया है, कहीं जान-बूझकर करते तो समस्त रघुकुल ही नष्ट हो जाता। अब हम दोनोंको भी वहीं ले चलो।' दशरथ दोनोंको वहाँ ले गये। वे दोनों पुत्रके शरीरको स्पर्श करके वहीं गिर पड़े और भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगे। दुखी ऋषिने मरते समय कहा—'दशरथ जैसे मैं आज पुत्रवियोगके दुःखसे मर रहा हूँ, वैसे ही तुम्हारी मृत्यु भी पुत्र-वियोगके शोकसे ही होगी।' इतना कहकर वे दोनों भी परलोक सिधार गये।

तदनन्तर राजाने यज्ञ किया जिसके फलस्वरूप राजाके श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न ये चार पुत्र हुए। श्रीरामको बनवास हुआ और इसी पुत्र-वियोगके कारण ही राजाकी मृत्यु हुई। यह इतिहास है। इससे राजाको दण्ड अवश्य मिला परन्तु यह दण्ड वास्तवमें बहुत ही अल्प था। पुत्र वनवासी हुए न कि श्रवणकी भाँति उनका चिर-वियोग हो गया था। हमारी समझसे

यदि राजा दशरथ विशेष चेष्टा करते तो सम्भवतः यह दण्ड भी क्षमा हो सकता था। राजाकी व्याकुल दशाको देखकर श्रवणने तो अपनी ओरसे उन्हें क्षमा कर ही दिया था और माता-पिताको समझानेके लिये भेजा था। इसी प्रकार श्रवणके माता-पिताकी विशेष दया हो जाती तो वहाँसे भी दशरथजी बेदाग छूट सकते थे। उन्होंने जितनी कोशिश की, उतना ही कार्य भी हुआ। कोशिश करना भी प्रायश्चित्त ही है। सम्भव है महाराज दशरथ उस समय परमेश्वरसे विशेष प्रार्थना करते और ईश्वर चाहते तो श्रवणकुमारके पिताकी बुद्धिमें पवित्रता और दयाका सञ्चार करके उनके द्वारा दशरथको क्षमा करवा देते। यदि ऐसा होता तो ईश्वरके न्यायमें कोई भी दोष नहीं समझा जाता।

बात तो यह है कि मनुष्यके द्वारा कैसा भी अपराध क्यों न बन जाय, ईश्वरकी शरण होकर उसके अनुकूल प्रायश्चित्तादि उपाय करनेसे, बिना ही भोग किये उसके पाप क्षमा हो सकते हैं। प्रायश्चित्त आदि उपायोंसे भी फलभोगके समान ही पापोंका नाश हो जाता है, क्योंकि प्रायश्चित्त भी एक प्रकारसे भोग ही है।

अवश्य ही वर्तमानकालके कानूनमें तीसरे प्रकारके जान-बूझकर बुरी नीयतसे किये हुए खूनके लिये दयाका ऐसा कोई प्रयोग नहीं मिल सकता, जिसका उदाहरण देकर ईश्वरकी दया समझायी जा सके परन्तु इतना तो सभीको मानना होगा कि सच्चे न्यायकारी प्रजाहितैषी राजाका उद्देश्य भी तो दण्डके कानून बनाने और तदनुसार दण्ड देनेमें अपराधीपर दया करना ही होता है।

न्यायी राजा अपराधीको दण्ड देकर उसे शिक्षा देना और उसका सुधार करना चाहता है, द्वेषसे उसे दुःख पहुँचाना और अकारण ही उसकी हत्या करना नहीं चाहता। हत्याका उद्देश्य तो द्वेषपूर्ण और प्रतिहिंसावृत्तिवाले मनुष्यका ही हो सकता है। इतना होनेपर भी न्याय-परायण राजाकी तुलना ईश्वरके साथ कदापि नहीं की जा सकती। ईश्वरका कानून दया, सुहृदता और जीवोंके हितसे पूर्ण होता है। हम लोग तो उसकी कल्पनातक भी नहीं कर सकते।

ईश्वरका दण्ड भी वरके सदृश होता है। ईश्वरके न्यायसे फरियादी और असामी दोनोंका ही परिणाममें हित और उद्धार होता है, यही उसकी विशेषता है। परम दयालु परमात्माके कानूनके अनुसार जो अपराधी अपनी भूलको सच्चे दिलसे स्वीकार करता हुआ भविष्यमें फिर अपराध न करनेकी प्रतिज्ञा करता है और सच्चे हृदयसे ईश्वरके शरण होकर सर्वस्वसहित अपनेको उसके चरणोंमें अर्पण कर देता है एवं ईश्वरकी कड़ी-से-कड़ी आज्ञाको—उसके भयानक-से-भयानक विधानको, उसके प्रत्येक न्यायको सानन्द स्वीकार करता तथा उसे पुरस्कार समझता है, साथ ही अपने किये हुए अपराधोंके लिये क्षमा नहीं चाहकर दण्ड ग्रहण करनेमें खुशी होता है। ऐसे सरलभावसे सर्वस्व अर्पण करनेवाले शरणागत भक्तको भगवान् अपराधोंसे मुक्त करके उसे अभय कर देते हैं। इसमें दयालु ईश्वरका न्याय ही सिद्ध होता है। ऐसे भाववाले भक्तको दण्डसे मुक्त करना ही परमात्माके राज्यका दया

और न्यायपूर्ण नियम है। इसीसे भगवान्‌में दया और न्याय दोनों एक ही साथ रहते हैं।

श्रीगीताजीमें भगवान् स्पष्ट कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(९।३०-३१; १८।६६)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य-भावसे मेरा भक्त हुआ मुझको निरन्तर भजता है वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।' 'अतएव वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है, हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त (कदापि) नष्ट नहीं होता।' 'इसलिये सब कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माके ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझे समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक न कर !'

भगवान्‌की दया

कुछ मित्र मुझे ईश्वरके सद्‌गुणोंके सम्बन्धमें लिखनेको कहते हैं, परन्तु मैं इस विषयमें अपनेको असमर्थ समझता हूँ, क्योंकि ईश्वरके सद्‌गुणोंका कोई पार नहीं है। संसारमें जितने उत्तम गुण देखने, सुनने और पढ़नेमें आते हैं, वे सभी परिमित—ससीम हैं और उस अप्रमेय—असीम परमात्माके एक अंशके द्वारा प्रकाशित हो रहे हैं। 'एकांशेन

स्थितो जगत्' (गीता १० । ४२) । परमात्माके गुणोंका सम्यक् प्रकारसे वर्णन कोई भी नहीं कर सकता । वेद-शास्त्रमें जो कुछ कहा गया है, वह सर्वथा स्वल्प ही है, अन्य गुणोंकी बात तो अलग रही । उस दयामयकी केवल एक दयाके विषयमें खयाल किया जाय तो मुग्ध हो जाना पड़ता है । अहा ! उसकी असीम दयाकी थाह कौन पा सकता है ? जब एक दयाका वर्णन ही मनुष्यके लिये अशक्य है तो सम्पूर्ण सद्गुणोंका वर्णन करना असम्भव है । लोग उन्हें दयासिन्धु कहते हैं, वेद-शास्त्रोंने भी उनको दयाका समुद्र बताया है, परन्तु विचार करनेपर प्रतीत होता है कि यह उपमा समीचीन नहीं है, यह तो उसकी अपरिमित दयाके एक अंशमात्रका ही परिचय है । क्योंकि समुद्र परिमित है और सब ओरसे सीमाबद्ध है परन्तु अपरिमेय परमात्माकी दया तो अपार है,उसके साथ अनन्त समुद्रोंकी भी तुलना नहीं की जा सकती। अवश्य ही जो उन्हें दयासिन्धु और दयासागर बताते हैं, मैं उनकी निन्दा नहीं करता। कारण, संसारमें जो बड़ी-से-बड़ी चीज़ प्रत्यक्ष देखनेमें आती है, बड़ोंके साथ उसीकी तुलना देकर लोग समझाया करते हैं ।

जहाँ मन और बुद्धिकी पहुँच नहीं, वहाँ एकबारगी उसका वाणीसे तो वर्णन हो ही कैसे सकता है ? तथापि जो कुछ वर्णन किया जाता है सो वाणीसे ही किया जाता है, चाहे वह कितना ही क्यों न हो, इसलिये भगवान्की दयाका जो वर्णन वाणीसे किया गया है, वह पर्याप्त नहीं है । ईश्वरकी दया उससे बहुत ही

अपार है। परमात्माकी दया सम्पूर्ण जीवोंपर इतनी अपार है कि जो मनुष्य इसके तत्त्वको समझ जाता है वह भी निर्भय हो जाता है, शोक-मोहसे तर जाता है, अपार शान्तिको प्राप्त होता है और वह स्वयं दयामय ही बन जाता है। ऐसे पुरुषकी सम्पूर्ण क्रियाओं-में भी दया भरी रहती है। उससे किसीकी भी हिंसा तो हो ही नहीं सकती।

दयामय परमात्माकी सब जीवोंपर इतनी दया है कि सम्पूर्ण-रूपसे तो उस दयाको मनुष्य समझ ही नहीं सकता। वह अपनी समझके अनुसार अपने ऊपर जितनी अधिक-से-अधिक दया समझता है, वह भी नितान्त अल्प ही होती है। मनुष्य ईश्वर-दयाकी यथार्थ कल्पना ही नहीं कर सकता। भगवान्‌की वह अनन्त दया सबके ऊपर समभावसे गंगाके प्रवाहकी भाँति नित्य-निरन्तर चारों ओरसे बह रही है। इस दयासे जो मनुष्य जितना लाभ उठाना चाहता है, उतना ही उठा सकता है। खेदकी बात है कि लोग इस रहस्यको न जाननेके कारण ही दुखी हो रहे हैं। यह उनकी मूर्खता है। इन लोगोंकी वही दशा समझनी चाहिये, जैसी उस मूर्ख प्यासे मनुष्यकी है जो नित्य-निरन्तर शीतल सुमधुर जलको प्रवाहित करनेवाली भगवती गंगाके किनारे पड़ा हो, परन्तु ज्ञान न होनेके कारण जल न ग्रहणकर प्यासके मारे तड़प रहा हो।

ईश्वरकी दया अपार है परन्तु जो जितनी मानता है उतनी ही दया उसको फलती है इसलिये उस ईश्वरकी जितनी अधिक-से-

अधिक दया तुम अपने ऊपर समझ सको उतनी समझनी चाहिये। तुम्हारी कल्पना जितनी अधिक होगी, तुम्हें उतना ही अधिक लाभ होगा। यद्यपि भगवान्‌की दयाका थाह उसी प्रकार किसीको नहीं मिलता, जैसे विमानपर बैठकर आकाशमें उड़नेवाले मनुष्य-को आकाशका थाह नहीं मिलता, परन्तु इस दयाका थोड़ा-सा रहस्य जाननेपर भी मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। जैसे अथाह गङ्गाके प्रवाहमेंसे मनुष्यकी प्यास बुझानेके लिये एक लोटा गंगा-जल ही पर्याप्त है वैसे ही उस अपार, अपरिमित दयासागरकी दयाके एक कणसे ही मनुष्यकी अनन्त जन्मोंकी शोकाग्नि सदाके लिये शान्त हो जाती है। यह तुलना भी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि साधारण जलबुद्धिसे पीये हुए गङ्गाजलके एक लोटे जलसे तो मनुष्यकी प्यास थोड़ी देरके लिये शान्त होती है, परन्तु ईश्वरकी दयाके कणसे तो भय, शोक और दुःखोंकी निवृत्ति एवं शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति सदाके लिये हो जाती है। अतएव सब-को चाहिये कि उस परमेश्वरके शरण होकर उसकी दयाकी खोज करें।

भगवान्‌की दया सर्वथा-सर्वदा और सर्वत्र व्याप्त है! सुख या दुःख, जय या पराजय जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह ईश्वर-की दयासे पूर्ण है और स्वयं ईश्वरका ही किया हुआ विधान है। उसीकी दया इस रूपमें प्रकट हुई है। मनुष्य जब इस रहस्यको जान लेता है तब उसे सुख और विजय मिलनेपर जो हर्ष प्राप्त होता है, वही दुःख और पराजयमें भी होता है। जबतक ईश्वर-

के विधानमें सन्तोष नहीं है और सांसारिक सुख-दुःखादिकी प्राप्तिमें हर्ष-शोक होता है, तबतक मनुष्यने भगवान्की दयाके तत्त्वको वास्तवमें समझा ही नहीं है। जब ईश्वरको कर्मोंके अनुसार फल देनेवाला, न्यायकारी, परम प्रेमी, परम हितैषी, परम दयालु और सुहृद् समझ लिया जायगा, तब उनके किये हुए सभी विधानोंमें आनन्दका पार न रहेगा। विषयी और पामर पुरुषोंके हृदयमें तो स्त्री-पुत्र, धन-धामकी प्राप्तिमें क्षणिक आनन्द होता है, किन्तु दयाके मर्मज्ञ उस पुरुषको तो पुत्रकी उत्पत्ति और नाशमें, धनके लाभ और हानिमें, शरीरकी नीरोगता और रुग्णतामें तथा अन्यान्य सम्पूर्ण पदार्थोंकी प्राप्ति और विनाशमें, जैसे-जैसे वह भगवान्की दयाके प्रभावको समझता जायगा, वैसे-वैसे ही नित्य-निरन्तर उत्तरोत्तर अधिकाधिक विलक्षण आनन्द, शान्ति और समताकी वृद्धि होती जायगी।

जो पुरुष भगवान्की दयाके यथार्थ प्रभावको जान लेता है, उसके उद्धारकी तो बात ही क्या है? वह दूसरोंके लिये भी मुक्तिका दाता बन जाता है। क्योंकि भगवत्कृपा ऐसी ही वस्तु है। वह भगवत्कृपा मूकको वाचाल बना देती है और पङ्गुको पर्वत लाँघनेकी शक्ति देती है। संसारमें न होनेवाले काम वह दया करा देती है। परमात्मा सर्व-समर्थ हैं, उनके लिये कोई भी काम अशक्य नहीं है। जीव सब प्रकारसे असमर्थ है, प परमेश्वरकी दया और आज्ञासे वह भी चाहे सो कर सकता है मच्छर ब्रह्मा बन सकता है। अब यह प्रश्न उठता है कि ज

सभी जीवोंपर भगवान्‌की दया सर्वथा अपार और सम है, तब उनकी दुर्दशा क्यों हो रही है? इसका उत्तर यह है कि लोग भगवान्‌की दयाके प्रभावको नहीं जानते। एक दरिद्रके घरमें पारस है, परन्तु जैसे वह पारसका ज्ञान न होनेके कारण दरिद्रता-के दुःखसे दुखी हो दीनताके साथ भीख माँगता फिरता है वैसे ही दयाके तत्त्वको न समझनेके कारण सब जीव दुखी हो रहे हैं। लोगोंको चाहिये कि वे दयाके तत्त्वको जाननेके लिये तत्पर होकर चेष्टा करें। परमात्माकी दया जाननेके लिये मनुष्यको परमेश्वरसे नित्य गद्‌गद-वाणीसे विनयपूर्ण प्रार्थना करनी चाहिये। प्रार्थनासे, भजन-ध्यानसे, उसकी दयाके महत्त्वको यत्किञ्चित् जाननेवाले पुरुषोंका सङ्ग करनेसे, सत्-शास्त्रोंके विचारसे और परमेश्वरके किये हुए समस्त विधानोंमें दयाकी खोज करनेसे मनुष्य दयाके तत्त्वको जान सकता है।

यद्यपि भगवान्‌की दयाके तत्त्वको बतानेवाले महात्माओंका मिलना बहुत कठिन है तथापि चेष्टा करनी चाहिये। जो महात्मा दयाके महत्त्वको कुछ जानते हैं वे भी जितना जानते हैं उतना वाणीद्वारा वर्णन नहीं कर सकते। क्योंकि भगवान्‌की इतनी दया है कि सारे संसारकी दयाको इकट्ठी करो तो वह भी दयासागरकी दयाके एक कणके बराबर नहीं हो सकती।

जिसके घरमें पारस है उसकी दरिद्रताका नाश—जैसे पारस-के प्रभावको जानते ही हो जाता है, वैसे ही भगवान्‌की दयाके प्रभावको समझनेपर मनुष्यके सब प्रकारके दुःखोंका सर्वथा नाश

हो जाता है। जो मनुष्य भगवान्‌की दयाके प्रभावको जान जाता है, वह पद-पदपर उस दयालुका स्मरण करके नित्य-निरन्तर आनन्दमें डूबा रहता है। अपने ऐसे प्रियतम सुहृद्‌को कोई कैसे भूल सकता है? वह जो कुछ क्रिया करता है, सब उस परम दयालु परमेश्वरकी आज्ञानुसार ही करता है। उसकी कोई भी क्रिया परमात्माकी इच्छाके विपरीत नहीं हो सकती। जब साधारण सत्पुरुष ही अपने उपकारी और दयालुको भूलकर उसके विपरीत क्रिया नहीं करता तब परमात्माकी दयाके प्रभावको जाननेवाले महात्मा पुरुष परमात्माको कैसे भूल सकते हैं और कैसे उनके विपरीत कोई क्रिया कर सकते हैं? ऐसे पुरुषोंद्वारा किया हुआ आचरण ही 'सदाचार' कहलाता है और लोग उसे प्रमाण मान-कर उसीके अनुसार चलते हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

अब यह समझना चाहिये कि दया किसको कहते हैं। 'किसी भी दुःखी, आर्त-प्राणीको देखकर उसके दुःख एवं आर्तता-की निवृत्तिके लिये अन्तःकरणमें जो द्रवतायुक्त भाव पैदा होता है उसीका नाम दया है।' परमेश्वरकी यह दया सब जीवोंपर समानभावसे सदा-सर्वदा अपार है। जीव कितना भी परमेश्वरके विपरीत आचरण करे, परन्तु परमेश्वर उसको सदा ही दयाकी दृष्टिसे देखते हैं। इसके उपयुक्त हमें संसारमें कोई उदाहरण ही नहीं मिलता। माताका उदाहरण दिया जाता है, वह कुछ अंशमें ठीक

भी है। बालक बहुत कुपात्र और नीच वृत्तिवाला है, नित्य अपनी माताको सताता है, गाली देता है, ऐसा होनेपर भी माता बालकके मंगलकी ही कामना करती है, कभी उसका पतन या नाश नहीं चाहती। यह उसकी दया है, परन्तु भगवान्‌की दयाको समझनेके लिये यह दृष्टान्त सर्वथा अपर्याप्त है। ऐसा भी देखा जाता है कि विशेष तङ्ग करनेपर दुःख सहनेमें असमर्थ होनेके कारण स्वार्थवश माता भी बालकको त्याग देती है और कभी-कभी उसके अनिष्टकी इच्छा भी कर सकती है परन्तु परम पिता परमेश्वरके कोई कितना ही विरुद्ध आचरण क्यों न करे, वह कभी न तो उसका त्याग ही करते हैं और न अनिष्ट ही चाहते हैं। यह उनकी परम दयालुताका निदर्शन है। विपरीत आचरण करनेवालेको भगवान् जो दण्ड देते हैं वह भी उनकी परम दया है। बालकके अनुचित आचरण करनेपर जैसे गुरु उसके हितके लिये एवं उसे दुराचारसे हटानेके लिये दण्ड देता है अथवा जैसे चोरी करनेवाली और डाका डालनेवाली प्रजाको न्यायकारी राजा जो उचित दण्ड देता है, वह गुरु और राजाकी दया ही समझी जाती है वैसे ही परमात्मारूप गुरुके किये हुए दण्ड-विधानको भी परम दया समझनी चाहिये। यह उदाहरण भी पर्याप्त नहीं है। गुरु तथा राजासे भूल भी हो सकती है, किसी अन्य कारणसे भी वे प्रमादवश दण्ड दे देते हैं, परन्तु ईश्वरका दण्ड-विधान तो केवल दयाके कारण ही होता है। हम जब परमात्माकी दयापर विचार करते हैं तो हमें पद-पदपर परमात्माकी दयाके दर्शन होते हैं। प्रथम तो परमेश्वरके नियमोंकी ओर ही देखिये, वे कितने दयासे

भरे हैं। कोई जीव कैसा भी पापी क्यों न हो, अनेक तिर्यक्-योनियोंके भोगनेपर उसको भी अन्तमें परमात्मा मनुष्यका शरीर देते ही हैं। यदि उसके पापोंकी ओर ध्यान दिया जाय तो उसे मनुष्यका शरीर मिलनेकी बहुत ही कम गुंजाइश रह जाती है। परन्तु यह उस परमात्माकी हेतुरहित परम दयाका ही कार्य है जो पुनः उसको मनुष्य-शरीर देकर सुधारका मौका देता है।

गोसाईंजी कहते हैं—

आकर चारलाख चौरासी। योनिन भ्रमत जीव अविनासी॥
कबहुँक करि करुणा नरदेही। देत ईश बिन हेतु सनेही॥

दूसरा कानून है, कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, जब वह भगवान्‌की शरण हो जाता है अर्थात् अबसे सम्पूर्ण पापोंको छोड़कर भगवान्‌के अनुकूल बन जाता है तो भगवान् उसके पिछले सारे पाप नाशकर उसे तत्काल मुक्ति-पद दे देते हैं। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० ६। १८। ३३)

तीसरा कायदा है कि एक साधारण-से-साधारण मनुष्य भी परमात्माको प्रेमसे भजता है, तो परमेश्वर भी उसको उसी प्रकार भजते हैं। '*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।*' (गीता ४। ११) इतना ही नहीं, परमेश्वरके भजनके प्रतापसे उसके पूर्वके किये हुए सब पापोंका नाश हो जाता है और वह शीघ्र ही

परम धर्मात्मा बनकर दुर्लभ परम गतिको प्राप्त होता है। भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

जो परमेश्वरकी भक्ति करता है, उसकी वे सब प्रकारसे रक्षा और सहायता करते हैं एवं उचित बुद्धि देकर इस असार संसारसे उसका उद्धार कर देते हैं।

आप विचारिये कि इन कानूनोंमें परमात्माकी कितनी भारी दया भरी है। यही नहीं, भगवान्‌के सभी नियम इसी प्रकार दयापूर्ण हैं। विस्तार-भयसे यहाँ नहीं लिखे जाते। ऐसे दयाभरे नियम संसारमें माता, पिता, गुरु, राजा आदि किसीके ही यहाँ नहीं हैं।

अब दूसरी ओर ध्यान दीजिये, ईश्वरने हमारी सुविधाके लिये संसारमें पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि ऐसे-ऐसे अद्भुत पदार्थ बनाये हैं जिनसे हम आरामसे जीवन धारण करते हैं और सुखसे विचरते हैं। यह सब चीजें सबको बिना मूल्य, बिना किसी रुकावटके पूरी मात्रामें समान-भावसे सहज ही प्राप्त हैं। कोई कैसा भी महान् पापी क्यों न हो, भगवान्‌के इस दानसे वह वञ्चित नहीं रहता।

भगवान्‌की दया

कुछ मित्र मुझे ईश्वरके सद्‌गुणोंके सम्बन्धमें लिखनेको कहते हैं, परन्तु मैं इस विषयमें अपनेको असमर्थ समझता हूँ, क्योंकि ईश्वरके सद्‌गुणोंका कोई पार नहीं है। संसारमें जितने उत्तम गुण देखने, सुनने और पढ़नेमें आते हैं, वे सभी परिमित—ससीम हैं और उस अप्रमेय—असीम परमात्माके एक अंशके द्वारा प्रकाशित हो रहे हैं। ‘एकांशेन

स्थितो जगत्' (गीता १० । ४२) । परमात्माके गुणोंका सम्यक् प्रकारसे वर्णन कोई भी नहीं कर सकता । वेद-शास्त्रमें जो कुछ कहा गया है, वह सर्वथा स्वल्प ही है, अन्य गुणोंकी बात तो अलग रही । उस दयामयकी केवल एक दयाके विषयमें खयाल किया जाय तो मुग्ध हो जाना पड़ता है । अहा ! उसकी असीम दयाकी थाह कौन पा सकता है ? जब एक दयाका वर्णन ही मनुष्यके लिये अशक्य है तो सम्पूर्ण सद्‌गुणोंका वर्णन करना असम्भव है । लोग उन्हें दयासिन्धु कहते हैं, वेद-शास्त्रोंने भी उनको दयाका समुद्र बताया है, परन्तु विचार करनेपर प्रतीत होता है कि यह उपमा समीचीन नहीं है, यह तो उसकी अपरिमित दयाके एक अंशमात्रका ही परिचय है । क्योंकि समुद्र परिमित है और सब ओरसे सीमाबद्ध है परन्तु अपरिमेय परमात्माकी दया तो अपार है,उसके साथ अनन्त समुद्रोंकी भी तुलना नहीं की जा सकती। अवश्य ही जो उन्हें दयासिन्धु और दयासागर बताते हैं, मैं उनकी निन्दा नहीं करता। कारण, संसारमें जो बड़ी-से-बड़ी चीज़ प्रत्यक्ष देखनेमें आती है, बड़ोंके साथ उसीकी तुलना देकर लोग समझाया करते हैं ।

जहाँ मन और बुद्धिकी पहुँच नहीं, वहाँ एकबारगी उसका वाणीसे तो वर्णन हो ही कैसे सकता है ? तथापि जो कुछ वर्णन किया जाता है सो वाणीसे ही किया जाता है, चाहे वह कितना ही क्यों न हो, इसलिये भगवान्‌की दयाका जो वर्णन वाणीसे किया गया है, वह पर्याप्त नहीं है । ईश्वरकी दया उससे बहुत ही

अपार है। परमात्माकी दया सम्पूर्ण जीवोंपर इतनी अपार है कि जो मनुष्य इसके तत्त्वको समझ जाता है वह भी निर्भय हो जाता है, शोक-मोहसे तर जाता है, अपार शान्तिको प्राप्त होता है और वह स्वयं दयामय ही बन जाता है। ऐसे पुरुषकी सम्पूर्ण क्रियाओं-में भी दया भरी रहती है। उससे किसीकी भी हिंसा तो हो ही नहीं सकती।

दयामय परमात्माकी सब जीवोंपर इतनी दया है कि सम्पूर्ण-रूपसे तो उस दयाको मनुष्य समझ ही नहीं सकता। वह अपनी समझके अनुसार अपने ऊपर जितनी अधिक-से-अधिक दया समझता है, वह भी नितान्त अल्प ही होती है। मनुष्य ईश्वर-दयाकी यथार्थ कल्पना ही नहीं कर सकता। भगवान्‌की वह अनन्त दया सबके ऊपर समभावसे गंगाके प्रवाहकी भाँति नित्य-निरन्तर चारों ओरसे बह रही है। इस दयासे जो मनुष्य जितना लाभ उठाना चाहता है, उतना ही उठा सकता है। खेदकी बात है कि लोग इस रहस्यको न जाननेके कारण ही दुखी हो रहे हैं। यह उनकी मूर्खता है। इन लोगोंकी वही दशा समझनी चाहिये, जैसी उस मूर्ख प्यासे मनुष्यकी है जो नित्य-निरन्तर शीतल सुमधुर जलको प्रवाहित करनेवाली भगवती गंगाके किनारे पड़ा हो, परन्तु ज्ञान न होनेके कारण जल न ग्रहणकर प्यासके मारे तड़प रहा हो।

ईश्वरकी दया अपार है परन्तु जो जितनी मानता है उतनी ही दया उसको फलती है इसलिये उस ईश्वरकी जितनी अधिक-से-

अधिक दया तुम अपने ऊपर समझ सको उतनी समझनी चाहिये। तुम्हारी कल्पना जितनी अधिक होगी, तुम्हें उतना ही अधिक लाभ होगा। यद्यपि भगवान्‌की दयाका थाह उसी प्रकार किसीको नहीं मिलता, जैसे विमानपर बैठकर आकाशमें उड़नेवाले मनुष्य-को आकाशका थाह नहीं मिलता, परन्तु इस दयाका थोड़ा-सा रहस्य जाननेपर भी मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। जैसे अथाह गङ्गाके प्रवाहमेंसे मनुष्यकी प्यास बुझानेके लिये एक लोटा गंगा-जल ही पर्याप्त है वैसे ही उस अपार, अपरिमित दयासागरकी दयाके एक कणसे ही मनुष्यकी अनन्त जन्मोंकी शोकाग्नि सदाके लिये शान्त हो जाती है। यह तुलना भी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि साधारण जलबुद्धिसे पीये हुए गङ्गाजलके एक लोटे जलसे तो मनुष्यकी प्यास थोड़ी देरके लिये शान्त होती है, परन्तु ईश्वरकी दयाके कणसे तो भय, शोक और दुःखोंकी निवृत्ति एवं शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति सदाके लिये हो जाती है। अतएव सब-को चाहिये कि उस परमेश्वरके शरण होकर उसकी दयाकी खोज करें।

भगवान्‌की दया सर्वथा-सर्वदा और सर्वत्र व्याप्त है! सुख या दुःख, जय या पराजय जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह ईश्वर-की दयासे पूर्ण है और स्वयं ईश्वरका ही किया हुआ विधान है। उसीकी दया इस रूपमें प्रकट हुई है। मनुष्य जब इस रहस्यको जान लेता है तब उसे सुख और विजय मिलनेपर जो हर्ष प्राप्त होता है, वही दुःख और पराजयमें भी होता है। जबतक ईश्वर-

के विधानमें सन्तोष नहीं है और सांसारिक सुख-दुःखादिकी प्राप्तिमें हर्ष-शोक होता है, तबतक मनुष्यने भगवान्‌की दयाके तत्त्वको वास्तवमें समझा ही नहीं है। जब ईश्वरको कर्मोंके अनुसार फल देनेवाला, न्यायकारी, परम प्रेमी, परम हितैषी, परम दयालु और सुहृद् समझ लिया जायगा, तब उनके किये हुए सभी विधानोंमें आनन्दका पार न रहेगा। विषयी और पामर पुरुषोंके हृदयमें तो स्त्री-पुत्र, धन-धामकी प्राप्तिमें क्षणिक आनन्द होता है, किन्तु दयाके मर्मज्ञ उस पुरुषको तो पुत्रकी उत्पत्ति और नाशमें, धनके लाभ और हानिमें, शरीरकी नीरोगता और रुग्णतामें तथा अन्यान्य सम्पूर्ण पदार्थोंकी प्राप्ति और विनाशमें, जैसे-जैसे वह भगवान्‌की दयाके प्रभावको समझता जायगा, वैसे-वैसे ही नित्य-निरन्तर उत्तरोत्तर अधिकाधिक विलक्षण आनन्द, शान्ति और समताकी वृद्धि होती जायगी।

जो पुरुष भगवान्‌की दयाके यथार्थ प्रभावको जान लेता है, उसके उद्धारकी तो बात ही क्या है? वह दूसरोंके लिये भी मुक्तिका दाता बन जाता है। क्योंकि भगवत्कृपा ऐसी ही वस्तु है। वह भगवत्कृपा मूकको वाचाल बना देती है और पङ्गुको पर्वत लाँघनेकी शक्ति देती है। संसारमें न होनेवाले काम वह दया करा देती है। परमात्मा सर्व-समर्थ हैं, उनके लिये कोई भी काम अशक्य नहीं है। जीव सब प्रकारसे असमर्थ है, पर परमेश्वरकी दया और आज्ञासे वह भी चाहे सो कर सकता है। मच्छर ब्रह्मा बन सकता है। अब यह प्रश्न उठता है कि जब

सभी जीवोंपर भगवान्की दया सर्वथा अपार और सम है, तब उनकी दुर्दशा क्यों हो रही है? इसका उत्तर यह है कि लोग भगवान्की दयाके प्रभावको नहीं जानते। एक दरिद्रके घरमें पारस है, परन्तु जैसे वह पारसका ज्ञान न होनेके कारण दरिद्रता-के दुःखसे दुखी हो दीनताके साथ भीख माँगता फिरता है वैसे ही दयाके तत्त्वको न समझनेके कारण सब जीव दुखी हो रहे हैं। लोगोंको चाहिये कि वे दयाके तत्त्वको जाननेके लिये तत्पर होकर चेष्टा करें। परमात्माकी दया जाननेके लिये मनुष्यको परमेश्वरसे नित्य गद्गद-वाणीसे विनयपूर्ण प्रार्थना करनी चाहिये। प्रार्थनासे, भजन-ध्यानसे, उसकी दयाके महत्त्वको यत्किञ्चित् जाननेवाले पुरुषोंका सङ्ग करनेसे, सत्-शास्त्रोंके विचारसे और परमेश्वरके किये हुए समस्त विधानोंमें दयाकी खोज करनेसे मनुष्य दयाके तत्त्वको जान सकता है।

यद्यपि भगवान्की दयाके तत्त्वको बतानेवाले महात्माओंका मिलना बहुत कठिन है तथापि चेष्टा करनी चाहिये। जो महात्मा दयाके महत्त्वको कुछ जानते हैं वे भी जितना जानते हैं उतना वाणीद्वारा वर्णन नहीं कर सकते। क्योंकि भगवान्की इतनी दया है कि सारे संसारकी दयाको इकट्ठी करो तो वह भी दयासागरकी दयाके एक कणके बराबर नहीं हो सकती।

जिसके घरमें पारस है उसकी दरिद्रताका नाश—जैसे पारस-के प्रभावको जानते ही हो जाता है, वैसे ही भगवान्की दयाके प्रभावको समझनेपर मनुष्यके सब प्रकारके दुःखोंका सर्वथा नाश

हो जाता है। जो मनुष्य भगवान्‌की दयाके प्रभावको जान जाता है, वह पद-पदपर उस दयालुका स्मरण करके नित्य-निरन्तर आनन्दमें डूबा रहता है। अपने ऐसे प्रियतम सुहृद्‌को कोई कैसे भूल सकता है? वह जो कुछ क्रिया करता है, सब उस परम दयालु परमेश्वरकी आज्ञानुसार ही करता है। उसकी कोई भी क्रिया परमात्माकी इच्छाके विपरीत नहीं हो सकती। जब साधारण सत्पुरुष ही अपने उपकारी और दयालुको भूलकर उसके विपरीत क्रिया नहीं करता तब परमात्माकी दयाके प्रभावको जाननेवाले महात्मा पुरुष परमात्माको कैसे भूल सकते हैं और कैसे उनके विपरीत कोई क्रिया कर सकते हैं? ऐसे पुरुषोंद्वारा किया हुआ आचरण ही 'सदाचार' कहलाता है और लोग उसे प्रमाण मानकर उसीके अनुसार चलते हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

अब यह समझना चाहिये कि दया किसको कहते हैं। 'किसी भी दुःखी, आर्त-प्राणीको देखकर उसके दुःख एवं आर्तताकी निवृत्तिके लिये अन्तःकरणमें जो द्रवतायुक्त भाव पैदा होता है उसीका नाम दया है।' परमेश्वरकी यह दया सब जीवोंपर समानभावसे सदा-सर्वदा अपार है। जीव कितना भी परमेश्वरके विपरीत आचरण करे, परन्तु परमेश्वर उसको सदा ही दयाकी दृष्टिसे देखते हैं। इसके उपयुक्त हमें संसारमें कोई उदाहरण ही नहीं मिलता। माताका उदाहरण दिया जाता है, वह कुछ अंशमें ठीक

भी है। बालक बहुत कुपात्र और नीच वृत्तिवाला है, नित्य अपनी माताको सताता है, गाली देता है, ऐसा होनेपर भी माता बालकके मंगलकी ही कामना करती है, कभी उसका पतन या नाश नहीं चाहती। यह उसकी दया है, परन्तु भगवान्‌की दयाको समझनेके लिये यह दृष्टान्त सर्वथा अपर्याप्त है। ऐसा भी देखा जाता है कि विशेष तङ्ग करनेपर दुःख सहनेमें असमर्थ होनेके कारण स्वार्थवश माता भी बालकको त्याग देती है और कभी-कभी उसके अनिष्टकी इच्छा भी कर सकती है परन्तु परम पिता परमेश्वरके कोई कितना ही विरुद्ध आचरण क्यों न करे, वह कभी न तो उसका त्याग ही करते हैं और न अनिष्ट ही चाहते हैं। यह उनकी परम दयालुताका निदर्शन है। विपरीत आचरण करनेवालेको भगवान् जो दण्ड देते हैं वह भी उनकी परम दया है। बालकके अनुचित आचरण करनेपर जैसे गुरु उसके हितके लिये एवं उसे दुराचारसे हटानेके लिये दण्ड देता है अथवा जैसे चोरी करनेवाली और डाका डालनेवाली प्रजाको न्यायकारी राजा जो उचित दण्ड देता है, वह गुरु और राजाकी दया ही समझी जाती है वैसे ही परमात्मारूप गुरुके किये हुए दण्ड-विधानको भी परम दया समझनी चाहिये। यह उदाहरण भी पर्याप्त नहीं है। गुरु तथा राजासे भूल भी हो सकती है, किसी अन्य कारणसे भी वे प्रमादवश दण्ड दे देते हैं, परन्तु ईश्वरका दण्ड-विधान तो केवल दयाके कारण ही होता है। हम जब परमात्माकी दयापर विचार करते हैं तो हमें पद-पदपर परमात्माकी दयाके दर्शन होते हैं। प्रथम तो परमेश्वरके नियमोंकी ओर ही देखिये, वे कितने दयासे

भरे हैं। कोई जीव कैसा भी पापी क्यों न हो, अनेक तिर्यक्-योनियोंके भोगनेपर उसको भी अन्तमें परमात्मा मनुष्यका शरीर देते ही हैं। यदि उसके पापोंकी ओर ध्यान दिया जाय तो उसे मनुष्यका शरीर मिलनेकी बहुत ही कम गुंजाइश रह जाती है। परन्तु यह उस परमात्माकी हेतुरहित परम दयाका ही कार्य है जो पुनः उसको मनुष्य-शरीर देकर सुधारका मौका देता है।

गोसाईंजी कहते हैं—

आकर चारलाख चौरासी। योनिन भ्रमत जीव अविनासी॥
कबहुँक करि करुणा नरदेही। देत ईश बिन हेतु सनेही॥

दूसरा कानून है, कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, जब वह भगवान्‌की शरण हो जाता है अर्थात् अबसे सम्पूर्ण पापोंको छोड़कर भगवान्‌के अनुकूल बन जाता है तो भगवान् उसके पिछले सारे पाप नाशकर उसे तत्काल मुक्ति-पद दे देते हैं। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(वा० रा० ६। १८। ३३)

तीसरा कायदा है कि एक साधारण-से-साधारण मनुष्य भी परमात्माको प्रेमसे भजता है, तो परमेश्वर भी उसको उसी प्रकार भजते हैं। '*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।*' (गीता ४। ११) इतना ही नहीं, परमेश्वरके भजनके प्रतापसे उसके पूर्वके किये हुए सब पापोंका नाश हो जाता है और वह शीघ्र ही

परम धर्मात्मा बनकर दुर्लभ परम गतिको प्राप्त होता है। भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं—

> अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
> क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
> कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
> (गीता ९। ३०-३१)

जो परमेश्वरकी भक्ति करता है, उसकी वे सब प्रकारसे रक्षा और सहायता करते हैं एवं उचित बुद्धि देकर इस असार संसारसे उसका उद्धार कर देते हैं।

आप विचारिये कि इन कानूनोंमें परमात्माकी कितनी भारी दया भरी है। यही नहीं, भगवान्‌के सभी नियम इसी प्रकार दयापूर्ण हैं। विस्तार-भयसे यहाँ नहीं लिखे जाते। ऐसे दयाभरे नियम संसारमें माता, पिता, गुरु, राजा आदि किसीके ही यहाँ नहीं हैं।

अब दूसरी ओर ध्यान दीजिये, ईश्वरने हमारी सुविधाके लिये संसारमें पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि ऐसे-ऐसे अद्भुत पदार्थ बनाये हैं जिनसे हम आरामसे जीवन धारण करते हैं और सुखसे विचरते हैं। यह सब चीजें सबको बिना मूल्य, बिना किसी रुकावटके पूरी मात्रामें समान-भावसे सहज ही प्राप्त हैं। कोई कैसा भी महान् पापी क्यों न हो, भगवान्‌के इस दानसे वह वञ्चित नहीं रहता।

संसारके विषयोंकी भी रचना ईश्वरने इस ढंगसे की है कि उनकी अवस्थापर विचार करनेसे भी बड़ा उपदेश मिलता है। हम जिस-किसी भी पदार्थकी ओर नजर उठाकर देखते हैं, वही क्षय और नाश होता हुआ प्रतीत होता है। यह भी एक दया-का ही निदर्शन है। संसारके इन सब पदार्थोंको देखनेसे हमें यह उपदेश मिलता है कि स्त्री, पुत्र, धन, संसारके सम्पूर्ण पदार्थ एवं हमारा शरीर भी क्षणभंगुर और नाशवान् है, इसलिये हमको उचित है कि अपने अमूल्य समयको इन विषयोंके भोगनेमें व्यर्थ न बितावें।

परमात्माकी दया तो समानभावसे सबपर सदा ही है, परन्तु मनुष्य जब परमात्माकी शरण हो जाता है तब ईश्वर उसपर विशेष दया करते हैं। जैसे सुनार सुवर्णको आगमें तपा-कर पवित्र बना लेता है, वैसे ही परमात्मा अपने भक्तको अनेक प्रकारकी विपत्तियोंके द्वारा तपाकर पवित्र बना लेते हैं। जब भक्त प्रह्लादने भगवान्‌की शरण ली, तब पहले-पहले उसपर कैसी-कैसी विपत्तियाँ आयीं! वह अग्निमें जलाया गया, जलमें डुबाया गया, उसे विष पिलाया गया, वह शस्त्रोंसे कटाया गया। परन्तु जैसे-जैसे उसे संकटोंकी प्राप्ति अधिकाधिक होती गयी, वैसे-ही-वैसे दयाका अनुभव अधिकतर होता गया और इस कारण वह परमपवित्र होकर अन्तमें परमात्माको प्राप्त हो गया। लोगोंकी दृष्टिमें तो यही बात है कि प्रह्लादको बहुत दुःख झेलना पड़ा, उसपर अनेक अत्याचार हुए, उसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंका सामना करना पड़ा।

कोई-कोई भोले भाई तो यहाँतक भी कहते हैं कि भगवान्‌की भक्ति करनेवालोंको भगवान् उत्तरोत्तर अधिक विपत्ति देते हैं, परन्तु वे बेचारे इस बातको समझते नहीं कि भगवान्‌की विधान की हुई इस विपत्तिमें कितनी भारी सम्पत्ति छिपी रहती है।

प्रह्लाद इस तत्त्वको समझता था, इसलिये उसे इन विपत्तियों-में भगवद्दयारूपी सम्पत्तिके प्रत्यक्ष दर्शन होते थे। जो मनुष्य भक्त प्रह्लादकी तरह प्राप्त हुई विपत्तियोंमें परमात्माकी दया देखता है उसके लिये वे सारी विपत्तियाँ तत्काल ही सम्पत्तिके रूपमें परिणत हो जाती हैं।

आप प्रह्लादके चरित्रको पढ़िये, उसके वचनोंमें पद-पदपर कितना धैर्य, निर्भयता, शान्ति, निःस्पृहता, निष्कामता और आनन्द चमकता है। अग्निमें न जलकर प्रह्लाद कहते हैं—

तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि न मां दहत्यत्र समन्ततोऽहम्।
पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि शीतानि सर्वाणि दिशाम्मुखानि॥
(विष्णु० १।१७।४७)

'हे तात! यह महान् वायुसे प्रेरित धधकती हुई भी अग्नि मुझे नहीं जलाती (इसमें आप कोई आश्चर्य न करें), क्योंकि मैं इस अग्निमें और अपनेमें समभावसे उस एक ही सर्वव्यापी भगवान् विष्णुको देखता हूँ, अतएव अग्निकी ये लपटें मुझको चारों ओर शीतल कमलपत्रके सदृश बिछी हुई सुखमयी प्रतीत होती हैं।'

जब गुरुपुत्र षण्डामर्कके द्वारा उत्पन्न की हुई कृत्याने प्रह्लादको मारनेमें असमर्थ होकर षण्डामर्कको ही मार डाला, तब दयामय प्रह्लाद श्रीभगवान्‌से कहने लगे—

यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानोऽनपायिनम् ।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः ॥
ये हन्तुमागता दत्तं यैर्विषं यैर्हुताशनः ।
यैर्दिग्गजैरहं क्षुण्णो दष्टः सर्पैश्च यैरपि ॥
तेष्वहं मित्रभावेन समः पापोऽस्मि न क्वचित् ।
तथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकाः ॥
(विष्णु० १।१८।४१-४३)

'यदि मैं सर्वगत और अक्षय श्रीविष्णुको शत्रु-पक्षमें भी देखता हूँ तो ये पुरोहित जीवित हो जायँ। जो मेरेको मारनेके लिये आये, जिन्होंने विष दिया, अग्नि लगाई, जिन दिग्गजोंने रूँधा, सर्पोंने काटा, उन सबमें यदि मैं मित्रभावसे सम हूँ एवं कहीं भी मेरी पापबुद्धि नहीं है तो उस सत्यके प्रभावसे इसी समय ये पुरोहित जीवित हो जायँ।' उसके बाद वे जी उठे।

साधन-कालमें भगवान् अपने भक्तोंपर जो विपत्तियाँ डालते हुए-से दीखते हैं और किसी-किसीकी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और सम्पत्ति भी हर लेते हैं, सो किसलिये ? उन्हें अज्ञानरूपी निद्रासे जगानेके लिये, साधनकी रुकावटोंको हटानेके लिये, पापोंसे पवित्र करनेके लिये, कायरताका नाश करके उन्हें वीर और धीर बनानेके लिये, सच्ची भक्तिको बढ़ानेके लिये और उनकी ऐसी विमल कीर्ति फैलानेके लिये, जिसे गा-गाकर लोग पवित्र हो जायँ। क्योंकि विपत्तिकालमें भगवान् जितने याद आते हैं उतने सम्पत्ति-

कालमें नहीं आते। इसीलिये कुन्तीदेवीने भगवान्‌से विपत्तिका वर माँगा था।

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा० १।८।२५)

'हे जगद्गुरो! हम चाहती हैं कि पद-पदपर हमेशा हमपर विपत्तियाँ आवें, जिनसे हमें संसारसे छुड़ानेवाला आपका दुर्लभ दर्शन मिलता रहे।'

परन्तु यह कोई नियम नहीं कि भक्ति करनेवालेको भगवान् अवश्य विपत्ति देते हैं। जैसा अधिकारी होता है, वैसी ही व्यवस्था की जाती है।

यदि आप खयाल कर-कर देखें तो आपको स्पष्ट दीखेगा कि परमात्माकी दयाकी निरन्तर अनवरत वर्षा हो रही है। इस वर्षाकी शीतल सुधाधाराका आनन्द उन्हींको मिलता है जो भगवान्‌की शरण होकर उनकी दयाकी ओर ध्यान देते हैं। दयाकी ऐसी अनवरत वृष्टि होते रहनेपर भी उनकी दयाका प्रभाव न जाननेके कारण लोग लाभ नहीं उठा सकते। कोई तो मूर्खता-वश छाता लगा लेते हैं और कोई मकानमें घुस जाते हैं। कभी-कभी परमात्माकी विशेष दयासे पूर्व-पुण्य-पुञ्जके कारण, उनके प्रेम, प्रभाव, गुण और रहस्यकी अमृतरूप कथा बिना चाहे और बिना चेष्टा किये स्वतः ही आ प्राप्त होती है, उसके तत्त्वको नहीं समझनेके कारण, उपेक्षा करके जो मनुष्य चला जाता है, उसका

अमृतरूपी वर्षासे भागकर घरमें घुस जाना है और कथामें उपस्थित रहकर जो आलस्य और नींद लेना है, वह अपने ऊपर छाता लगा लेना है।

ईश्वरकी दयाके लिये क्या कहा जाय ? सम्पूर्ण जीवोंके मस्तकपर उनका निरन्तर हाथ है, परन्तु अभागे जीव उस हाथको हटाकर परे कर देते हैं !

जब यह जीव कोई बुरा काम करनेके लिये तैयार होता है तो प्रायः ही उसीके हृदयसे यह आवाज़ आती है कि 'यह बुरा काम है।' इस प्रकारकी जो चेतावनी है, यह ईश्वरका मस्तकपर हाथ है। ईश्वर उसको समयपर चेता देते हैं। मालूम होता है, मानो हृदयस्थ कोई पुरुष निषेध करता है कि यह काम बुरा है, परन्तु काम या लोभके वश होकर ईश्वरकी आज्ञाकी अवहेलना करके बुरे काममें प्रवृत्त हो ही जाता है, यही उस कृपासिन्धुकी कृपाकी अवहेलना करना है अर्थात् अपने मस्तकपर जो उनका हाथ है उसको परे हटाना है।

समय-समयपर परमेश्वर उत्तम काम करनेके लिये भी हृदयमें प्रेरणा करते हैं। भजन-ध्यान, सेवा-सत्संग आदि करनेकी स्फुरणा होती है, परन्तु यह जीव उसकी अवहेलना करके संसारके विषय-भोग और प्रमादमें लग जाता है, यह भी उस दयामयका हमारे सिरपर जो हाथ है उसको परे करना है।

इसके सिवा जब संसारका ऐश्वर्य अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि आकर प्राप्त होते हैं, जिसको हम सुख और सम्पत्तिके नामसे कहते हैं, उनमें भी समय-समयपर क्षय और नाशकी भावना उत्पन्न होती है और वह भी स्वाभाविक हमको क्षणभङ्गुर और नाशवान् प्रतीत होते हैं। ऐसी प्रतीति होनेपर भी हम उनका त्याग या सदुपयोग नहीं करते, यह उस दयामय ईश्वरका हाथ अपने मस्तकसे परे हटाना है।

ईश्वरकी प्राप्तिके साधनमें बाधकरूप जो संसारके धन-जन-मान-ऐश्वर्य आदिके नाश होनेपर पुनः उन क्षणभङ्गुर, नाशवान्, दुःखमय पदार्थोंकी प्राप्तिकी जो इच्छा करना है, यह भी उस दयामयका हाथ अपने मस्तकसे परे हटाना है।

जब भगवान्के नाम, रूप, गुण और प्रभावकी स्वतः ही स्फुरणा होती है तो समझना चाहिये कि यह उनकी सबसे विशेष दया है। तिसपर भी हम उनको भुला देते हैं और स्मरण रखनेकी उचित कोशिश नहीं करते हैं, यही उस दयामयकी दयाका हाथ हमारे मस्तकसे परे कर देना है।

इसलिये हमलोगोंको चाहिये कि भगवान्की दयाको पहचानें और सर्वथा उसकी संरक्षकतामें रहकर नित्य निर्भय और परम सुखी हो जायँ।

ईश्वर सहायक हैं

भगवद्भक्तिके पथपर चलनेवाले पुरुषोंको अपने मनमें खूब उत्साह रखना चाहिये। इस बातका सदा स्मरण रखना चाहिये कि समस्त विघ्नोंके नाश करनेवाले और साधनमें सतत सहायता पहुँचानेवाले भगवान् हमारे पीछे स्थित रहकर सदा हमारी रक्षा करते हैं। रणाङ्गणमें रण-प्रवृत्त योद्धाके मनमें इस स्मृतिसे महान् उत्साह बना रहता है कि मेरे

पीछे विशाल सैन्यको साथ लिये सेनापति स्थित है। भक्तको तो इससे भी अनन्तगुण अधिक उत्साह होना चाहिये। क्योंकि उसके पीछे अनन्त शक्ति-सम्पन्न भगवान्का बल है। शक्तिशाली सैन्यका सहारा पाकर जब निर्बल भी बलवान् बन जाता है, जब कायर भी शूरवीरका-सा काम कर दिखाता है। निर्बल, निरुत्साही मनुष्य इस बातको भलीभाँति समझता हुआ कि मुझमें बड़ी भारी शत्रु-सेनाका सामना करनेकी शक्ति नहीं है, किन्तु शत्रु-सेनाकी अपेक्षा अपनी सेनाको अधिक बलवती देखकर उसके भरोसे लड़नेको तैयार हो जाता है। फिर, जिसके भगवान् सहायक हों, उसको तो भीषण विषय-सैन्यको तुच्छ समझकर उसके नाशके लिये बद्ध-परिकर ही हो जाना चाहिये। परमात्मा श्रीकृष्ण अपने प्रेमी भक्तोंको आश्वासन देते हुए घोषणा करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

'जो अनन्यभावसे मुझमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य एकीभावसे मुझमें स्थितिवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

भगवान्की इस घोषणापर विश्वासकर कठिन-से-कठिन मार्गपर अग्रसर होनेमें भी संकोच नहीं करना चाहिये। शंख, चक्र, गदा आदि धारण करनेवाले भगवान्, जब हमारे प्राप्त साधन-

की रक्षा और अप्राप्तकी प्राप्ति करानेका स्वयं जिम्मा ले रहे हैं, जब पद-पदपर हमें बचानेके लिये तैयार हैं, तब इस घोर अन्धकारमय संसार-अरण्यसे बाहर निकलनेके लिये हमने जिस साधनामय पथका अवलम्बन किया है, उसमें विघ्न करनेवाले काम-क्रोधरूप सिंह-व्याघ्रादिसे भय करनेकी क्या आवश्यकता है ? जब भगवान् सदा-सर्वदा हमारे साथ हैं तब भय किस बातका ? जैसे छोटा बालक माताकी गोदमें आते ही अपनेको निर्भय और निश्चिन्त मानता है, इसी प्रकार हमें भी अपनेको परमपिता परमात्माकी गोदमें स्थित समझकर निर्भय और निश्चिन्त रहना चाहिये। भगवान् तो बल, प्रेम, सुहृदता आदिमें सभी प्रकार सबसे अधिक हैं। कारण, ये सारे सद्गुण उन्हीं गुणसागरके तो गुण-कण हैं अतएव सब तरहके शोक, भय आदिको त्यागकर, बड़े उत्साह और उमंगके साथ एक वीरकी भाँति अपने अभीष्ट मार्गपर द्रुतगतिसे अग्रसर होना चाहिये। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार भक्तप्रवर अर्जुनने भगवान्‌की सहायतासे भीष्म, द्रोण, कर्णादिद्वारा सुरक्षित ग्यारह अक्षौहिणी कौरव-सेनाको विध्वंसकर विजय प्राप्त की थी, उसी प्रकार उनकी सहायतासे हम भी काम-क्रोधादिरूप कौरव-सेनाका सहजहीमें विनाशकर परमात्माकी प्राप्तिरूप सच्चे स्वराज्यको प्राप्त कर सकते हैं। बस, भगवान्‌को अपना सच्चा अवलम्बन बनाकर भीमार्जुनकी भाँति प्राणविसर्जनतकका प्रणकर भगवदाज्ञानुसार कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण होनेभरकी देर है।

प्रेमसे ही परमात्मा मिल सकते हैं

मनुष्य स्वभावसे ही दुःखोंके प्रति वैराग्य और आनन्दके प्रति प्रेमका भाव रखता है। संसारमें कोई भी मनुष्य ऐसी इच्छा नहीं करता कि मुझे दुःख मिले या सुख न मिले। परन्तु भूलसे वह दुःखोंसे भरी वस्तुओंमें सुख समझकर उनमें फँस जाता है। पारधी पक्षियोंको पकड़नेके लिये दाने बखेरता है। मूर्ख पक्षी उन्हें अपने फँसनेका सामान न समझकर उनमें सुख मान लेते हैं। अग्निको रमणीय और सुखरूप समझकर पतङ्ग उसमें गिरकर जल मरते हैं, इसी प्रकार हमलोग भी प्रकृतिके फैलाये हुए इस जालको सुखरूप समझकर उसमें फँस जाते हैं। जैसे कोई समझदार पखेरू दूसरोंको फँसे हुए समझकर

दानोंके मोहसे जालमें नहीं फँसता, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी इन भोगोंमें नहीं फँसते। परन्तु अज्ञानी फँसकर बारम्बार दुःख भोगते हैं। सिंह-व्याघ्रादि पशु उतने दुःखदायी नहीं हैं जितने ये स्त्री, पुत्र, धन, मान, शरीरादि विषयोंकी आसक्ति दुःखदायिनी हैं। ये मोहसे रमणीय माल्रम होते हैं परन्तु परिणाममें दुःखसे भरे हुए हैं।

इन पदार्थोंमें कोई भी स्थायी नहीं हैं। जो स्थायी नहीं, वह अन्तमें छूटते समय दुःख देनेवाला होता है। इनके सेवनमें भी सुख नहीं है। एक बार मीठा अच्छा माल्रम होता है, ज्यादा खाइये अरुचि हो जायगी। इसी तरह स्त्री आदि पदार्थ भी अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं। धनमें भी सुख नहीं है। मान लीजिये एक आदमीके पास लाखों रुपये हो गये, उसने मकान, मोटरें खरीदकर खूब मौज उड़ायी। भाग्यवश धन नष्ट हो गया। मौजका सारा सामान जाता रहा। अब पहली बातें याद आते ही दारुण दुःख होता है। दूसरे धनियोंको जाते-आते और मौज करते देखकर उसका चित्त जलने लगता है, इसी प्रकार स्त्री-सम्भोगादिसे धातुक्षीण वगैरहकी बीमारियाँ होनेपर महान् क्लेश हो जाता है। सोचता है, बीमारी अच्छी हो जानेपर फिर ऐसा नहीं करूँगा परन्तु मोहवश फिर भी उसी रास्तेपर चलता है, इसी प्रकार परलोकके भोग भी दुःखरूप ही हैं। धन कमानेमें, उसकी रक्षा करनेमें, लगाने, लग जाने और छूट जानेमें क्लेश होता है। धन पैदा करनेमें अन्याय भी होता है। मन रोकता है पर फिर

लोभकी वृत्ति दबाती है कि एक बार ऐसा कर लें, फिर नहीं करेंगे। दुबिधा मच जाती है। हृदयमें युद्ध ठन जाता है। सात्त्विकी और तामसी वृत्तियाँ आपसमें लड़ने लगती हैं, बड़ी बुरी अवस्था होती है। अन्तमें जैसे बिल्ली कबूतरको दबा लेती है उसी प्रकार तामसी वृत्ति उसे दबा लेती है। बहुत थोड़े मनुष्य इससे बचते हैं। धन इकट्ठा कर लेनेके बाद उसकी रक्षा करनेमें बड़ा परिश्रम होता है। हाथसे किसीको दिया जाता नहीं, यों करते-करते मृत्यु उपस्थित हो जाती है तब सोचता है कि 'हाय! मैंने क्या किया? व्यर्थ ही रुपये कमाये, अब छोड़ने पड़ते हैं।' इस तरह दुःखसागरमें गोते लगाता हुआ ही मर जाता है। तात्पर्य यह है कि संसारके सभी भोग शहद लिपटे हुए विषके समान हैं। ये केवल देखनेमात्रके रमणीय और इनमें केवल माननेमात्रका ही सुख है। यह केवल मृगतृष्णा है, इसमें कहीं भी आनन्दका लेश नहीं है फिर इससे प्रेम करना मूर्खता नहीं तो और क्या है? सच्चा सुख तो एक परमात्मामें है। वही परम आनन्दस्वरूप है— यही सन्त, महात्मा और शास्त्रोंका कथन है। इस सुखके सामने त्रैलोक्यका राज्य भी तुच्छ है। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(६।२२)

'जिस लाभको पाकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और भगवत्-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।'

इस आनन्दके प्राप्त होनेपर शरीरके यदि टुकड़े-टुकड़े भी कर दिये जायँ तो भी वह विचलित नहीं होता। घर-द्वार सबका सर्वनाश हो जाय तो भी उसके आनन्दमें किसी प्रकारकी कमी नहीं होती, वह तो उस परमात्माको प्राप्तकर स्वयं ही परमानन्द-रूप हो गया है। उसे किसी वस्तुकी कोई आवश्यकता नहीं।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
(गीता २।४६)

जैसे सब ओरसे जल प्राप्त होनेपर कूएँकी आवश्यकता नहीं रहती इसी प्रकार उस ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति हो जानेपर किसी भी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रहती। इस प्रकारका अतुल आनन्द प्रेम-से मिल सकता है। अतएव स्त्री-पुत्र, धन-मानादि अनर्थकारक दुःखदायी पदार्थोंसे प्रेम हटाकर उस आनन्दमयसे प्रेम करना चाहिये जिससे उस अखण्ड एकरस परमानन्दकी प्राप्ति हो। इस विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि संसारसे वैराग्य और परमात्मासे प्रेम करनेमें ही कल्याण है।

प्रेमका स्वरूप क्या है?

वास्तवमें प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। कुछ कहा नहीं जा सकता, परन्तु उसका कुछ अनुमान किया जाता है। प्रेम होनेपर प्रेम करनेके लिये कहा नहीं जाता! लोभीको यह कहना नहीं पड़ता कि तुम रुपयोंसे प्रेम करो। कभी बाप-दादेने भी पारस आँखसे नहीं देखा परन्तु लोभीको पारस बड़ा प्यारा है। नाम सुनते ही मुख खिल उठता है। इसी प्रकार भगवान्में प्रेम

होनेपर उसका नाम सुनते ही परम आनन्द होता है। लोभीको धनकी, और कामीको जैसे सुन्दर स्त्रियोंकी बातें अच्छी लगती हैं, इसी प्रकार भगवत्प्रेमीको भगवान्‌की बातें प्राणप्यारी लगती हैं। जैसे अपने प्रेमी मित्रका नाम सुनते ही उस तरफ़ ध्यान चला जाता है और उसकी बातें सुहावनी लगती हैं वैसे ही भगवत्प्रेमीको भगवान्‌की बातें सुहाती हैं। प्रेम और मोहमें बड़ा अन्तर है। प्रेम विशुद्ध है, मोह कामनासे कलङ्कित है। मोहमें स्वार्थ है, वह छूट सकता है; प्रेम स्वार्थरहित और नित्य है। बालकका मातामें एक मोह होता है जिससे वह माताके पास तो रहना चाहता है परन्तु उसकी आज्ञानुसार काम करनेके लिये तैयार नहीं रहता। प्रेममें ऐसा नहीं होता। वहाँ तो अपने प्रेमास्पदको कैसे सुख पहुँचे, कैसे उसका कोई प्रिय कार्य मैं कर सकूँ, इसी बातकी खोजमें प्रेमी रहता है। परन्तु ऐसे बहुत कम लोग होते हैं। भगवान् और उनके भक्तोंमें ही ऐसे भाव प्रायः पाये जाते हैं।

हेतुरहित जग युग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी॥
उमा रामसम हित जगमाँहीं। गुरु-पितु-मातु-बन्धु कोउ नाहीं॥
सुर-नर-मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

भगवान् राम मित्रताके लक्षण बतलाते हुए सुग्रीवसे कहते हैं—

जे न मित्र-दुख होहिं दुखारी।
तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी॥

निज दुख गिरिसम रज करि जाना ।
मित्रके दुख रज मेरु समाना ॥
जिन्हकें अस मति सहज न आई ।
ते सठ हठि कत करत मिताई ॥
कुपथ निवारि सुपन्थ चलावा ।
गुन प्रगटइ अवगुनन्हि दुरावा ॥
देत लेत मन संक न धरई ।
बल अनुमान सदा हित करई ॥
बिपतिकाल कर सतगुन नेहा ।
स्रुति कह संत मित्र गुन एहा ॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरे ।
सब बिधि करब काज मैं तोरे ॥

भगवान्‌ने इसको यों ही निबाहा । सीताके विरह-दुःखको सहनकर पहले सुग्रीवके दारुण दुःखको दूर किया ।

शुद्ध प्रेम केवल सत्-जनोंमें ही होता है, संसारमें मोह और काम ही अधिक है । भाई या स्त्री बड़ा प्रेम करते हैं, ऐसा मालूम होता है, परन्तु उसमें भी मोह रहता है । यदि ऐसा न होता तो उसके मनके अनुसार उनके आचरण होते, जिस बातमें वह सुखी होता है उसी बातको वह मानते और करते, वह खद्दर पहनता और उसे अच्छा समझता है तो उसके पुत्र, भाई या उसकी स्त्री भी खद्दर ही पहनती । पर ऐसा बहुत कम होता है । कारण यही

है कि प्रेम कम है, मोह या काम अधिक है। इससे उनके आचरण अपनी इच्छानुकूल होते हैं। ऐसी स्त्री पतिसे अपने सुखके लिये ही प्रेम करती है, पतिके सुखके लिये नहीं। इसका नाम प्रेम नहीं है। भगवान्‌में ऐसा मोह होना भी उत्तम है परन्तु प्रेम कुछ और ही वस्तु है। प्रेममें भी यदि विशुद्ध भाव हो तो उसका कहना ही क्या है ? वास्तवमें साधकके लिये यह प्रेम सुगम है। रुपयेके प्रेमसे इसमें कम परिश्रम है। क्योंकि रुपयेमें केवल हम प्रेम करते हैं, रुपया जड़ होनेसे हमसे प्रेम नहीं कर सकता। परन्तु भगवान् तो जड़ नहीं हैं, परम प्रेमी हैं, हम जितना प्रेम करते हैं उससे कहीं अधिक वह हमसे करते हैं। अतएव इसमें शीघ्रतासे सिद्धि होती है, इसी प्रकार महात्माओंका प्रेम भी हमारे ही हितके लिये होता है। हम यदि एक बार प्रेम करना चाहते हैं तो वे चार बार करते हैं। इसमें उनका कोई स्वार्थ नहीं रहता।

माताके प्रेममें भी मोह और काम रहता है। श्राद्ध, पिण्ड और सेवा आदिका स्वार्थ रहता है। कुछमें केवल मोह रहता है। जैसे एक बुढ़ियाके नाती है, वह उसपर बहुत अधिक स्नेह रखती है, उसे कोई फलकी आशा नहीं है क्योंकि नातीके बड़े होनेतक वह मर जायगी, इस बातको वह जानती है, इसी प्रकार किसी माताके एक दुराचारी, कुटिल, माता, पिता और परिवारको सतानेवाला कुपुत्र है। उसने चोरी की, वह जेल गया, माता उसके लिये रोती है, उससे कोई भी सुखकी आशा नहीं, तो भी उसे

छुड़ानेका उपाय करती है, इसीलिये कि पुत्रमें उसका मोह है। प्रेम इससे विलक्षण है। परमात्मामें स्वार्थरहित अनन्यप्रेम होनेसे ही परम लाभ होता है। प्रेम है, है भी निष्काम, परन्तु थोड़ा है तो उससे भगवत्-प्राप्ति शीघ्र नहीं होती। विशुद्ध और अनन्य प्रेम ही भगवत्-प्राप्तिका मूल्य है। स्त्री-पुत्र आदि भोग-पदार्थ या स्वर्ग-सुखके लिये जो प्रेम है वह प्रेम भगवान्‌से नहीं, जिन भोगों-के लिये है, उनसे है। यद्यपि मुक्तिके लिये प्रेम होना अच्छा है, पर सर्वोच्च प्रेम वह है, जो केवल प्रेमके लिये होता है और उसीका नाम विशुद्ध प्रेम है। किसी सन्त और सत्सङ्गियोंका पारस्परिक प्रेम भी बिल्कुल निःस्वार्थ नहीं कहा जा सकता, निःस्वार्थ होता तो सन्त यह क्यों चाहता कि सत्सङ्गमें अधिक आदमी आवें और ठीक समयपर आवें। इससे पता लगता है कि कुछ स्वार्थ है, अवश्य ही वह स्वार्थ उत्तम है। सत्सङ्गियोंमें भी कई तरहके स्वार्थ होते हैं। कोई धनके लिये आते हैं, कोई भजन-ध्यान अधिक बढ़नेकी आशासे आते हैं, कोई मानके लिये आते हैं तो कोई यही समझते हैं कि कुछ-न-कुछ लाभ तो होगा ही। इस तरह स्वार्थ रहता है। यदि सत्सङ्गियोंकी इच्छाके विरुद्ध कुछ कहा जाय तो वे सुनते ही नहीं। लापरवाही कर जाते हैं। यदि सन्त किसी हेतुसे कोई अपने स्वार्थकी बात कहने लगे तो सम्भवतः दो-चार बार तो लोग सुन लेते हैं पर अन्तमें घृणा हो जाती है। भक्तिके प्रचारमें भी यदि प्रचारकका स्वार्थ दृष्टिगोचर हो जाय तो लोग उसे तुरन्त छोड़ देते हैं। सन्तके द्वारा अकस्मात् ली हुई परीक्षामें तो शायद ही कोई उत्तीर्ण हो, या तो लोग उसे पागल

समझ बैठें या स्वार्थी, और अन्तमें उसे छोड़ ही दें। एक दृष्टान्त है—

किसी गाँवमें दो साधक थे, वे रोज गाँवसे रोटी माँग लाया करते और गाँवसे बाहर किसी वृक्षके नीचे बैठकर उन्हें एक वक्त खा लेते और वहीं रात-दिन भजन-ध्यानमें मस्त रहते। उनके भजनकी मस्तीको देखकर लोग उनके पास आने-जाने लगे, गाँवमें उनकी कीर्ति फैल गयी। राजातक बात पहुँची। राजाने भी दर्शन करनेका विचार किया। लोगोंने आकर उन दोनोंसे कहा कि आज आपका दर्शन करने महाराजा स्वयं पधारते हैं। उन दोनोंने सोचा कि यह तो बड़ी विपत्ति आयी। साधक कहीं मान-बड़ाई पाने लगे और यदि उनमें उसका मन लग जाय तो उसके गिरनेमें देर नहीं लगती। यह विचारकर उन लोगोंने राजाकी सवारी दूरसे देखकर ही रोटियोंपर आपसमें लड़ना शुरू कर दिया। इतनेमें राजाकी सवारी वहाँ आ पहुँची। उन लोगोंको पतली-मोटी और एक-एक, आधी-आधी रोटियोंके लिये लड़ते देखकर राजाने अपने मनमें समझ लिया कि यहाँ कोई सार नहीं है। राजा वहाँसे लौट गया। स्वार्थके बनावटी दृश्यसे भी जब प्रेम दूर भागता है तब असली स्वार्थमें तो प्रेमका रहना असम्भवही-सा है। इसलिये परमात्मासे स्वार्थरहित प्रेम ही करना चाहिये। सच्चे अनन्य विशुद्ध प्रेमके समान दूसरी वस्तु जगत्में कोई भी नहीं है, परमेश्वर इसीसे मिलते हैं वही उसकी कीमत है। जब यह प्रेम जागृत होता है, तब फिर उसे सिवा भगवान्के और

कोई वस्तु अच्छी ही नहीं लगती। हमलोग भगवान्‌की पूजा करते हैं, वे ग्रहण नहीं करते। क्या कारण है ? प्रेम नहीं है। प्रेम हो तो वे अवश्य ग्रहण करें। गीतामें भगवान्‌ने श्रीमुखसे कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(९।२६)

भगवान् हमारे फलफूल और पत्तोंके भूखे नहीं हैं, वे भूखे हैं प्रेमके। वे ढूँढ़ते हैं दुनियाँमें किसी सच्चे प्रेमीको। सच्चा प्रेमी वही है जो भगवान्‌के लिये अपनी खाल खिंचवाता हुआ भी रोम-रोमसे स्वाभाविक प्रसन्नता झलका सकता है। जिन वस्तुओं-को वह अपनी समझता है, उन्हें भगवान् स्वीकार कर लेते हैं तो उसे बड़ी प्रसन्नता होती है। वह समझता है कि इनसे मेरा अहंकार चला गया। बात भी ठीक है, जिस चीजको मनुष्य अपनी समझता है उसे कोई-कोई श्रेष्ठ पुरुष भी स्वीकार नहीं करता, तब भगवान् तो कैसे करने लगे ? जब भगवान्‌ने हमारी दी हुई वस्तु स्वीकार कर ली तो अहंकार गया। वास्तवमें तो सभी कुछ भगवान्‌का है, हमने भूलसे अपना समझ रक्खा है। यही भाव तो हटाना है। जिस दिन वस्तुओंसहित भगवान्‌ने हमें अपना लिया, उस दिन समझ लो कि भगवान् हमारे हो गये!

जब भगवान्‌में विशुद्ध प्रेम हो जाता है तब फिर संसारमें किसीसे भी भय या प्रेम नहीं रहता और न वह किसी अपमान-की ही परवा करता है। जिस तरह जोरकी बाढ़में गंगातीरके सब वृक्ष बह जाते हैं इसी प्रकार प्रेमकी प्रबल धारामें मान,

अपमानादि सब बह जाते हैं। जैसे ध्यानमें स्थित योगीकी वृत्ति भगवान्‌के सामने बहती है इसी प्रकार प्रेमधारा भी भगवदभिमुखी बहने लगती है। इस अवस्थाका आनन्द वर्णनातीत है। इसमें अहंकारसे उत्पन्न होनेवाले लज्जा, भय, मान आदि सब दोष दूर हो जाते हैं, सारे द्वन्द्व मिट जाते हैं, प्रेमी एक शवके समान हो जाता है। भगवान् भी हर समय ऐसे प्रेमीके अधीन रहते हैं। जो भगवान्‌को अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है, भगवान् भी उसे अपना सब कुछ सौंप देते हैं। प्रेम बढ़नेपर शरीरमें रोमाञ्च होता है, पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखकर जैसे समुद्र उछलने लगता है उसी तरह भगवान्‌के मोहन-मुखकमलको देखकर प्रेमी भक्तके हृदयमें भी आनन्दकी लहरें उछालें मारने लगती हैं। उसके हृदयमें प्रेमका समुद्र उमड़ता है जो उसमें समाता नहीं, कण्ठावरोध हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है, नेत्र और नासिकासे प्रेम धारारूपसे बहने लगता है और अन्तमें भृकुटि तथा ब्रह्माण्डतक पहुँचकर उस प्रेमीको बेहोश कर देता है। उसकी अवस्था अचल प्रतिमाके समान हो जाती है!

जब भगवान्‌के लिये व्याकुलता होती है तब भगवान् भी भक्तके लिये व्याकुल हो उठते हैं। सीता अशोकवाटिकामें रामके लिये विलाप करती है तो राम भी सीताके लिये व्याकुल होकर उसे वन-वनमें खोजते हैं!

यदि आज हम भगवती रुक्मिणी या द्रौपदीकी तरह व्याकुल हों तो भगवान् भी उसी तरह व्याकुल होकर हमें दर्शन देनेके

लिये अवश्य पधारें। भगवान् विधिसे प्रसन्न नहीं होते हैं, उन्हें चाहिये प्रेम ! प्रेममें नियमकी आवश्यकता नहीं। नियम है तो प्रेम उच्च नहीं है। प्रेममें नीति-मानादिका सर्वथा स्वाभाविक ही अभाव होता है। नियम तोड़ने नहीं पड़ते। टूट जाते हैं। इसी अवस्थामें सच्चा प्रेम खिलता है। यहाँ स्वांग नहीं होता। भक्त प्रेमरूप होकर भगवान्में अभिन्नरूपसे मिल जाता है। यही विशुद्ध प्रेम है, भगवान्का यही सच्चा स्वरूप है। भाग्यवती गोपियोंमें यही सच्चा प्रेम था। उनके प्रेमको देखकर जड जीव भी पिघल जाते थे तब मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? उस प्रेम-विह्वलतासे सनी हुई वायु ही प्रेमका प्रवाह बहा देती है। जिस जगह प्रेमी विचरता है वहाँकी सभी वस्तुएँ प्रेममय बन जाती हैं। प्रेमीके द्वारा स्पर्श की हुई जगह तथा उसके चरणोंको छू जानेवाली धूलि भी प्रेमस्वरूप बन जाती है। इस रहस्यको भगवत्प्रेमी ही जानते हैं, ऐसा प्रेम सिवा भगवान्के और किसी दूसरेमें नहीं हो सकता। जिस प्रेमको सुनकर श्रीउद्धव प्रेमके प्रवाहमें बह गये थे, यदि उसे हम सुनें तो हमारी भी वही दशा हो, पर वह सुननेको मिले कहाँ ? स्वांगमें वह बात नहीं हो सकती ! वास्तवमें हो, तभी हो सकती है !

जब एक सुन्दर स्त्रीके कटाक्षोंसे घायल मनुष्यको जगत्-भरमें स्त्री-ही-स्त्री दीखती है और वह उसीमें बड़ा आनन्द मानता और पागल हुआ घूमता है, जो एक अत्यन्त तुच्छ बात है, तो फिर जिसको उस परमानन्दस्वरूप परमात्मा श्यामसुन्दरके कटाक्ष-

बाण लगे होंगे, उसकी क्या दशा होती होगी ? वह किस आनन्दमें मतवाला होगा ? उसे जगत्में क्या दीखता होगा ? यह बात न तो कल्पनामें आ सकती और न कोई इसके साथ तुलना करने लायक पदार्थ ही दीखता है। यदि इसे धूलिकण और उसे पृथ्वी, या इसे दर्पणका सूर्य और उसे सच्चा सूर्य कहें तो भी उचित नहीं होता। जैसे बर्फकी पुतली समुद्रकी गहराई नापकर नहीं बतला सकती, वैसे ही इस आनन्दका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। वास्तवमें वह भगवत्प्रेमी बर्फकी पुतलीकी भाँति भगवत्स्वरूप ही हो जाता है। उससे भगवत्के स्वरूपके वर्णनकी आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि वह भगवान्से अलग रह नहीं जाता। और दूसरा कोई बतला नहीं सकता। यद्यपि परमेश्वरकी प्राप्तिके बाद भी प्रेमीका पूर्वदेह हमलोगोंके दृष्टिगोचर होता है, पर वह है प्रेमरूप ही। वह जिस तरफ जाता है उधर ही प्रेमकी वर्षा करता है। वर्षाकी भाँति उसकी दृष्टि ही लोगोंको प्रेमसुधासे भिगो देती है। ऐसे पुरुषोंके भी दर्शन कठिन हैं, फिर भगवान्के दर्शनका तो कहना ही क्या है ? परन्तु प्रेम होनेसे उसका प्राप्त होना भी बहुत सहज है। भगवान् दयामय हैं। वे यदि हमारे कर्मोंकी ओर देखें तो हमारा निस्तार कठिन है परन्तु वे ऐसा नहीं करते। वे प्रेमके बदलेमें अपनेको बेच डालते हैं। इस बातको जो जान लेता है वह तो उनके शरणागत हो उन्हें प्राप्त ही कर लेता है।

भगवान् श्रीरामके प्रेममें मत्त भरत जब चित्रकूट जा रहे थे, तब उनके प्रेमको देखकर जड चेतन और चेतन जडरूप हो गये। जब भरतके दर्शनमात्रसे जड चेतन और चेतन जड हो चले, तब स्वयं भरतकी क्या दशा हुई थी सो तो भरत ही जानें। इस प्रकारका स्वार्थहीन प्रेम ही शुद्ध, अलौकिक और उज्ज्वल प्रेम कहलाता है। इसमें न मलिनता है और न व्यभिचार है। यह तो देदीप्यमान प्रकाश है, सूर्यकी तरह नहीं, परन्तु परम ज्ञानमयी निर्मल ज्योतिसे युक्त है। अमृतसे भी अधिक अमर करनेवाला और स्वादिष्ट है। इसी सच्चे आनन्दके सत्य स्वरूपके लिये हमें प्रयत्न करना चाहिये। क्षणिक सुखरूप भोगोंसे, जो वास्तवमें दुःख ही है, वैराग्य करना और उस प्रेममय परमात्मामें मन लगाकर उससे प्रेम करना चाहिये। जिस दिन हमारे प्रेमका अविच्छिन्न स्वरूप होगा, उसी दिन परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। अतएव यदि पाठक-पाठिकागण इस बातपर विश्वास करते हों और उन्हें परमेश्वर-प्राप्तिके साधनमें तत्पर होनेसे प्राप्त होनेकी पूरी आशा हो तो सच्चे दिलसे इन अनित्य, दुःखरूप भ्रान्तिमात्रसे प्रतीत होनेवाले सांसारिक भोगोंको मनसे त्याग, इनसे वृत्तियाँ हटाकर उस शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अनन्यप्रेमभावसे लगानेमें तत्पर होना चाहिये। परमात्माको प्राप्त करनेके लिये प्रेम ही प्रधान उपाय है!

प्रेमका सच्चा स्वरूप

आज परम दयालु परमात्माकी कृपासे प्रेमके सम्बन्धमें कुछ लिखनेका साहस कर रहा हूँ। यद्यपि मैं इस विषयमें अपनेको असमर्थ समझता हूँ, क्योंकि प्रेमकी वास्तविक महिमापर वही पुरुष कुछ लिख सकते हैं, जो पवित्रतम भगवत्-प्रेमके रस-समुद्रमें निमग्न हो चुके हों। प्रेमका विषय इतना गहन और कल्पनातीत है कि जिसकी तहतक विद्वान् और ज्ञानी भी नहीं पहुँच सकते, फिर वाणी और लेखनीकी तो बात ही कौन-सी है? शेष, महेश, गणेश एवं शुकदेव तथा नारद आदि, जो भगवान्‌के प्रेमियोंमें सर्वशिरोमणि समझे जाते हैं, वे भी जब प्रेम-तत्त्वका सम्यक् वर्णन करनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं, तब मुझ-जैसा साधारण मनुष्य तो किस गिनतीमें है? अन्तःकरणमें जब प्रेम-रसकी बाढ़ आती है तब मनुष्यके सम्पूर्ण अंग पुलकित हो उठते हैं, हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, वाणी रुक जाती है और नेत्रोंसे आँसुओंकी अजस्र धारा बहने लगती है, शास्त्र और प्रेमी महात्माओंका ऐसा ही कथन और अनुभव है। परन्तु यह सब प्रेमके बाहरी चिह्न हैं, इसीसे इनका भी वर्णन किया जा सकता है। हृदयमें प्रेमका समुद्र उमड़ आनेपर जब प्रेमी उसमें डूब जाता है उस अवस्थाका वर्णन तो वह स्वयं भी नहीं कर सकता, फिर दूसरेकी तो सामर्थ्य ही क्या है? श्रीराम और भरतके प्रेम-

मिलनके प्रसंगमें गोसाईंजी महाराज अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहते हैं—

कहहु सुप्रेम प्रगट को करई।
केहि छाया कबि-मति अनुसरई॥
कबिहिं अरथ-आखर-बलु साँचा।
अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा॥
अगम सनेह भरत-रघुबरको।
जहँ न जाय मन बिधि-हरि-हरको॥
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती।
बाजु सुराग कि गाडरि-ताँती॥

ऐसी स्थितिमें मैं तो जो कुछ लिख रहा हूँ सो केवल अपने मनोविनोदके लिये ही समझना चाहिये। त्रुटियोंके लिये प्रेमी सज्जन क्षमा करें!

प्रेमका तत्त्व परम रहस्यमय है। जिसने इस तत्त्वको पहचान लिया, वह तो प्रेममय ही बन गया। प्रेमके यथार्थ रहस्यको तो पूर्णरूपसे केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीवासुदेव ही जानते हैं अथवा थोड़ा-बहुत इसका ज्ञान उनके प्रेमी भक्तोंको है। इसीलिये उन निष्काम, प्रेमके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी भक्तोंकी गीतामें भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे स्वयं प्रशंसा की है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(७।१७)

'उन (चार प्रकारके भक्तों) में भी नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित हुआ अनन्य-प्रेम-भक्ति-सम्पन्न ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझको अत्यन्त प्रिय है।'

वास्तवमें प्रेम भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप ही है। जिसको विशुद्ध सच्चे प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, वह भगवान्‌को पा चुका। भगवान् प्रेममय हैं और भगवान् ही प्रेम करनेके योग्य हैं। अतएव चाहे जैसे भी हो, हमलोगोंको सब प्रकारसे भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम करनेकी कोशिश करनी चाहिये। यहाँ यह प्रश्न उठते हैं कि भगवान् कैसे हैं ? उनका क्या स्वरूप है ? और उनमें प्रेम किस प्रकारसे किया जा सकता है ? इनका उत्तर संक्षेपमें यों समझना चाहिये कि वे सर्वव्यापक भगवान् अमृतमय हैं, सुखस्वरूप हैं और नित्य, सत्य, विज्ञान-आनन्दघन हैं, भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४ । २७)

'अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य (सनातन) धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं ही हूँ अर्थात् ब्रह्म, अमृत, अव्यय, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुख यह सब मेरे ही नाम हैं।' ऐसे परमात्मा समस्त भूतप्राणियोंके हृदयमें आत्मरूपसे निवास करते हैं। वे कहते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥

(गीता १० । २०)

'हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ और समस्त भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ ।' इस प्रकारसे परमात्माके स्वरूपको समझकर सर्वभूतस्थित परमात्माके साथ विशुद्ध प्रेम करना ही प्रेम करना है । विश्वके सारे जीव परमात्माके निवास-स्थान हैं, इसका अनुभवकर सभीके साथ विशुद्ध प्रेम करनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये । जो पुरुष इस भगवत्-प्रेमके रहस्यको भलीभाँति समझ लेता है, उसका सभी प्राणियोंके साथ अपने आत्माके समान प्रेम हो जाता है, ऐसे प्रेमीकी प्रशंसा करते हुए भगवान्‌ने कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

(गीता ६ । ३२)

'हे अर्जुन ! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।' अपनी सादृश्यतासे सम देखनेका यही अभिप्राय है कि जैसे मनुष्य अपने सिर, हाथ, पैर और गुदा आदि अंगोंके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिके समान बर्ताव करता हुआ भी उनमें समानरूपसे आत्मभाव रखता है अर्थात् सारे अंगोंमें अपनापन समान होनेसे सुख और दुःखको समान ही देखता है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोंमें समानभावसे

देखना चाहिये। इस प्रकारके समत्वभावको प्राप्त भक्तका हृदय प्रेमसे सराबोर रहता है। वह केवल प्रेमकी ही दृष्टिसे सब ओर ताकना सीख जाता है, उसके हृदयमें किसीके भी साथ घृणा और द्वेषका लेश भी नहीं रहता। श्रुति कहती है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

(ईश० ६)

'जो विद्वान् सर्व भूतोंको अपने आत्मासे भेदरहित देखता है और अपने आत्माको सर्व भूतोंमें देखता है, वह किसीकी भी निन्दा नहीं करता।'

दूसरा हो तो निन्दा करे, उसकी दृष्टिमें तो सम्पूर्ण संसार एक वासुदेवरूप ही हो जाता है। इस परम तत्त्वको न जाननेके कारण ही प्रायः मनुष्य परमात्माको छोड़कर सांसारिक तुच्छ विषयभोगोंकी ओर दौड़ते हैं और बारम्बार दुःखको प्राप्त होते हैं। मनुष्य जो स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थोंमें सुख समझकर प्रेम करते हैं, उन आपात-रमणीय विषयोंमें उन्हें जो सुखकी प्रतीति होती है सो केवल भ्रान्तिसे होती है। वास्तवमें विषयोंमें सुख है ही नहीं, परन्तु जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे बिना ही हुए मरुभूमिमें जलकी प्रतीति होती है और प्यासे हरिण भ्रमसे उसकी ओर दौड़ते हैं और अन्तमें निराश होकर मर जाते हैं। ठीक इसी प्रकार सांसारिक मनुष्य संसारके पदार्थोंके पीछे सुखकी आशासे दौड़ते हुए जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ ही बिता देते हैं और असली नित्य परमात्म-सुखसे वञ्चित रह जाते हैं।

स्त्री-पुत्र-धन आदि पदार्थोंकी अपेक्षा मनुष्यको अपना जीवन अधिक प्रिय है, क्योंकि जीवनकी रक्षाके लिये मनुष्य स्त्री-पुत्र-धनादि सम्पूर्ण पदार्थोंको त्याग सकता है। इस जीवनसे भी आत्मा अधिक प्रिय है, क्योंकि आत्माके लिये मनुष्य जीवनके त्यागकी भी इच्छा कर लेता है। विशेषरूपसे कष्टकी प्राप्ति होनेपर जब जीवन दुःखमय हो जाता है, तो मूर्खतासे वह आत्म-हत्या करनेके लिये अनेक प्रकारके प्रयत्न करता है एवं आत्माके यथार्थ तत्त्वको न जाननेके कारण दुःख-नाशका वास्तविक उपाय न कर आत्म-सुखकी इच्छासे आत्मघात कर बैठता है और उसके फलस्वरूप घोर नरकोंको प्राप्तकर दुःख भोगता है। मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर आत्म-तत्त्वको बिना जाने चले जाना भी एक प्रकारसे आत्मघात ही है। आत्मघातीकी गतिका वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ईश० ३)

'जो मनुष्य आत्माके हनन करनेवाले हैं वे मरकर घोर अन्धकारसे आच्छादित आसुरी योनियोंको प्राप्त होते हैं।' इस तत्त्वको समझकर मनुष्यको इस अज्ञानकृत आत्मघातसे बचना चाहिये और आत्माकी उन्नति एवं मुक्तिके लिये उस परम पिता परमेश्वरसे परम प्रेम करना चाहिये जो सबके आत्मा हैं। परमेश्वरमें प्रेम होना ही विश्वमें प्रेम होना है और विश्वके समस्त

प्राणियोंमें प्रेम ही भगवान्‌में प्रेम है, क्योंकि स्वयं परमात्मा ही सबके आत्मारूपसे विराजमान हैं।

सबसे प्रेम करनेका सहज उपाय है, स्वार्थ छोड़कर सेवा करना। 'स्वार्थ' शब्दसे केवल स्त्री-पुत्र-धन आदि ही नहीं समझने चाहिये; मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, कीर्ति, सुन्दर लोकोंकी प्राप्ति आदि सभी कुछ स्वार्थके अन्तर्गत हैं। उन प्रेममूर्ति परमात्मासे प्रेमहीके लिये सेवा और प्रेम करना चाहिये। जो पुरुष परमात्मासे प्रेम करनेकी चेष्टा करते हैं, प्रेमस्वरूप परमात्मा उन प्रेमी पुरुषोंके अत्यन्त ही समीप हैं। विशुद्ध प्रेममें आकर्षण करनेकी जितनी शक्ति है, उतनी चुम्बक आदि किसी भी पदार्थमें नहीं है। चुम्बक आदि पदार्थ तो केवल जडको ही टानते हैं, वे चेतनको नहीं खींच सकते। परन्तु यह प्रेम ऐसा अनोखा चुम्बक है जो साक्षात् चेतनस्वरूप परमेश्वरको भी खींचनेका सामर्थ्य रखता है। मित्रो ! भगवान् अमूल्य वस्तु हैं, यद्यपि उनकी प्राप्तिकी वास्तविक पूरी कीमत हो ही नहीं सकती तथापि वे प्रेमीको बहुत ही सस्तेमें मिल जाते हैं। जब मनुष्य भगवत्-प्रेममें मत्त होकर अपने-आपको श्रीभगवान्‌के पावन चरणोंपर न्यौछावर कर देता है—भगवत्-प्रेमके लिये सहज ही परम उत्साहके साथ अपने प्राणोंको छोड़नेके लिये प्रस्तुत हो जाता है तब भगवान् उसके प्रेमसे आकर्षित होकर प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं। प्रह्लादके लिये खम्भसे और गोपियोंके लिये मुरली-वनमें प्रकट होनेकी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। क्या इस प्रकार भगवान्‌का मिल जाना बहुत ही सस्ता सौदा नहीं है ? कहाँ हम और कहाँ शुद्ध सच्चिदानन्दघन

परमात्मा; अरे, तुच्छ प्राणोंके बदले परमात्मा प्राप्त हो जायँ, तो और क्या चाहिये ? कविने कहा है—

जो सिर साटे हरि मिले, तो तेहि लीजे दौर ।
ना जानौं या देरमें, गाँहक आवै और ॥
सिर दीन्हे जो पाइये, देत न कीजै कानि ।
सिर साटे हरि मिलै तो, लीजै सस्ता जानि ॥
सबै रसायन हम किये, हरि-रस सम नहिं कोय ।
रंचक घटमें संचरे, (तो) सब तन कंचन होय ॥

प्रेमको पहचाननेवाले वह प्रभु केवल प्रेमको ही देखते हैं । जब मनुष्यका प्रेम अपने आत्मासे भी कहीं बढ़कर भगवान्में हो जाता है—जब वह प्राणोंसहित अपने सारे अपनेपनको, लोक-परलोकको भगवान्के अर्पण करनेके लिये तैयार हो जाता है, तब भगवान् उससे मिले बिना रह ही नहीं सकते । परन्तु प्रेम सच्चा होना चाहिये । झूठे प्रेमसे उन्हें कोई नहीं रिझा सकता ।

कृष्ण कृष्ण सब ही कहै ठग ठाकुर अरु चोर ।
बिना प्रेम रीझें नहीं, प्रेमी नन्दकिसोर ॥

सच्चे प्रेमीके हाथ तो वह बिक जाते हैं । प्रेम ही भगवान्‌का मूल्य है । प्रेमके रहस्यको जाननेवाला पुरुष भगवान्‌को प्राप्त किये बिना कैसे रह सकता है ? क्योंकि भगवान्के बिना वह अपने जीवनको व्यर्थ समझता है, फिर तुच्छ जीवनके मूल्यमें ही जब भगवान् मिलनेके लिये बाध्य हैं, तो वह कैसे देर कर सकता है ? भगवान्-सरीखी अमूल्य वस्तुको इतनी-सी कीमतके लिये

वह कैसे छोड़ सकता है ? जो भगवान्‌के इस प्रेम-तत्त्वको नहीं जानते वे मनुष्यरूपमें भी पशुके ही समान हैं। ऐसे ही पशुधर्मी मनुष्य संसारके सुख-विलास और भोगोंके लिये जीवन धारण करके मनुष्य-शरीरको कलंकित करते हुए व्यर्थ अपना जीवन नष्ट किया करते हैं। जो भाग्यवान् पुरुष भगवान्‌के प्रेममें विह्वल होकर प्राण-त्याग कर देते हैं, उनको प्राण-त्याग करनेमें कोई भी क्लेश नहीं होता। वे परम प्रसन्नता और अपार आनन्दके साथ प्रभुके चरणोंपर अपना शरीर अर्पण कर देते हैं। उस समय उनके हृदयमें आनन्दका जो दिव्य समुद्र उमड़ता है, सारे पाप-ताप, दुःख-कष्ट उसके अतल तलमें सदाके लिये डूब जाते हैं। हिरण्यकशिपुके द्वारा प्रह्लादको बार-बार मृत्युके मुखमें डालकर अपार कष्ट पहुँचाये गये, परन्तु उनसे उसे तनिक-सा भी क्लेश नहीं हुआ। भगवान्‌के प्रेमके कारण परम आनन्दमें मग्न होकर वह सदा ही निर्भय बना रहा, उसके आनन्द और अभयकी स्थितिका वर्णन करना असम्भव है। प्रह्लादकी स्थितिका तो प्रह्लादको ही पता है, प्रह्लादजीकी जीवनी पढ़नेवाले मनुष्योंमें भी जब आनन्द, निर्भयता, ईश्वरमें प्रेम एवं विश्वासकी वृद्धि होती है, तब स्वयं प्रह्लादकी श्रद्धा, प्रेम, शान्ति और निर्भयता आदि गुणोंका वर्णन तो कोई कैसे कर सकता है ?

भगवान्‌का सच्चा प्रेमी भगवान्‌के सिवा और किसी भी वस्तुका चिन्तन नहीं करता। भगवान्‌का चिन्तन भी वह भगवान्‌के प्रेमके लिये ही करता है। प्रेमके सिवा न तो वह भगवान्‌से ही

कुछ चाहता है और न भगवान्‌के किसी प्रेमी भक्तसे ही। भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंसे वह जब कभी मिलता है तब प्रेममें मग्न हो जाता है और भगवत्-प्रेम-रसकी प्राप्तिके लिये वह उनसे वैसे ही आकांक्षा करता है, जैसे पपीहा बादलोंको देखकर स्वातीके बूँदकी आकांक्षासे बादलोंको अपनी टेकपर अड़ा हुआ मधुर स्वरसे 'पीव-पीव' पुकारा करता है। भगवत्-प्रेमका प्यासा सन्त भी महात्मारूपी बादलोंसे प्रेमरूपी स्वाती-बूँदके लिये मधुर स्वरसे विनय करता है। जैसे पपीहेका यह दृढ़ नियम है कि वह स्वाती-बूँदके अतिरिक्त भूमिपर पड़े हुए कैसे भी पवित्र गंगाजलकी कभी इच्छा नहीं करता। गोसाईंजी कहते हैं—

तुलसी चातक देत सिख, सुतहिं बारही बार।
तात न तर्पन कीजियो, बिना बारिधर-धार॥
जियत न नाई नारि, चातक घन तजि दूसरहिं।
सुरसरिहूको बारि, मरत न माँगेउ अरघ जल॥
सुनि रे तुलसीदास, प्यास पपीहहिं प्रेमकी।
परिहरि चारिउ मास, जो अँचवै जल स्वातिको॥

—वैसे ही भगवत्-प्रेमी पुरुष भी प्रेमके सिवा तुच्छ सांसारिक पदार्थोंके भोगोंकी कभी इच्छा नहीं करता। यही उसका दृढ़ नियम है—सहज स्वभाव है।

सर्वत्र भगवत्‌के स्वरूपका चिन्तन करनेवाले पुरुषका भगवान्‌में इतना प्रेम हो जाता है कि वह क्षणमात्र भी भगवान्‌के

चिन्तनको भूल नहीं सकता। यदि किसी कारणवश भगवत्का चिन्तन छूट जाता है तो उसको इतनी व्याकुलता होती है जैसे जलके बिना मछलीको !

तदर्पिताऽखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।

(नारद सू० १९)

देवर्षि नारदजी इसीको प्रेम-भक्ति बतलाते हैं। भगवत्-प्रेममें मतवाला पुरुष जब प्रेममें मग्न हुआ फिरता है, तब उसकी कुछ विचित्र ही अवस्था हो जाती है। अपने प्रेमास्पदके नाम, गुण और रूपकी महिमा सुनकर प्रेमकी विह्वलताके कारण अपनी सुध-बुध भूल जाता है।

प्रेम-पियाला जिन्ह पिया, झूमत तिन्हके नैन।
नारायण वे रूप-मद, छके रहें दिन रैन॥
प्रेम अधीन्यो छाक्यो डोलै, क्योंकी क्योंही बाणी बोलै।
जैसे गोपी भूली देहा, तैसो चाहे जासों नेहा॥

प्रीति कि रीति कछू नहिं राखत,
जाति न पाँति, नहीं कुलगारो।
प्रेमको नेम कहूँ नहिं दीसत,
लाज न कान लग्यो सब खारो॥
लीन भयो हरिसूँ अभिअन्तर,
आठहुँ जाम रहै मतवारो।
सुन्दर कोउक जानि सकै यह,
गोकुल गाँवको पैंडोहि न्यारो॥

कहते हैं कि एक बार किसी प्रेमोन्मादिनी गोपीको यह शंका हो गयी थी कि श्रीकृष्णका मैं जो इतना ध्यान करती हूँ, सो कहीं ध्यान करते-करते स्वयं श्रीकृष्ण ही न बन जाऊँ। क्योंकि 'भ्रमर-कीट' न्यायसे ध्याता अपने ध्येयाकारमें परिणत हो जाया करता है। यदि ऐसा हुआ और मैं श्रीकृष्ण बन गयी तो फिर मुझे अपने प्रेमास्पद श्रीकृष्णके साथ प्रेम-विलासका आनन्द कैसे मिलेगा? एक दूसरी गोपीने उससे कहा कि 'इसके लिये तू चिन्ता न कर, श्रीकृष्णके ध्यानसे जब तू कृष्ण बन जायगी तो श्रीकृष्ण तेरे ध्यानसे गोपी बन जायँगे। प्रेमी-प्रेमास्पदका आनन्द ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। अतएव तू श्रीकृष्णके ध्यानमें ही निमग्न रह।

प्रेमकी दशाका क्या वर्णन किया जाय? प्रेमी अपने प्रेमास्पदके नाम, गुण और रूपादिके संकेतमात्रसे इतना विह्वल हो जाता है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। श्याम रंगमें रँगी हुई गोपियाँ काले रंगके कौवे, कोयल, काजल, कोयले आदि पदार्थोंको देखते ही या श्रीकृष्णके नामसे मिलते-जुलते नामोंको सुनते ही श्रीकृष्णके प्रेममें परम विह्वल हो जाती थीं। प्रेम-रसके छके हुए महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव पुरीमें समुद्रकी श्यामताको देख उसे श्यामसुन्दर समझकर पागल हो गये और तन, मनकी सुधि भुलाकर उसीमें कूद पड़े। तल्लीनतामें ऐसी ही स्थिति होती है।

भयबुद्धिसे भजनेवाले मारीचने कहा था कि मुझको श्रीराम-का इतना भय लगता है कि जिन शब्दोंके आदिमें रकार

हो, उन शब्दोंके सुननेमात्रसे श्रीराम मुझे अपने समीप खड़े दीखते हैं।

राममेव सततं विभावये
भीत भीत इव भोगराशितः।
राजरत्नरमणीरथादिकं
श्रोत्रयोर्यदि गतं भयं भवेत् ॥

(अ० रा० ३। ६। २२)

'राज, रत्न, रमणी, रथादिके शब्द यदि मेरे कानोंमें पड़ जाते हैं तो मुझे भय होता है, इसलिये भोग-राशिसे भयभीत हुआ-सा मैं निरन्तर रामका ही चिन्तन करता हूँ।'

राम आगत इहेति शङ्कया
बाह्यकार्यमपि सर्वमत्यजम्।
निद्रया परिवृतो यदा स्वपे
राममेव मनसाऽनुचिन्तयन् ॥

(अ० रा० ३। ६। २३)

'राम यहाँ आ गये हैं—इस शंकासे मैं बाहरके कार्योंको भी छोड़ देता हूँ। जब मैं निद्रासे घिरा हुआ सोता हूँ तो उस समय भी रामका ही चिन्तन करता हूँ।'

स्वप्नदृष्टिगतराघवं तदा
बोधितो विगतनिद्र आस्थितः।
तद्भवानपि विमुच्य चाग्रहं
राघवं प्रति गृहं प्रयाहि भोः ॥

(अ० रा० ३। ६। २४)

'मैं जब स्वप्नमें राघवको देखता हूँ तो जागकर निद्रारहित हो जाता हूँ इसलिये हे रावण ! आप भी राघवके प्रति (मुझे भेजनेका) आग्रह त्यागकर घर चले जायँ ।'

जब भयकी प्रेरणासे ऐसी दशा हो सकती है तब विशुद्ध प्रेमकी प्रेरणासे प्रेमास्पदके लिये वैसी दशा हो जानेमें क्या आश्चर्य है ? अवश्य ही प्रेमका मार्ग है बड़ा ही गहन—बड़ा ही दुर्गम, तीक्ष्ण तलवारकी धारके समान ! केवल बातें बनानेसे उसकी प्राप्ति नहीं होती । बाहरी भेष या चिह्नका नाम ही प्रेम नहीं है।

प्रेम प्रेम सब कोइ कहे, प्रेम न चीन्हे कोय ।
जेहि प्रेमहिं साहिब मिले, प्रेम कहावे सोय ॥

सच्चा प्रेम वही है जिससे स्वामी श्रीरामका मिलन हो जाय । वे राम मिलते हैं प्रेमभरी विरहकी व्याकुलतासे, करुणापूर्ण हृदयकी सच्ची पुकारसे, सच्ची श्रद्धा और भक्तिसे एवं सच्चे हृदयकी उत्कट इच्छासे ! ये सब प्रेमके ही पर्याय हैं । मिलनेकी उत्कट इच्छा होनेपर भगवान्‌के विरहमें व्याकुल प्रेमीकी अपने प्रेमास्पद भगवान्‌के मिलनेका सन्देश मिलनेपर बड़ी ही मधुर अवस्था होती है । श्रीतुलसीदासजीने रामायणमें सुतीक्ष्णजीके प्रेमकी महिमा दिखाते हुए कहा है—

पन्नगारि सुनु प्रेम सम, भजन न दूसर आन ।
यह बिचारि पुनि-पुनि मुनी, करत राम गुन-गान॥
होइहिं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन-पंकज भवमोचन॥

निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाय सो दशा भवानी ॥
दिशि अरु विदिशि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करे गुन गाई ॥
अविरल प्रेम भक्ति मुनि पाई। प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई ॥

अहा ! क्या ही अनोखे आनन्दका दृश्य है !

प्रेमी जब अपने प्रेमास्पदके विरहमें व्याकुल रहता है और प्रेमीके मिलनकी उत्कण्ठासे उसके आनेकी प्रतीक्षा करता है, उस समय उसे पल-पलमें अपने प्रेमास्पदके पैरोंकी आहट ही सुनायी देती है। कोई भी आता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो मेरा प्रेमी ही आ रहा है। गोपियोंके पास जब उद्धव आये, तब उन्होंने यही समझा कि प्यारे श्रीकृष्ण ही पधारे हैं। बहुत समीप आनेपर ही वे यह जान सकीं कि ये श्रीकृष्ण नहीं हैं, उद्धव हैं; पर श्रीकृष्ण नहीं हैं तो क्या हुआ, ये प्राणप्यारे श्रीकृष्णका सन्देशा लेकर तो आये हैं, इसलिये ये भी श्रीकृष्णके समान प्यारे हैं। भागवतके दशम स्कन्धमें इस समयकी गोपिकाओंकी विचित्र दशाका बड़ा ही मार्मिक वर्णन है।

श्रीकृष्णकी प्रियतमा रुक्मिणीजी भगवान्‌के विरहमें जैसी व्याकुल हुई थीं, भगवान्‌के पहुँचनेमें विलम्ब होनेपर श्रीरुक्मिणीजीकी जो करुणाजनक अवस्था हुई थी, वह अत्यन्त ही रोमाञ्चकारिणी है। यह प्रसङ्ग प्रेमियोंको श्रीमद्भागवतमें देखना चाहिये।

भरतके विरहकी अवस्था रामायणके पाठकोंसे छिपी नहीं है। जब श्रीहनूमान्‌जी प्रभु श्रीरामजीका सन्देश लेकर आते हैं,

तब भरतकी आश्चर्यमयी अवस्थाको देखकर वे भी प्रेममें निमग्न हो जाते हैं। वहाँका वर्णन पढ़िये—

को तुम तात कहाँते आये। मोहिं परम प्रिय वचन सुनाये॥
दीनबन्धु रघुपतिकर किंकर। सुनत भरत भेंटे उठि सादर॥
मिलत प्रेम नहिं हृदय समाता। नयन श्रवत जल पुलकित गाता॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आज मोहिं राम-सप्रीते॥
यहि सन्देश सरिस जग माहीं। करि विचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥
निज दास ज्यों रघुवंश भूषण कबहुँ मम सुमिरन करयौ,
सुनि भरत बचन बिनीत अति कपि पुलकि तनु चरननि परयौ।
रघुबीर निज मुख जासु गुनगन कहत अग-जग-नाथ सो,
काहे न होहु बिनीत परम पुनीत सद्गुन सिन्धु सो।

राम प्रानप्रिय नाथ तुम, सत्य वचन मम तात।
पुनि पुनि मिलत भरत सन प्रेम न हृदय समात॥

अपने प्रेमास्पदद्वारा प्रेरित सन्देश पानेपर या प्रेमीका कुछ भी समाचार मिलनेपर जब गोपी, रुक्मिणी और भरतकी-सी अवस्था होने लगे तब समझना चाहिये कि असली विरहकी उत्पत्ति हुई है।

अहा! कृष्ण-प्राणा मीराजीकी दशा देखिये। श्रीकृष्णनाम-में रत, हरिके प्रेम-समुद्रमें डूबी हुई वह मतवाली प्रेमराती गाती है—

नातो नामको जी म्हाँस्यूँ तनक न तोड़्यो जाय॥
पाना ज्यूँ पीली पड़ी रे, लोग कहे पिंड रोग।
छाने लाँघण मैं किया रे, राम मिलणके जोग॥
बाबल बैद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हारी बाँह।
मूरख बैद मरम नहिं जाणै, कसक कलेजे माँह॥
जाओ बैद घर आपणे रे, म्हारो नाम न लेय।
मैं तो दाझी बिरहकी रे, काहे कूँ औषध देय॥
मांस गल गल छीजियो रे, करक रह्या गल आय।
आँगलियाँरी मूँदड़ी म्हारे, आवण लागी बाँह॥
रह रह पापी पपीहरा रे, पिवको नाम न लेय।
जे कोई बिरहण साँभले तो,पिव कारण जिव देय॥
छिन मन्दिर छिन आँगणेरे,छिन छिन ठाढ़ी होय।
घायल-सी झूमूँ खड़ी म्हारी, व्यथा न बूझे कोय॥
काढ़ कलेजो मैं धरूँ रे, कौआ तू ले जाय।
ज्याँ देशाँ म्हारो हरि बसै रे, वाँ देखत तू खाय॥
म्हारे नातो रामको रे, और न नातो कोय।
मीरा व्याकुल विरहणीरे,(हरि) दर्शन दीज्यो मोय॥

यही विशुद्ध प्रेम श्रीपरमात्माका मूल्य है या यों समझिये कि यही परमात्माका स्वरूप है। ऐसे विशुद्ध प्रेमकी जितनी ही वृद्धि होती है उतना ही मनुष्य परमात्माके नजदीक पहुँचता है। जैसे सूर्य प्रकाशका समूह है, वैसे ही परमेश्वर प्रेमके समूह हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों सूर्यके समीप जाता है त्यों-ही-त्यों क्रमशः प्रकाश-

की वृद्धि होती जाती है, इसी प्रकार जब वह प्रेममय भगवान्‌के जितना ही समीप पहुँचता है, उतनी ही उसमें प्रेमकी वृद्धि होती है। या यों समझिये, ज्यों-ज्यों प्रेमकी वृद्धि होती है त्यों-ही-त्यों वह परमात्माके समीप पहुँचता है। जैसे सूर्य और प्रकाश दो वस्तु नहीं है, प्रकाश सूर्यका स्वरूप ही है, वैसे ही प्रेम और भगवान् भी दो वस्तु नहीं है। प्रेम भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप ही है।

जब मनुष्य भगवत्-प्रेमके रङ्गमें रँग जाता है तब वह प्रेममय हो जाता है, उस समय प्रेम, (भक्ति) प्रेमी (भक्त) और प्रेमास्पद भगवान् तीनों एक ही रूपमें परिणत हो एक ही वस्तु बन जाते हैं। प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद कहनेके लिये ही तीन हैं, वास्तवमें तो वही एक वस्तु मानो तीन रूपोंमें प्रकट हो रही है। भगवान्‌के ज्ञानी, प्रेमी भक्त ऐसा ही कहा करते हैं। जब मनुष्य भगवान् वासुदेवके प्रेममें आत्यन्तिकरूपसे निमग्न हो जाता है, तब उसे सर्वदा, सर्वथा और सर्वत्र पद-पदमें भगवान् वासुदेव-ही-वासुदेव दीखते हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७।१९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं, इस प्रकार मुझको भजता है। ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है।' यही प्रेमका सच्चा स्वरूप है।

आत्मनिवेदन

आत्मनिवेदनके सम्बन्धमें सूक्ष्म विचार करना चाहिये। इसमें 'आत्मा' शब्द आत्माके सहित तीनों शरीरोंका वाचक है और 'निवेदन' का अर्थ अर्पण है। जिन वस्तुओं-पर हमने अपना अधिकार जमा रक्खा है, उनको उठाकर भगवान्के अर्पण कर देना आत्मनिवेदन है। यह शरणागतिका एक प्रधान अङ्ग है अथवा इसे भक्तिका भी एक प्रधान अङ्ग कह सकते हैं। शरणागतिके चार भेद हैं। शरणागतिका पहला अङ्ग है भगवान्के नाम या स्वरूपको पकड़ना। दूसरा अङ्ग है भगवान्के अधीन हो जाना अर्थात् उनके अनुकूल बन जाना, वे जिस प्रकार चलावें उसी प्रकार चलना। तीसरा अङ्ग है भगवान् जो कुछ भी विधान करें उसीमें

प्रसन्न रहना और चौथा अङ्ग है भगवत्परायण हो जाना, उन्हीं-की गोदमें जाकर बैठ जाना और अपने आपको भगवान्‌के अर्पण कर देना। जब मैं स्वयं ही भगवान्‌के अर्पण हो गया तो मेरी सारी चीजें भी उनके अर्पण हो गयीं।

आत्मसमर्पण नवधा भक्तिका अन्तिम अङ्ग है। यदि कोई पूछे कि सेव्य-सेवक-भाव और आत्मनिवेदनमें क्या अन्तर है? तो कहा जा सकता है कि यों तो कोई फरक नहीं है, क्योंकि आगे चलकर तो दास्यभाववाला भी आत्मसमर्पण करेगा और जिसने आत्मनिवेदन कर दिया वह भी दास ही है। परन्तु उदाहरणसे इनका अन्तर इस प्रकार समझ सकते हैं। एक दूकानपर दो मुनीम काम करते हैं, उसका जो कुछ लेन-देन माल-खजाना है उन सबको वे मालिकका ही मानते हैं। परन्तु उनमेंसे एक तो शरीर-निर्वाहके लिये अन्न-वस्त्रमात्र ही लेता है और दूसरा वेतन भी लेता है। इनमें पिछलेका सकाम और पहलेका निष्कामभाव है; निष्कामभाववालेका दर्जा ऊँचा है। दोनोंहीका सेव्य-सेवक-भाव है। किन्तु इनमें पहले दर्जेवाले भक्तने तो आत्मसमर्पण किया, दूसरेने नहीं।

प्राचीनकालमें एक और प्रकारके भी दास हुआ करते थे। वे दास ही जन्मते और दास ही मरते थे। उन्हें वेतन आदि कुछ भी नहीं मिलता था और वे दहेज आदिमें भी दिये जा सकते थे। राजाओंमें कहीं-कहीं तो यह प्रथा अब भी है। आत्मसमर्पणका दर्जा इन दास-दासियोंसे भी ऊँचा है। जैसे दो सेनाएँ लड़ रही

हैं, उनमेंसे एक राजा हार गया, वह दूसरेको आत्मसमर्पण कर देता है, कहता है कि चाहे मारो, छोड़ो या राज्य पीछा दे दो, तुम्हें अधिकार है। परन्तु यह आत्मसमर्पण भयसे है, भक्ति और श्रद्धासे नहीं। इस प्रकार आत्मसमर्पण करनेवालेको यदि विपक्षी राजा मारे तो उसको दुःख भी हो सकता है, क्योंकि उसने तो लाचार होकर शरण ली है। परन्तु जो पुरुष श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे आत्मसमर्पण करता है उसको तो मारने-काटनेपर भी आनन्द ही होता है। दास-दासियोंको भी मारनेपर दुःख होता है, क्योंकि उनका आत्मसमर्पण श्रद्धा-भक्ति-रहित है। जो प्रेम, भक्ति और श्रद्धासे आत्मसमर्पण करता है उसका कुछ भी करो, उसको दुःख नहीं होता। जैसे राजा बलिका आत्मसमर्पण प्रेम और श्रद्धा-पूर्वक था, भय या लाचारीसे नहीं था। उसको गुरु शुक्रने यह बता भी दिया कि यह साधारण ब्राह्मण नहीं है, तुम्हारा सब कुछ ले लेगा, तो भी उसने जान-बूझकर प्रेम और भक्तिसे अपना सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर दिया और कहा कि जब स्वयं भगवान् इस प्रकार मेरा सर्वस्व लेते हैं तो मेरेलिये इससे अधिक आनन्द और है ही क्या ? जो इस प्रकार भगवान्‌को आत्मसमर्पण करता है उसके मन, बुद्धि और शरीर आदि सब भगवान्‌के ही हो जाते हैं। उसका उनपर कोई अधिकार नहीं रह जाता। जड वस्तुओंमें इसका उदाहरण कठपुतली हो सकती है। कठ-पुतलीने नटको आत्मसमर्पण कर रक्खा है। नट उसका चाहे सो करे ? वह उसे कपड़ा पहनावे, युद्ध करावे या और जो कुछ करे, वह अपनी तरफसे कुछ नहीं करती। परन्तु कठपुतलीमें

चेतनाशक्ति नहीं है, वह जड है। जो पुरुष चेतनाशक्ति रहते हुए अपने-आपको उस कठपुतलीके समान भगवान्‌के अर्पण कर देता है, उसमें शरणागतिके और अङ्ग भी आ जाते हैं। शरणागतिके लिये इतना उपयुक्त दूसरा उदाहरण स्मरण नहीं आता। यदि बाजीगरके बन्दरका दें तो वह तो मालिककी आज्ञानुसार चलनेका है। यद्यपि यह भी शरणागतिका एक अङ्ग है परन्तु प्रधान बात तो अपने-आपको अर्पण कर देना ही है। जैसे हमलोग एक गाय किसी ब्राह्मणको अर्पण कर दें तो फिर उस गायपर उस ब्राह्मणका अधिकार हो जाता है, इसी प्रकार भगवान्‌को अपने-आपको अर्पण कर देनेसे अपना अधिकार नहीं रह जाता है। यदि बारीकीसे विचार किया जाय तो पहलेसे ही सारी चीजें परमात्माहीकी हैं, हमने उनपर अपना अधिकार जमा रक्खा है, वह उठा लिया जाय। जो इस प्रकार समझ जाता है, उसको लोकदृष्टिमें दीखनेवाले कैसे ही सुख-दुःख आकर प्राप्त हों, भगवान् उसका चाहे सो करें, उसको किसी प्रकारका विकार नहीं होता। इतना ही नहीं, वह आनन्दमग्न हो जाता है। उसको मालिकके सुखसे ही सुख होता है और मालिक कभी दुःखी नहीं होते इसलिये वह भी सदा सुखी रहता है। फिर उसके द्वारा जो नये कर्म होते हैं वे मालिकके अनुकूल उन्हींकी आज्ञानुसार होते हैं, क्योंकि उसके मन, बुद्धि और शरीर प्रभुके अर्पण हो चुके हैं। सारी वस्तुएँ मालिककी हैं, उनपर वह अपनी आज्ञा नहीं चलाता। भक्तिपूर्वक आत्म-समर्पण करनेके कारण वह भगवान्‌के शरण हो जाता है

और फिर परमात्माको कभी नहीं भूलता, निरन्तर उन्हींका चिन्तन करता रहता है।

शरणापन्न भक्त परमात्माको प्राप्त हो जाता है। वह चाहे उस महाप्रभुसे अलग रहकर चिन्तन करे, चाहे उसमें सम्मिलित होकर। चाहे तद्रूप होकर रहे, चाहे भिन्न सत्तासे रहे। परन्तु इस विषयमें उसका कोई संकल्प नहीं होता, उसका मालिक जो चाहे सो करावे, वह तो अपना सारा स्वत्व उसीको सौंप देता है। शरणागत भक्तकी अपनी तो कोई इच्छा ही नहीं होनी चाहिये। यदि उसमें कोई इच्छा हो जाती है तो उसके आत्मसमर्पणमें कसर है। फिर भी यह कोई बहुत बड़ा दोष नहीं है, बलिने भी तो पातालमें रहना माँगा था। वह अपनी ओरसे तो कुछ नहीं कहता परन्तु स्वामीके पूछनेपर अपनी इच्छा बता देना भी कोई दोष नहीं है। स्वामी देना चाहे तब भी कुछ न लेना और भी उत्तम है—वह बलिके आत्मसमर्पणसे भी ऊँची बात है। वरदान देनेकी बात कहनेपर वह सच्चा आत्मसमर्पण करनेवाला भक्त यह कहता है—'हे प्रभु! किसको वरदान देते हैं, मैं तो आपकी ही चीज हूँ। कुछ दे-लेकर मुझे अलग करते हैं क्या? यदि यही इच्छा है तो ऐसा कर दीजिये, आपहीकी इच्छापर तो सब कुछ निर्भर है। पिताकी इच्छा है—वे पुत्रको यों ही बिना कुछ दिये घरके बाहर कर दें, सौ-दो सौ रुपये देकर कर दें, अथवा सारी सम्पत्ति दे दें। पिता देख लेते हैं कि पुत्रकी कुछ इच्छा है तभी अलग करते हैं नहीं तो क्यों करें? सो हे प्रभु! आप यदि वरदान देनेकी बात कहते हैं तो अवश्य मेरे मनमें अलग रहनेका

भाव होगा, नहीं तो आप इस प्रकार कैसे कहते ? नाथ ! अवश्य मेरी कोई नालायकी हुई है, मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ । जो कुछ है सो तो आपका ही है । वरदान लेकर अलग कहाँ रक्खूँ ?' इस प्रकारका आत्मसमर्पण सख्यभाव और दासभाववाले भी कर सकते हैं । अतः आत्मसमर्पण भक्तिका एक पृथक् अंग है । सख्य और दासभाववाले ऐसा कर भी सकते हैं और नहीं भी करें तो कोई आपत्ति नहीं । यदि कहा जाय कि मित्रता तभी पूरी होगी, जब आत्मसमर्पण कर दिया जायगा, सो ठीक है, परन्तु मित्र तो इसके बिना भी हो सकता है । विभीषणके आत्मसमर्पणमें इतना महत्व नहीं प्रतीत होता । श्रीकृष्णको सखाभावसे आत्मसमर्पण तो गोपियोंने ही किया था । वे अपने ऊपर अपना कोई अधिकार नहीं समझती थीं । एकमात्र श्रीकृष्णका ही अधिकार मानती थीं । एक पुरुषमें नवधा-भक्तिके सारे भेद भी रह सकते हैं और दो चार अंग भी रह सकते हैं । भजन-ध्यान, सेवा-नमस्कार करते हुए आत्मसमर्पण नहीं भी हो सकता है । हाँ, और सब भक्तियाँ आ जानेपर भी यदि आत्मसमर्पण नहीं होता तो इतनी कमी ही है । जिसमें आत्मसमर्पण नहीं है वह भी भक्त तो है और कहलाता भी भक्त ही है; परन्तु आत्मसमर्पण कर देनेवाले भक्तकी तो महिमा ही अलग है । इसीलिये नवधा-भक्तिमें इस अङ्गको अन्तिम बतलाया गया है । यही सबसे ऊँचा भाव है ।

भक्तिका पहला अङ्ग श्रवण है इसलिये इसको सर्वप्रथम भक्ति कहते हैं । श्रवणके बिना कोई भक्ति नहीं हो सकती । यदि कोई

ऐसा उदाहरण मिले तो उसमें भी पूर्व-संस्कार तो मिलेंगे ही, जिनसे यही प्रतीत होता है कि इसने पूर्वजन्ममें ही श्रवण कर लिया होगा। श्रवण आदिभक्ति है, पहले सुनता है तभी तो उसकी रुचि होकर वह इस तरफ लगता है। आत्मनिवेदन अन्तिम भक्ति है, इसमें और सब भक्तियाँ समा जाती हैं। आत्मनिवेदन हो जानेपर उसकी अनन्यभक्ति हो जाती है; शरणागतिके जितने भाव हैं वे स्वयं ही आ जाते हैं। पतञ्जलिने जो *'ईश्वरप्रणिधान'* कहा है वह भी इस पुरुषमें आ जाता है तथा उसका फल समाधिसिद्धि भी उसे मिल जाती है। फिर उद्धारकी तो उसे कोई चिन्ता ही नहीं रहती, उसका तो उद्धार हो चुका।

आत्मसमर्पण करके भक्त सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है। उसे अपने लौकिक अथवा पारलौकिक किसी प्रकारकी भय या चिन्ता नही रहती। एक मनुष्य पाठशाला चलाता है, रात-दिन उसकी चिन्तामें लगा है, यदि कोई योग्य सम्पत्तिशाली सज्जन उस कामको सँभाल ले तो फिर वह निश्चिन्त हो जाता है। फिर कभी-कभी वह उसका काम करता भी है तो भी उसे कोई चिन्ता नहीं होती, इसी प्रकार जैसे कोई आदमी अपना काम किसी योग्य व्यक्तिको सौंपकर परदेश जाय तो उसे पीछेके कामका कोई फिक्र नहीं रहता। ऐसे ही जो अपने आपको भगवान्के अर्पण कर देता है उसके लिये भय और चिन्ताके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। उसके आनन्दका पार नहीं रहता। जैसे किसी कंगाल लड़केको कोई करोड़पति दत्तक (गोद) ले तो वह बड़ी प्रसन्नतासे उस पिताकी गोदमें जाकर बैठ जाता है और बेफिक्र हो जाता है।

वह जानता है कि तेरे पास पाँच पैसे भी नहीं थे और अब तू करोड़ोंकी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी हो गया। अतः उस पिताकी गोदमें बैठकर उसे बड़ा ही आनन्द होता है, क्योंकि इससे उसके अन्न-वस्त्रकी चिन्ता सदाके लिये मिट जाती है। यह तो एक मनुष्यकी गोद बैठनेकी बात है, जो उस परमात्माको अपना आत्मसमर्पण कर देता है उसके आनन्दका क्या ठिकाना है? वहाँ भयकी बात ही कहाँ है? साधारण लक्ष्मीवान्की गोदमें बैठनेवालेको भी भय नहीं रहता, फिर परमात्मा तो सर्व-सामर्थ्यवान् है, उसकी गोदमें भय कैसा? वहाँ पहुँचकर फिर शान्तिका पार नहीं रहता। धनवान्की गोदमें बैठनेवाला तो धनके स्वार्थवश, उसमें बाधा पड़नेपर उसीका अनिष्ट चिन्तन कर सकता है। यह उसकी नीचता और कृतघ्नता है, परन्तु परमात्माकी गोदमें कोई इस स्वार्थसे नहीं बैठता, उसको इसी बातमें बड़ा आनन्द होता है कि प्रभुने मुझको अपना लिया। हमलोग तो उसके आनन्दको समझ ही नहीं सकते। बड़ी विलक्षण बात है। एक करोड़पति वाइसरायसे मिलने जाता है, उसके साथ दो-चार आदमी हैं और वह लड़का भी है जिसे उसने दत्तक लेनेका विचार किया है। वाइसराय पूछते हैं यह लड़का किसका है? वह लड़का कहता है मैं इनका हूँ, परन्तु जहाँतक वह करोड़पति स्वयं अपने मुँहसे यह बात स्वीकार नहीं कर लेता, वहाँतक वाइसराय उसकी बात नहीं मानते। यदि दूसरी बार वह लड़का अकेला जाता है तो वाइसराय उसका कोई स्वागत नहीं करते, कहते हैं सेठका पत्र लाओ। तुम ही तो कहते हो मैं उनका हूँ, उन्होंने कहाँ स्वीकार किया है?

इस प्रकार उस लड़केके कहनेका कोई विशेष असर नहीं पड़ता। वह लड़का अपने मुँहसे कहता है मैं इनका हूँ। इसमें उसे वह आनन्द नहीं मिलता जो उस धनवान्‌के यह कहनेपर मिलता है कि यह मेरा है, इसी प्रकार अभी तो हम ही कह रहे हैं कि हम आपके हैं। जिस दिन प्रभु हमें स्वीकार कर लेंगे और कहेंगे कि 'तू मेरा है' उसी दिन हम सच्चे उसके होंगे। जिसे परमात्मा अपनाते हैं उसके आनन्दको हमलोग क्या कह सकते हैं? उसमें स्वार्थ नहीं, प्रेम है। दत्तक गये हुए लड़केको तो यदि पिता कष्ट देते हैं तो वह विरुद्ध भी हो जाता है, क्योंकि वह तो धनके लोभसे गया है, परन्तु जो निष्काम प्रेमभावसे अपने आपको भगवान्‌के समर्पित कर देते हैं, उनके शरीरके तो यदि टुकड़े-टुकड़े भी कर दिये जायँ तो भी वे अपना अहोभाग्य ही समझते हैं। वहाँके लायक तो कोई उदाहरण ही नहीं प्रतीत होता। कोई आदमी किसी महात्माके पास जाता है और उनसे एक वस्त्र स्वीकार करनेकी प्रार्थना करता है। महात्मा अस्वीकार कर देते हैं। वह तो अर्पण करता है परन्तु जहाँतक महात्मा स्वीकार नहीं करते वहाँतक अर्पण नहीं होता। जब विशेष आग्रह करनेपर महात्मा स्वीकार कर लेते हैं, तब अर्पण हो जाता है। वह कहता है, अहा! मेरा अहोभाग्य है जो मेरा वस्त्र महात्माजीने स्वीकार कर लिया। फिर जब महात्मा उस वस्त्रको अपने सेवकोंको न देकर स्वयं अपने काममें लाते हैं, उस समय उसे कितना आनन्द होता है? महाराजकी सेवामें एक पंखा भेंट किया जाता है, गरमी खूब पड़ रही है, उसी पंखेसे अपने ही हाथसे हवा करनेका

विशेष आग्रह करनेपर यदि वे महात्मा स्वीकार कर लेते हैं तो कितना आनन्द होता है ? महाराज सोना चाहते हैं, उनसे प्रार्थना की जाती है महाराज ! मेरी गोदमें सोनेकी कृपा कीजिये ! विशेष आग्रहसे यदि वे स्वीकार कर लें तो कितना आनन्द होता है ? अब यदि देखा जाय तो वह महात्मा हैं या नहीं, इसका पता नहीं । हमारी भावनासे ही हमको इतना आनन्द होता है । ऐसे ही वह परमात्मा जिसको बहुत-से महात्मा प्राप्त हो चुके हैं, यदि हमारे शरीरको अपने काममें लाते हैं या काटते भी हैं तो कितना आनन्द होना चाहिये, उस समय हमारा रोम-रोम हर्षित हो जाना चाहिये । यदि हमारे शरीरके चमड़ेकी जूतियाँ बनाकर वह पहन लें, तो हम कृतकृत्य हो जायँ । अहा, हमारे शरीरका ही यह उपयोग हो रहा है । कितनी दया है, हमारी वस्तुको प्रभु काममें ला रहे हैं । एक पतिव्रता पतिके सुखसे सुखी होती है, जिस समय पतिदेव उसका तन-मन अपने काममें लाते हैं तब वह अत्यन्त ही आनन्दित होती है । यद्यपि वह पतिव्रता अपने पतिमें ईश्वर-भाव ही रखती है परन्तु तो भी यह तो समझती है कि वे मेरेलिये ही नारायण हैं । दो घनिष्ठ मित्रोंमेंसे यदि एक दूसरेकी वस्तुको बिना पूछे अपने काममें लाता है तो उस वस्तुके स्वामीको आनन्द ही होता है, यह समझकर उसे और भी अधिक आनन्द होता है कि मेरे मित्रने मेरी वस्तु स्वीकार कर ली । ये सब तो लौकिक बातें हैं, इसी प्रकार यदि साक्षात् परमेश्वर हमारी वस्तुओं और हमारे शरीरादिको अपने काममें लाते हैं तो उससे बढ़कर हमारे लिये और क्या आनन्दकी बात हो सकती है ? इस प्रकार जो प्रभुको

आत्मसमर्पण कर देता है उसके आनन्दका कोई ठिकाना नहीं रहता ।

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके सहित साधुवेषमें सिंहको साथ लिये राजा मयूरध्वजके यहाँ पहुँचे, उस समय उन्होंने राजाके पुत्र रत्नकुमारका आधा शरीर अपने सिंहके लिये माँगा । राजाने कहा 'महाराज ! मुझे तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु रानीसे पूछना आवश्यक है ।' रानीके स्वीकार करनेपर, राजा-रानी दोनोंने पुत्रसे पूछा । पुत्र बोला—'ऐसा अवसर फिर कहाँ मिलेगा ? ये तो साक्षात् भगवान् हैं ।' राजा और रानी दोनों पुत्रको चीरने लगे, पुत्र हँसता है, खिलता है; उसे यह ज्ञान है कि ये परमेश्वर हैं । उसमें श्रद्धा है, प्रेम है और प्रसन्नता है । राजा और रानीने तो अपनी प्यारी चीज़ ही भगवान्के अर्पण की परन्तु रत्नकुमारने तो स्वयं अपने-आपको अर्पण कर दिया । राजा-रानीको उसके समान आनन्द कैसे हो सकता था ? उस समय रानीकी आँखोंसे आँसू गिरते देखकर साधु बोले—हम नहीं जीमते । रानी कहती है महाराज मैं पुत्रके मृत्युशोकसे नहीं रोती, दुःख यही है कि पुत्रका आधा ही शरीर काममें आया । आधेने न जाने क्या पाप किया है ? भगवान् तुरन्त प्रकट हो गये । वे तो प्रकट होनेवाले ही थे । यदि हमारा भाव ऐसा हो तो हमारी सब वस्तुएँ भगवान्के अर्पण ही हैं । उन तीनोंमें किसीको भी दुःख होता तो भगवान् नहीं लेते । हर्षके साथ अर्पण करना चाहिये । राजा मयूरध्वज, रानी और राजकुमारका-सा

भाव हो तो भगवान् तुरन्त प्रकट हो जायँ। जो ऐसी प्रसन्नतासे अपने-आपको भगवदर्पण करता है उसीको भगवान् स्वीकार करते हैं, ऐसे प्रेमसे दी हुई वस्तुको भगवान् नहीं त्यागते। महात्मा लोग भी प्रेमसे दी हुई वस्तुको आवश्यकता होनेपर ले लेते हैं; वे समझते हैं कि नहीं लेनेसे इस बेचारेको दुःख होगा। फिर परमात्माकी ओरसे तो खुली आज्ञा हो चुकी है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० ६। १८। ३३)

'जो एक बार भी सच्चे हृदयसे उनकी शरण हो जाता है उसको वे कभी नहीं त्यागते।' जैसे किसीके पास एक वस्त्र है, उस वस्त्रने अपने स्वामीको आत्मसमर्पण कर रक्खा है। वह उसे फाड़े, फेंके, जलावे, बिछावे, ओढ़े अथवा किसीको दे डाले, वह कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं देता, वह उसका कैसा ही उपयोग करे उस वस्त्रको कोई आपत्ति नहीं होती। इस प्रकारसे जो उन प्रभुको आत्मसमर्पण कर देता है, वे उसका चाहे सो करें उसे कोई आपत्ति नहीं होती। ऐसा पुरुष जीता हुआ ही मुक्त हो जाता है। वह जीता हुआ ही मुरदेके समान प्रभुके समर्पित हो जाता है, मुरदा कोई आपत्ति कर सकता हो तो वह भी करे। इस प्रकार जो जीता हुआ ही मुरदेका सच्चा स्वांग कर दिखलाता है वही जीवन्मुक्त है।

ऐसा जीवन्मुक्त महात्मा निर्भय हो जाता है, वह शोकसे तर जाता है तथा अटल और नित्य शान्तिको प्राप्त होता है।

उस जीवन्मुक्तका संसारमें विचरना हमलोगोंके कल्याणके लिये ही होता है। उसे अपने लिये कोई कर्तव्य नहीं रहता।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(गीता ३।१७)

जो पुरुष इस प्रकारसे भगवत्-शरण हो जाता है उसका जीवन केवल लोगोंके कल्याणके लिये ही होता है। जैसे पञ्चायतीके सामानसे जो चाहे वही अपना काम निकाल सकता है, उसी प्रकार उस पुरुषसे भी सबको अपना काम निकाल लेनेका अधिकार-सा होता है। ऐसे विरक्त पुरुषोंका जीना संसारके उपकारके लिये ही होता है। परन्तु उनमें ऐसा भाव नहीं होता कि मैं संसारके हितके लिये विचरता हूँ। जो ऐसा कहता है वह तो अभिमानी है, वह जीवन्मुक्त कभी नहीं हो सकता। अमानित्व आदि सद्गुण तो उसमें पहलेसे ही आ जाते हैं।

ऐसे पुरुषोंके दर्शनसे नेत्र, भाषणसे वाणी और चिन्तनसे मन पवित्र हो जाता है। ऐसे पुरुष संसारमें हजारों-लाखों हो चुके हैं। उत्तराखण्डकी तपोभूमिमें तो ऐसे बहुत ऋषियोंने तपस्या की है। वह पवित्र भूमि स्वाभाविक ही वैराग्ययुक्त है। उस भूमिमें रहनेवाले महात्मा पुरुषोंकी महिमा कहाँतक गायी जाय? भगवान्से यदि कुछ माँगना हो तो यही माँगे कि हे प्रभु! जिन महात्माओंकी महिमा आप गाते हैं, हमें उन्हींके

चरणचिह्नोंका अनुगामी बनाइये ! और माँगनेकी भी क्या आवश्यकता है ? जो पुरुष भगवान्‌की शरण हो जायगा और जिसे भगवान् अपनालेंगे उसके उद्धारकी तो बात ही क्या है, वह तो औरोंका भी उद्धार कर सकता है ऐसे महात्मामें ऐसे लक्षण आ जाते हैं । भगवान् कहते हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

(गीता १२ । १८-१९)

'जो पुरुष शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है तथा जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है एवं जिस-किस प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिर बुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मेरेको प्रिय है ।'

ध्यानकी आवश्यकता

मनुष्य-जीवनका उद्देश्य भगवान्को प्राप्त करना है। इसके लिये प्रधान साधन दो प्रकारके हैं—भेद मानकर और अभेद मानकर। दोनों दो प्रकारके अधिकारियोंके लिये हैं, फल दोनोंका एक ही है। इसलिये यह बात नहीं कि अमुक ही करना चाहिये। अधिकांशमें भेदका साधन ही सबके लिये उत्तम और सुगम समझा जाता है। अभेदमें भी दो प्रकार हैं—एक *'अहं ब्रह्मास्मि'* (बृ० १ । ४ । १०) मैं ब्रह्म हूँ और दूसरा *'वासुदेवः सर्वमिति'* (गीता ७ । १९) सब वासुदेव ही है। इनमें दूसरा प्रकार श्रेष्ठ है। अपनेमें ब्रह्मका समावेश न करके भगवान्में ही सबका और अपना समावेश कर देना चाहिये।

भेद और अभेद दोनों ही साधनोंमें ध्यानकी सबसे अधिक आवश्यकता है। गीता, योगशास्त्र आदि सभी ग्रन्थ ध्यानकी उपादेयताका वर्णन करते हैं। गीतामें तो भगवान्ने *'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'* (६ । २५) कहकर केवल भगवच्चिन्तनका ही उपदेश दिया है। परन्तु अधिकांश लोग कठिन समझकर या आलस्यके वश हो इस स्थितिपर पहुँचनेके लिये प्रयत्न ही नहीं करते।

ध्यान बहुत ही कम किया जाता है और इस विषयमें लोग निरुत्साह-से हो रहे हैं। यह स्थिति बहुत शोचनीय है। मनुष्य-को यह बात दृढ़ निश्चयके साथ मान लेनी चाहिये कि अभ्यास करनेसे 'अचिन्त्य-अवस्था' अवश्य होती है। जैसे लोग भ्रमवश निष्काम कर्मको असम्भव मानकर कह देते हैं कि स्वार्थरहित कर्म कभी हो ही नहीं सकता, वे इस बातको नहीं सोचते कि जब चेष्टा और अभ्यास करनेसे स्वार्थ या कामना कम होती है तब किसी समय उनका नाश भी जरूर हो सकता है। जो चीज घटती है वह नष्ट भी होती है, फिर निष्काम या निःस्वार्थ कर्म क्यों नहीं होंगे, इसी प्रकार जब एक-दो क्षण मन अचिन्त्य-दशा-को प्राप्त होता है तो सदाके लिये भी वह हो ही सकता है। आवश्यकता है अभ्यास करनेकी।

अभ्यास भी बड़े उत्साह और लगनके साथ करना चाहिये। क्षण-दो-क्षणके लिये संसारकी ओर मन कम जाय, इतनेमें ही सन्तोष नहीं मानना चाहिये। मनको परमात्मामें पूर्ण एकाग्र करना चाहिये। जबतक कम-से-कम मिनट-दो-मिनट भी मन संसारको सर्वथा छोड़कर परमात्मामें पूर्णरूपसे न लगे, तबतक ध्यानका अभ्यास छोड़कर आसनसे नहीं उठना चाहिये। यदि दृढ़ निश्चयके साथ ध्यानका अभ्यास किया जायगा तो अवश्य उन्नति होगी। संसारका चित्र मनसे सर्वथा हटानेकी चेष्टा करते-करते ऐसा स्वाभाविक अभ्यास बन सकता है कि फिर जिस समय आप चाहेंगे, उसी समय आपके मनमें संसारका अभाव हो

जायगा। परमात्माके अतिरिक्त समस्त संसारका अभाव हो जाना ही अचिन्त्य-अवस्था है। इस अवस्थामें ज्ञानकी जागृति रहती है, इसलिये लय-अवस्था नहीं होती। सबको भुलाकर परमात्मामें मन न रहनेसे ही लय-अवस्था समझी जाती है। गीतामें उस विज्ञानानन्दघन परमात्माको सर्वज्ञ, अनादि, सबका नियन्ता, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करनेवाला, अचिन्त्य-स्वरूप, प्रकाशरूप, अविद्यासे परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन, ज्ञान-स्वरूप बतलाया है। इस प्रकार जैसा स्वरूप समझमें आवे, उसी स्वरूपको पकड़कर उसका ध्यान करना चाहिये। परमात्माका यथार्थ स्वरूप तो इसका फल है। उसका वर्णन हो नहीं सकता। उस ज्ञानस्वरूप परमात्माको ग्रहण करके सबको भुला देना चाहिये।

यदि ऐसा ध्यान समझमें न आवे तो सूर्यके सदृश प्रकाशस्वरूपका ध्यान करना चाहिये, सूर्यके सामने आँखें मूँदनेपर सामान्यभावसे जो प्रकाशका पुञ्ज प्रतीत हो, उसीको देखता रहे और सब कुछ भुला दे। यह ब्रह्मके तेजस्वरूपका ध्यान है।

इस प्रकार न किया जाय तो भगवान्‌के जिस सगुण स्वरूपमें भक्ति हो उसी स्वरूपकी मूर्ति मनके द्वारा स्थिर करके मनको उसके अन्दर भलीभाँति प्रवेश करा दे। उन भगवान्‌के सिवा संसारका और अपना कुछ भी ज्ञान न रह जाय। जबतक ध्यानकी ऐसी अनन्य स्थिति न हो। (हो चाहे प्रारम्भमें एक-दो मिनट ही) तबतक आसनसे नहीं उठना चाहिये। जब ऐसी स्थिति हो जायगी, तब चित्तमें एक अपूर्व शान्ति और प्रफुल्लता

होगी, जिससे ध्यानमें आप ही रुचि बढ़ जायगी। निराकार या साकारका—कोई-सा भी ध्यान हो—होना चाहिये इस प्रकारका कि जिसमें संसारका और अपना बिल्कुल पता ही न रहे। एक इष्टके सिवा सबका अत्यन्त अभाव हो जाय। ध्यानकी इसी स्थितिके लिये सब प्रकारके साधन किये जाते हैं, सेवा, भजन आदि जो कुछ भी किया जाय, ध्यानकी प्रगाढ़ स्थितिसे सब नीचे हैं। परमात्मामें अचल-अटल वृत्ति स्थिर हो जाना ही बहुत बड़ा लाभ है। इस प्रकारके ध्यानकी कामना रखनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है। मुक्तिकी कामना न करके ऐसे अविचल ध्यानकी कामना करना अच्छा है। जिसकी ऐसी नित्य स्थिति हो जाती है वह दूसरोंको भी ध्यानकी युक्ति बता सकता है।

चेतन ज्ञानस्वरूपमें मनके लय हो जानेपर उसकी कैसी स्थिति होती है सो बतलायी नहीं जा सकती। वैसी अवस्था हुए बिना उसे कोई नहीं समझ सकता। जैसे आजन्म ब्रह्मचारी स्त्री-संगकी अवस्थाको नहीं समझता। जब नाशवान् भोगकी एक अवस्था नहीं समझायी जा सकती तब ब्राह्मी स्थितिको तो वाणीसे कोई कैसे समझा सकता है? उस अवस्थाको समझनेके लिये वैसी अवस्था बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। सबको भूलनेके बाद जो कुछ बच रहे उसीको अपना इष्ट ध्येय बनाकर उसका ध्यान करना चाहिये। ऐसे ध्यानमें ऊँचे-से-ऊँचा आनन्द प्राप्त हो सकता है।

अपने अधिकांश लोगोंका भक्तिका मार्ग है और भक्तिके मार्गमें ध्यान प्रधान है। भगवान्ने जहाँ-जहाँपर गीतामें भक्तिकी

महिमा गायी है, वहाँ ध्यानका बड़ा महत्त्व बतलाया है। किसी तरह भी भगवान्में मनको प्रवेश करा देना चाहिये। भगवान्ने उसीको उत्तम बतलाया है। भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६।४७)

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२।२)

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

(गीता १२।८)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।' 'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं।' 'इसलिये तू मुझमें मनको लगा, मुझमें ही बुद्धिको लगा, इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा अर्थात् मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

ध्रुवसे द्वेष किया था, उनके इष्टदेव भगवान्‌से नहीं, परन्तु प्रह्लाद-जीके पिता हिरण्यकशिपुने तो प्रह्लादके इष्टदेव भगवान्‌से द्वेष किया था। अपने प्रति किया हुआ दोष तो भक्त मानते ही नहीं, फिर माता-पिताद्वारा किया हुआ तिरस्कार तो उत्तम फलका कारण होता है। इसलिये ध्रुवजीका मातामें गुणका आरोप करना उचित ही था। परन्तु प्रह्लादजीके तो इष्टदेवका तिरस्कार था। प्रह्लादजीने अपनेको कष्ट देनेवाला जानकर पिताको दोषी नहीं बतलाया, उन्होंने भगवान्‌से उनका अपराध करनेके कारण क्षमा माँगकर पिताका उद्धार चाहा।

वास्तवमें दोनों ही विलक्षण भक्त थे। भगवान्‌का दर्शन करनेके लिये दोनोंकी ही प्रतिज्ञा अटल थी, दोनोंने उसको बड़ी ही दृढ़ता और तत्परतासे पूर्ण किया। प्रह्लादजीने घरमें पिताके द्वारा दिये हुए कष्ट प्रसन्न मनसे सहे, तो ध्रुवजीने वनमें अनेक कष्टोंको सानन्द सहन किया। नियमोंसे कोई किसी प्रकार भी नहीं हटे, अपने सिद्धान्तपर दृढ़तासे डटे रहे, कोई भी भय या प्रलोभन उन्हें तनिक-सा भी नहीं झुका सका।

बहुत-सी बातोंमें एक-से होनेपर भी प्रह्लादजीमें निष्काम-भावकी विशेषता थी और ध्रुवजीमें सौतेली माताके प्रति गुणारोपकर उसके लिये मुक्ति माँगनेकी!

वास्तवमें दोनों ही परम आदर्श और वन्दनीय हैं, हमें दोनोंहीके जीवनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

भावनाके अनुसार फल

सब जग ईश्वररूप है, भलो बुरो नहिं कोय ।
जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय ॥

सारा संसार ईश्वररूप है, जिसकी जैसी भावना होती है उसको उसीके अनुरूप फल भी प्राप्त होता है । मनुष्य जब बीमार होता है तब वह बहुत ही व्याकुल हुआ करता है। उसकी व्याकुलताका प्रधान हेतु यही है कि वह उस रोगमें दुःखकी भावना करता है । वेदनाका अनुभव होना दूसरी बात है और उससे दुखी होना और बात

मुझे अग्निमें दग्ध करके तपावेंगे जो मेरे लिये परम तप होगा ।'

इस प्रकार मृत्युरूप महान् कष्टको परम तप समझनेवालेको शोक और मृत्युका भय नहीं होता । उसे मृत्युमें भी परम प्रसन्नता होती है । जैसे तपके लिये वनमें जानेवाले तपस्वीको वन जानेमें भय और बन्धु-बान्धव तथा कुटुम्बियोंके वियोगका दुःख न होकर प्रसन्नता होती है और जैसे वनमें चले जानेके बाद पापोंके नाश तथा आत्माकी पवित्रताके लिये किये जानेवाले पञ्चाग्नि-तापमें शारीरिक कष्ट शोकप्रद न होकर उत्साह, शान्ति और आनन्दप्रद होता है, वैसे ही अपनी सुदृढ़ भावनासे मृत्युको 'परम तप' के रूपमें परिणत कर देनेवाले पुरुषको भी मृत्युका भय और शोक नहीं होता । ऐसी अवस्था होनेपर ही समझना चाहिये कि उसका मृत्युको परम तपके रूपमें समझना यथार्थ है ।

श्रुति कहती है—

'एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद । एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यं हरन्ति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद । एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद ।'

(बृ० ५ । ११)

'ज्वरादि व्याधियोंसे पीड़ित रोगी जो उस व्याधिसे तपायमान होता है, उस कष्टको ऐसा समझे कि यह 'परम तप' है। इस प्रकार उस व्याधिकी निन्दा न करके और उससे दुःखित न होकर उसे 'परम तप' माननेवाले विवेकी पुरुषका वह रोगरूप तप कर्मोंका नाश करनेवाला होता है और उस विज्ञानसे उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, वह परम लोकको जीत लेता है अर्थात् मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार मृत्युके समीप पहुँचा हुआ मनुष्य मृत्युको प्राप्त होनेसे पूर्व इस तरह चिन्तन करे कि मरनेके अनन्तर मुझे अन्त्येष्टिके लिये लोग जो ग्रामसे बाहर वनमें ले जायँगे, वह मेरेलिये परम तप होगा (क्योंकि ग्रामसे वनमें जाना 'परम तप' है, यह लोकमें प्रसिद्ध है)। जो उपासक इस प्रकार समझता है वह परम लोकको जीत लेता है। तथा मेरे शरीरको वनमें ले जाकर लोग उसे अग्निमें जलावेंगे, वह भी मेरेलिये परम तप होगा (क्योंकि अग्निसे शरीर तपाना परम तप है, यह लोकमें प्रसिद्ध है)। जो उपासक इस प्रकार समझता है, वह परम लोकको जीत लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है।

उपर्युक्त श्रुतिद्वारा उपदिष्ट विवेचनके अनुसार प्रत्येक मनुष्यको रोग और मृत्युमें परम तपकी भावना करके परम पदकी प्राप्तिके लिये पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

सत्यकी शरणसे मुक्ति

सत्—यह शब्द व्यापक है, असलमें तो 'सत्' शब्दपर विचार करनेसे यही सूझता है कि यह परमात्माका ही स्वरूप है—उसीका नाम है। जो पुरुष सत्के तत्त्वको जानता है वह परमात्माको जानता है। जो सत् है वही नित्य है—अमृत है। इसके तत्त्वका ज्ञाता मृत्युको जीत लेता है, शोक और मोहको लाँघकर निर्भय—नित्य परमधामको जा पहुँचता है। वह सदाके लिये अभय अमृत-पदको प्राप्त हो जाता है। उसीको लोग संसारमें जीवन्मुक्त, ज्ञानी, महात्मा आदि नामोंसे पुकारते हैं। उसकी सबमें समबुद्धि हो

जाती है, क्योंकि सत् परमात्मा सबमें सम है और वह सत्में स्थित है, इसलिये उसमें विषमताका दोष नहीं रह सकता। वह कभी असत्य नहीं बोलता। उसके मन, वाणी और शरीरके होनेवाले सभी कर्म सत्य होते हैं। उसकी कोई भी क्रिया असत्य न होनेसे उसके द्वारा किया हुआ प्रत्येक आचरण सत्य समझा जाता है। वह जो आचरण करता या बतलाता है वही लोकमें प्रामाणिक माना जाता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

ऐसे पुरुषका अन्तःकरण, शरीर और उसकी इन्द्रियाँ सत्यसे पूर्ण हो जाती हैं। उसके आहार-व्यवहार और क्रियाओंमें सत्य साक्षात् मूर्ति धारण करके विराजता है। ऐसे नर-रत्नोंका जन्म संसारमें धन्य है। अतः हमलोगोंको इस प्रकार समझकर सत्यकी शरण लेनी चाहिये अर्थात् उसे दृढ़तापूर्वक भलीभाँति धारण करना चाहिये।

सत्यका स्वरूप

सत्य उसका नाम है जिसका किसी कालमें बाध नहीं होता। जो नित्य एकरस, सदा-सर्वदा सब जगह समभावसे स्थित है और जो स्वतः प्रमाण है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

ऐसा 'सत्य' एक विज्ञान आनन्दघन चेतन परमात्मादेव ही है। श्रुति कहती है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।
(तै० २।१)

जीवात्मा भी सत् है। परमेश्वरका अंश होनेके नाते उसको भी सनातन—नित्य कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
(गीता १५।७)

गीता अध्याय २ श्लोक १७ से २१ और २३ से २५ तकमें इस विषयका वर्णन किया गया है। अतएव उस सनातन, अव्यक्त, सत्यरूप परमात्माकी शरण लेनेसे यह जीव मायाको लाँघकर सत्यस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। विज्ञान आनन्दघन परमात्मा सत्य है इसलिये उसका नाम भी सत् कहा गया है, क्योंकि रूपके अनुसार ही नाम होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है—

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
(गीता १७।२३)

ॐ, तत्, सत्—ये तीन नाम ब्रह्मके बताये गये हैं। 'सत्' शब्द भावका अर्थात् अस्तित्वका वाचक है। संसारमें जो कुछ भी सिद्ध होता है वह 'सत्' के आधारपर ही होता है। अतएव सारे संसारका आधार सत्य ही है। सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथिवी आदि सब सत्यमें ही प्रतिष्ठित हैं। सत्यकी ही प्रतिष्ठासे सूर्य

तपता है और वायु बहता है। बिना सत्यके किसी भी पदार्थकी सिद्धि नहीं होती। सत्य परमात्माका स्वरूप है और परमात्मा सबसे उत्तम अर्थात् श्रेष्ठ है, इसलिये श्रेष्ठ गुण, उत्तम कर्म और साधु-भावमें 'सत्' शब्दका प्रयोग किया गया है अर्थात् जो कुछ भी श्रेष्ठ गुण, उत्तम कर्म और साधु-भाव होता है वह सद्गुण, सद्भाव और सत्कर्म नामसे ही लोक और शास्त्रमें विख्यात है।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥

(गीता १७। २६)

उत्तम कर्म होनेके नाते यज्ञ, दान और तप भी सत्कर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं एवं इनमें जो निष्ठा तथा स्थिति है उसे भी 'सत्' कहते हैं। स्वार्थको त्यागकर सत्स्वरूप परमात्माके अर्थ किया हुआ प्रत्येक कर्म लोक और शास्त्रमें सत्कर्मके नामसे ही विख्यात है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

(गीता १७। २७)

विचारनेसे यह बात युक्तियुक्त भी सिद्ध होती है कि सत्यके अर्थ जो भी क्रिया की जाती है वह सत्य ही समझी जाती है। इसीलिये सत्यके निमित्त कर्म करनेवालेकी कायिक, मानसिक और वाचिक सम्पूर्ण क्रियाएँ सत्य ही होती हैं यानी वे सब क्रियाएँ लोकमें सत्य प्रमाणित होती हैं।

सत्य-भाषण

कपट, शब्द-चातुरी और कूटनीतिको छोड़कर हिंसावर्जित सरलताके साथ जैसा देखा, सुना और समझा हो उसे वैसा-का-वैसा—न कम, न ज्यादा—कह देना सत्य-भाषण है। सत्य-भाषणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको निम्नलिखित बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये—

(१) न स्वयं झूठ कभी बोलना चाहिये और न किसीको प्रेरित करके बुलवाना चाहिये। दूसरेको प्रेरणा करके अथवा उसपर दबाव डालकर जो उससे झूठ बुलवाता है वह स्वयं झूठ बोलनेकी अपेक्षा गुरुतर मिथ्या-भाषण करता है, क्योंकि इससे झूठका प्रचार अधिक होता है। किसी झूठ बोलनेवालेसे सहमत भी नहीं होना चाहिये। उस समय मौन साधे रहना भी एक प्रकारसे झूठ ही समझा जाता है। तात्पर्य यह कि कृत, कारित और अनुमोदित–इनमेंसे किसी प्रकारका मिथ्या-भाषण नहीं होना चाहिये।

(२) जहाँतक बन पड़े किसीकी निन्दा-स्तुति नहीं करनी चाहिये। निन्दा-स्तुति करनेवाला व्यक्ति स्वार्थ, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय एवं उद्वेग आदिके वशीभूत होकर जोशमें आकर कम या अधिक निन्दा-स्तुति करने लग जाता है। इनमें निन्दा करना तो सर्वथा ही अनुचित है। विशेष योग्यता प्राप्त होनेपर यदि कहीं स्तुति करनी पड़े तो वहाँ भी बड़ी सावधानीके साथ काम लेना चाहिये।

जो अधिक स्तुतिके योग्य हो और उसकी कम स्तुति की जाय तो अर्थान्तरसे वह स्तुति निन्दाके तुल्य ही हो जाती है।

जो कम स्तुतिके योग्य हो, उसकी अधिक स्तुति हो जाय तो उससे जनतामें भ्रम फैलकर लाभके बदले हानि होनेकी सम्भावना है। इस प्रकारकी झूठी स्तुतिसे स्वयं अपनी और जिसकी स्तुति की जाय उसकी लाभके बदले हानि ही होती है। परन्तु किसी बातका निर्णय करनेके लिये राज्यमें या पञ्चायतमें जो यथार्थ बात कही जाय तो उसका नाम निन्दा-स्तुति नहीं है। उसमें यदि किसीकी निन्दा-स्तुतिके वाक्य कहने पड़ें तो भी उसे वास्तवमें वक्ताकी नीयत शुद्ध होनेसे उसे निन्दा-स्तुतिमें परिगणित नहीं करना चाहिये।

कोई व्यक्ति यदि अपने दोष जाननेके लिये पूछनेका आग्रह करे तो प्रेमपूर्वक शान्तिसे उसे उसका यथार्थ दोष बतला देना भी निन्दा नहीं है।

(३) यथासाध्य भविष्यत्‌की क्रियाओंका प्रयोग नहीं करना चाहिये। ऐसी क्रियाओंका प्रयोग विशेष करनेसे उनका सर्वथा पालन होना कठिन है; अतः उनके मिथ्या होनेकी सम्भावना पद-पदपर बनी रहती है। जैसे किसीको कह दिया कि 'मैं कल निश्चय ही आपसे मिलूँगा,' किन्तु फिर यदि किसी कारणवश वहाँ जाना न हो सका तो उसकी प्रतिज्ञा झूठी समझी जाती है। अतः ऐसे अवसरोंपर यही कहना उचित है कि 'आपके घरपर कल मेरा आनेका विचार है या इरादा है।'

रहस्य और महत्त्वसे सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। उनका पतन होना भी फलतः स्वाभाविक ही है परन्तु जो विचारशील पुरुष हैं वे सत्यको उत्तम समझकर उसके पालनकी इच्छा तो रखते हैं किन्तु उनसे भी सर्वथा सत्यका पालन होना कठिन है। अनन्त जन्मों-से मिथ्या-भाषणका अभ्यास होनेके कारण उनके लिये भी सत्य-की सिद्धि दुष्कर है। पर विवेक-बुद्धिके द्वारा स्वार्थको छोड़कर जो सत्यके पालनकी विशेष चेष्टा करते हैं उनके लिये इसका पालन होना—इसकी प्रतिष्ठा होनी सम्भव है असाध्य नहीं। जो सत्यका अच्छी प्रकार अभ्यास कर लेता है अर्थात् जिसकी सत्य-में सर्वाङ्ग-प्रतिष्ठा हो जाती है उसकी वाणी सत्य हो जाती है अर्थात् वह जो कुछ कहता है वह सत्य हो जाता है। महर्षि पतञ्जलि भी योगपाद २ सूत्र ३६ में कहते हैं—

'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'

अगस्त्यके वचनोंसे नहुषका पतन हो जाना आदि अनेक कथाएँ शास्त्रोंमें प्रसिद्ध ही हैं।

सत्य बोलनेवाला पुरुष निर्भय हो जाता है क्योंकि जबतक भय रहता है तबतक वह यथार्थभाषी नहीं होता—भयके कारण कहीं-न-कहीं मिथ्या-भाषण घट ही जाता है। जो सर्वथा सत्यको जीत लेता है वह क्षमाशील होता है, वह क्रोधके वशीभूत नहीं होता। क्रोधी मनुष्य सत्यके पालनमें सर्वथा असमर्थ रहता है। क्रोधोन्मादमें वह क्या-क्या नहीं बक बैठता ?

सत्य-पालनके प्रभावसे मनुष्यमें निरभिमानिता आ जाती है। मान और प्रतिष्ठाकी जहाँ इच्छा होती है वहाँ दम्भ और कपटको आश्रय मिल जाता है। और बस जहाँ इन्होंने प्रवेश किया वहाँसे सत्य तत्काल कूच कर जाता है। निःसन्देह कपटी और दम्भीका सत्यसे पतन हो जाना अनिवार्य है।

जब सर्वथा सत्यकी प्रतिष्ठा हो जाती है तो उस सत्यवादीमें किसी प्रकारकी इच्छा या कामना नहीं रहती। भोगोंकी इच्छावाला मनुष्य भला क्या-क्या अनर्थ नहीं कर बैठता ? क्योंकि काम ही पापोंका मूल है। इसीलिये कामके वशीभूत हुआ कामी पुरुष झूठ, कपट, छल आदि दोषोंकी खान बन जाता है। अतएव सत्यके सम्यक् पालनसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या और अहङ्कार आदि दोषोंका नाश हो जाता है और वह मनुष्य एक सत्यके ही पालनसे दया, शान्ति, क्षमा, समता, निर्भयता आदि सम्पूर्ण गुणोंका भण्डार बन जाता है। अतः मनुष्यको सत्य-भाषणपर कटिबद्ध होकर विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

सत्य आहार

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कोई भी क्यों न हो, शास्त्रके द्वारा बतलायी हुई विधिके अनुसार न्यायपूर्वक अपने परिश्रमद्वारा उपार्जित द्रव्यसे वह जो सात्त्विक* आहार करता है

* आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
(गीता १७।८)

उसका नाम सत्य आहार है। यद्यपि ब्राह्मणके लिये दान लेकर भी जीविका-निर्वाह करना शास्त्रानुकूल है तथापि दाताका उपकार किये बिना जो याचनावृत्तिसे अपना धर्म समझकर जीविका करता है वह ब्राह्मणोंमें निन्दनीय समझा जाता है। उससे तपका नाश, आलस्य तथा अकर्मण्यताकी वृद्धि होती है। इसलिये शास्त्रोक्त होनेपर भी इस प्रकारकी जीविकासे किया हुआ सत्य आहार सत्य आहार नहीं है। इसलिये ब्राह्मणको दाताका प्रत्युपकार करके अथवा शिलोञ्छवृत्तिसे जीविका-निर्वाह करना चाहिये, इसी प्रकार क्षत्रियको भी स्वधर्मके अनुसार सत्य और न्यायसे उपार्जित शुद्ध द्रव्यसे जीविका चलानी चाहिये।

यद्यपि वैश्यके लिये ब्याज लेकर जीविका-निर्वाह करना धर्मशास्त्रानुकूल है तथापि क्रय-विक्रय-व्यापारके बिना केवल ब्याज-वृत्तिकी शास्त्रकारोंने निन्दा की है। इसलिये भगवान्‌ने गीतामें इसका उल्लेख ही नहीं किया। इससे आलस्य और निरुद्यमताकी वृद्धि होती है। गिरवी रखे हुए आभूषण और जमीन आदिकी कीमतसे भी मूलसहित ब्याजकी रकम जब अधिक हो जाती है तो कर्जदार उनको छुड़ाकर वापस नहीं ले सकता। इससे उसकी आत्माको बड़ा कष्ट पहुँचता है। अतः केवल ब्याजकी जीविका निन्दनीय है। इस प्रकारकी जीविकासे जो वैश्य आहार करता है वह आहार भी सत्य नहीं है, इसी प्रकार क्षत्रिय आदिके लिये समझ लेना चाहिये।

जो पुरुष शास्त्रविहित अपने वर्णाश्रमके अनुकूल परिश्रम करके न्यायसे प्राप्त हुए सात्त्विक द्रव्यका आहार करता है उसका

वह आहार सत्य आहार कहलाता है। जैसे कोई वैश्य झूठ और कपटको त्यागकर ईश्वरकी आज्ञासे अपना धर्म समझकर क्रय-विक्रय आदि न्याययुक्त जीविकाद्वारा प्राप्त सात्त्विक पदार्थों-का सेवन करता है तो उसका वह आहार सत्य आहार है। व्यापार करनेवाले वैश्यको उचित है कि यथासाध्य कम-से-कम मुनाफा लेकर माल विक्री करे; गिनती, नाप और वजनमें न कम दे और न अधिक ले; व्याज, मुनाफा, आढ़त और दलाली ठहराकर न किसीको कम दे और न अधिक ले; लेन-देनके विषयमें जैसा सौदा चतुर और समझदार आदमीसे किया जाय उसी दरसे मूर्ख, भोले और सीधे-सादे आदमीके साथ करे अर्थात् सबके साथ सम बर्ताव करे। जो कुछ सम्पत्ति हो उसे ईश्वरकी समझकर लाभ-हानिमें सम रहते हुए दक्षतापूर्वक व्यापार करे और ऐसी चेष्टा की जाय कि जिससे मूलधनका नाश न हो; जहाँतक हो सके किसीकी जीविकाकी हानि न करके विशेष हिंसाका बचाव रखते हुए न्यायसे धन उपार्जन करे और सादगी-से रहे; जितने कमसे अपना और अपने कुटुम्बका निर्वाह हो सके—ऐसी चेष्टा करे; बढ़े हुए धनमें भी अपना स्वत्व न समझकर संसारका हितचिन्तन करके लोकोपकारके ही लिये व्यय करे, यही सत्य व्यापार है। इस प्रकारके व्यापारद्वारा उपार्जित द्रव्यसे जो सात्त्विक अन्नादिका आहार किया जाता है वह वैश्यके लिये सत्य आहार है, इसी प्रकार अन्य सबके लिये समझ लेना चाहिये।

सद्भाव और सद्व्यवहार

ऊपर लिखा जा चुका है कि 'सत्' परमेश्वरका नाम है। अतः उसे प्राप्त करवानेवाले भाव और व्यवहार ही सद्भाव और सद्व्यवहार हैं। उन्हींको साधुभाव कहा गया है। गीताके १३ वें अध्यायमें ये ज्ञानके नामसे एवं १६ वेंमें दैवी-सम्पदाके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनमें जो भाववाचक शब्द हैं वे सब साधुभाव समझे जाने चाहिये। जिन पुरुषोंमें उत्तम भाव रहते हैं वे परमात्माकी प्राप्तिके पात्र समझे जाते हैं; अतः प्राप्तिमें हेतु होनेसे इनको सद्भाव कहा गया है।

अमानित्व (मानका न चाहना), क्षमा (अपने साथ किये गये अत्याचारोंका बदला न चाहना), कोमलता, सरलता, पवित्रता, शान्ति, शीतलता, समता, वैराग्य, श्रद्धा, दया, उदारता, सुहृदता इत्यादि भाव साकार परमेश्वरमें तो स्वाभाविक होते हैं एवं भगवान्‌की शरण होकर उनकी उपासना करनेवाले भक्तोंमें उनकी दयासे विकसित हो जाते हैं। ऐसे सद्भावोंसे युक्त भक्त परमात्म-दर्शनके अधिकारी होते हैं। अतः हमलोगोंको ऐसे भावोंको प्राप्त करनेके लिये सब प्रकारसे परमेश्वरकी शरण लेनी चाहिये। भगवत्-दयासे जिस मनुष्यमें उपर्युक्त सद्भाव आ जाते हैं उसके आचरण भी सत्य ही होते हैं, क्योंकि सदाचारमें सद्भाव ही हेतु बतलाये गये हैं। जैसा आन्तरिक भाव होता है वैसी ही बाहरी चेष्टा होती है। अतः सद्भावसे मुक्ति और असद्भावसे पतन समझना चाहिये। उपर्युक्त सद्गुणोंसे सम्पन्न पुरुष

यथासाध्य उस जगह नहीं जाता जहाँ मान, बड़ाई और पूजा मिलनेकी सम्भावना होती है। यदि कोई व्यक्ति उसका अनिष्ट कर देता है तो वह यही समझता है कि मेरे पूर्वकृत कर्मोंके फलसे हुआ है; यह तो निमित्तमात्र है—ऐसा मानकर वह किसी-से द्वेष या घृणा नहीं करता; बल्कि अवसर पड़नेपर उसके हृदयसे संकोच, ग्लानि, भय और द्वेषको दूर करनेकी ही चेष्टा करता है।

यदि उसके साथ कोई असद्व्यवहार करता है अथवा व्यङ्ग्य और कठोर वाक्योंका प्रयोग करता है तो भी वह विनय और सरलतासे सनी हुई मधुर वाणीसे उसी प्रकार शान्तिपूर्वक उत्तर देता है जिस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने कैकेयीको दिया—

सुन जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनहारा। दुर्लभ जननी यह संसारा॥

मुनिगण मिलन बिशेष बन, सबहिं भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमति जननी तोर॥

भरत प्राणप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहिं सम्मुख आजू
जो न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिय मोहिं मूढ़समाजा॥

वास्तवमें ऐसा सद्भावोंसे सम्पन्न पुरुष सारे जगत्में अपने परम प्रिय स्वामी परमात्माका स्वरूप देखता है और मन-ही-मन सबको प्रणाम करता हुआ सबके साथ सद्व्यवहार करता है।

सीय राममय सब जग जानी । करौं प्रणाम जोरि जुग पानी ॥

ऐसे पुरुषोंका वैरी अथवा मित्रमें समभाव रहता है और काम पड़नेपर वे वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा श्रीकृष्णने अर्जुन और दुर्योधनके साथ किया था । महाभारतके युद्ध-आरम्भके पूर्व जब वे दोनों श्रीकृष्णके पास गये तो उन्होंने यही कहा कि मेरे लिये तुम दोनों ही समान हो । मेरे पास जो कुछ है उसे तुम दोनों इच्छानुसार बाँटकर ले सकते हो । एक ओर तो मेरी एक अक्षौहिणी सेना है और दूसरी ओर मैं स्वयं निःशस्त्र हूँ । तुम्हारे परस्परके युद्धमें मैं शस्त्र ग्रहण न करूँगा । इन दोनोंमेंसे जिसे जो जँचे वह ले सकता है । इसपर दुर्योधनने सेनाको लिया और अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको !

तथा ऐसे पुरुषोंको बड़े भारी विषयभोग भी वैसे ही विचलित नहीं कर सकते, जैसे यमराजका दिया हुआ प्रलोभन नचिकेताको न कर सका । उसने रथ, घोड़े और स्वर्गादिके ऊँचे-से-ऊँचे भोगोंको तत्काल ठुकराकर परमात्म-धनको ही पसन्द किया—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥
अजीर्यताममृतानामुपेत्य
जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ।

अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदा-
नतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥
यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।
सोऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥
(कठ० १ । १ । २७–२९)

'मनुष्य द्रव्यसे तृप्त नहीं होता । धन तो आपके दर्शनसे मिल ही जायगा । जबतक आप अनुग्रहपूर्वक प्राणियोंपर शासन करते हैं, तबतक मैं जीवित भी रह सकूँगा, परन्तु मैं तो वही वर चाहता हूँ जो मैंने माँगा है । जरा-रहित अमृतरूप देवोंके समीप जाकर जरामरणयुक्त तथा पृथिवीरूपी अधःस्थानमें स्थित रहा हुआ कौन पुरुष अनित्य वस्तुको चाहेगा ? रूप, क्रीड़ा और उससे उत्पन्न होनेवाले सुखको अनित्य जानकर भी कौन पुरुष लम्बी आयुसे सन्तुष्ट होगा ? हे मृत्यो ! परलोक-सम्बन्धी आत्मतत्त्वमें जो शंका की जाती है, वह आत्मविज्ञान ही मुझसे कहिये, इस अत्यन्त गूढ़ वरके अतिरिक्त नचिकेता और कुछ नहीं माँगता ।'

और ऐसे पुरुषोंका वेद, शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंमें भी प्रत्यक्षवत् विश्वास होता है । जैसे कल्याण-कामी सत्यकामका गुरु-वचनोंमें बड़ा भारी विश्वास था । वह उद्दालककी सेवामें ब्रह्मज्ञानके उपदेशार्थ उपस्थित होता है । उसे गुरु तत्काल आज्ञा दे देते हैं कि—'ये चार सौ गायें वनमें ले जाओ, पूरी हजार

हो जानेपर वापस चले आना।' (छान्दोग्य० ४ । ४ । ५) कहना नहीं होगा कि अपनी दृढ़ श्रद्धा और गुरुप्रसादके कारण सत्यकाम वनमें ही आत्मज्ञान प्राप्तकर कृतकृत्य हो गया ।

अत्यन्त निष्ठुरता और निर्दयताका व्यवहार करनेवालेके साथ भी उत्तम पुरुष उदारता, दया और सुहृदताका ही बर्ताव करते हैं। इस सम्बन्धमें भक्त जयदेव कविका चरित्र बड़े महत्त्वका है—

एक बार भक्तशिरोमणि अयाचक जयदेवको किसी राजाने अनेक प्रकारसे अनुनय-विनय करके बहुमूल्य रत्न प्रदान किये। उस विपुल धनराशिको लेकर जब वह अपने घरको जा रहे थे तो मार्गमें डाकुओंसे भेंट हुई। लोभ किससे क्या नहीं करवा लेता ? डाकुओंने रत्न छीनकर बेचारे निःस्पृही भक्तके हाथ काट डाले ! धनलिप्साकी इतिश्री यहीं नहीं हो गयी! उन्होंने निर्दयतापूर्वक उन्हें पासके किसी जलहीन सूखे कूएँमें डालकर और भी अधिक पापकी पोटली बाँधी ! दैवयोगसे राजा उसी कूएँपर प्याससे व्याकुल होकर आ पहुँचा। ज्यों ही पानी खींचनेके लिये रस्सी अन्दर लटकायी, त्यों ही परिचित-सी आवाज़ सुन पड़ी। पूछनेपर पता चला कि वह कष्टापन्न व्यक्ति जयदेवके सिवा कोई दूसरा न था ! राजाने उसे बाहर निकलवाकर दुःखभरे चकित भावसे पूछा, 'यह क्या हुआ जयदेव ? किस निष्ठुरने तुम्हारे साथ यह दुर्व्यवहारकर अपनी मौतको याद किया है ?' भक्त चुप रहा—अनेक बार आग्रह करनेपर भी न बोला।

राजाका कोई वश न चला। वह उसे अपने राजमहलमें ले जाकर रात-दिन उसकी सेवा-शुश्रूषामें तत्पर रहने लगा। संयोगसे वे ही डाकू महलकी ओर आते हुए दीख पड़े। आनन्दोल्लास-भरे स्वरमें जयदेव बोल उठा—'राजन्! आप मुझे धन लेनेके लिये अनेक बार प्रार्थना किया करते हैं! आज आप इच्छानुसार खुले दिलसे मेरे इन मित्रोंको दान कर सकते हैं।' कहनेभरकी देरी थी। राजाने उन भयकम्पित डाकुओंको अपने पास बुलवाया। अपराधी लुटेरोंके प्राण कण्ठको आने लगे—टाँगें परस्पर टकराने लगीं। बहुत देरतक आशा-आश्वासन पानेके बाद उनका धड़कता हुआ हृदय थमा! साहस करके जो मनमें आया वही माँगा! अपने दुष्कृत्योंका उलटा फल पाकर वे अचम्भित और हर्षित हुए! साथमें कोतवालको नियुक्त करके उन्हें सादर बिदायी दी गयी। कोतवालने इस अद्भुत रहस्यके जाननेके लिये उत्सुकतापूर्ण भावसे पूछा—'क्योंजी, आपका जयदेवजी भक्तके साथ क्या सम्बन्ध है? उन्होंने इतनी अधिक सम्पत्ति दिलवाकर किस कृतज्ञताका बदला चुकाया है?'

डाकुओंने छलभरी मुस्कराहटके साथ कहा—'कोतवाल साहब! हम लोगोंने इस जयदेवको एक बार मृत्युके मुखसे बचाया था—अब यह उसी प्राण-दानका बदला चुका रहा है।' अन्तिम अक्षरोंके निकलते ही उनके आगेकी पृथिवी झटसे फट पड़ी और उन पतितोंको उसने अपनेमें सदाके लिये समा लिया। कोतवालने राज-दरबारमें उपस्थित होकर दोनोंके सम्मुख सारा

वृत्तान्त कह सुनाया। सुनते ही जयदेवकी आँखोंसे आँसू बह निकले! आँसू पोंछनेपर उनके दोनों हाथ निकल आये, राजाके विस्मित होकर बार-बार पूछनेपर परम भागवत जयदेवने सारा हाल कह सुनाया! राजाका आश्चर्य घटनेकी अपेक्षा और भी अधिक बढ़ गया। उसने तत्काल पूछा—'जब आपके हाथ इन्होंने काट दिये तो ये मित्र कैसे ?'

जयदेव–मैंने प्रतिग्रह स्वीकार न करनेकी जो प्रतिज्ञा कर रक्खी थी उसे आपके आग्रहवश तोड़नी पड़ी। उसी प्रतिज्ञा-भंगके दण्डस्वरूप मेरे हाथ काटकर इन्होंने मुझे उपदेश दिया। इस प्रकारके क्रियात्मक उपदेशद्वारा हित-साधन करनेवाले लोग मित्र नहीं तो क्या हैं ?

राजा–इनको आपने धन कैसे दिलवाया ?

जयदेव–कहीं धनकी लालसा रहनेपर ये फिर भी कभी समय पाकर किसी निरपराधका खून कर सकते हैं, ऐसा विचारकर इनकी कामना-पूर्ति और सन्तोषके लिये मैंने आपसे धन दिलवाया। मित्रताके नाते भी धन दिलवाना न्यायसङ्गत ही था।

राजा–इनकी मृत्युसे आप रोने कैसे लगे ?

जयदेव–मेरे निमित्तसे इन्हें प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा। मुझे लोग श्रेष्ठ कहते हैं, श्रेष्ठके सङ्गका फल श्रेष्ठ होना चाहिये, पर हुई बात इसके विपरीत। इसीलिये मैं रोता हूँ कि—'हे प्रभो! मैंने ऐसा कौन-सा अपराध किया था कि जिससे इनको मेरे सङ्ग-का यह दुष्परिणाम भोगना पड़ा ?'

राजा—तो आपके हाथ कैसे आ गये ?

जयदेव—यह ईश्वरकी दया है ! वे अपने सेवकके अपराधोंका विचार न कर अपने विरद—अपने दयापूर्ण स्वभावकी ओर ही देखते हैं ।

भक्त-शिरोमणि जयदेवके ये वचन सुनकर राजा पुलकित हो उठा—आनन्दसे गद्गद हो गया । इसका नाम है सत्यपालकका सद्भाव और उसकी सहृदयता !

सत्कर्म

परम पिता परमेश्वर सत् हैं, इसलिये उनके निमित्त किये जानेवाले कर्म भी सत्कर्म हैं ।

कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥

(गीता १७ । २७)

अतएव मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुषद्वारा जो कुछ भी कर्म किया जाता है वह भगवदर्थ ही होता है ।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥

(गीता १७ । २५)

इस प्रकार ईश्वरार्थ और ईश्वरार्पण कर्म करनेसे मनुष्य पुण्य और पापोंसे छूटकर सत्स्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है । ईश्वरार्थ और ईश्वरार्पण दोनों ही प्रकारके कर्म मुक्तिके देनेवाले हैं । भगवान् श्रीकृष्णने स्थान-स्थानपर इस प्रकार कर्म करनेकी

आज्ञा अर्जुनको दी है। देखिये—गीता अ० ३ । ९; ९ । २७; १२ । १०-११ आदि ।

इसलिये यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा या जीविका आदिके सभी कर्म ईश्वरार्थ ही करने चाहिये । जैसे सच्चा सेवक (मुनीम गुमाश्ता) प्रत्येक कार्य स्वामीके नामपर, उसीके निमित्त, उसीकी इच्छाके अनुसार करता हुआ किसी कर्म अथवा धनपर अपना अधिकार नहीं समझता है और स्वप्नमें भी किसी वस्तुपर उसके अन्तःकरणमें ममत्वका भाव न आनेसे वह न्याययुक्त की हुई प्रत्येक क्रियामें हर्ष-शोकसे मुक्त रहता है, उसी प्रकार भगवान्‌के भक्तको उचित है कि वह अपने अधिकार-गत धन, परिवार आदि सामग्रीको ईश्वरकी ही समझकर उसकी आज्ञाके अनुसार उसीके कार्यमें लगानेकी न्याययुक्त चेष्टा करे और वह जो भी नवीन कर्म अथवा क्रिया करे उसे उसकी प्रसन्नता और आज्ञाके अनुकूल ठीक उसी प्रकार करे जिस प्रकार बन्दर नटकी इच्छा और आज्ञानुसार करता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वरकी इच्छाका पता किस प्रकार चले ? इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि आप इस सम्बन्धमें ईश्वरसे पूछ सकते हैं। वह आपके हृदयमें विराजमान है—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

(गीता १५ । १५)

'हमारे लिये क्या करना उचित है और क्या अनुचित है' यह बात आप अपने हृदयस्थ परमात्मासे यदि जानना चाहेंगे तो वह न्यायकारी प्रभु आपके हृदयमें सत्प्रेरणा ही करेंगे। जब कोई व्यक्ति सद्भावसे अन्तरात्मासे परामर्श लेता है तो उसे पवित्र आत्माद्वारा सत्परामर्श ही प्राप्त होता है। साधारणतः जैसे कोई अपनी आत्मासे पूछता है कि 'चोरी, व्यभिचार, झूठ और कपट आदि कर्म कैसे हैं?' तो उत्तर मिलता है कि 'त्याज्य हैं—निषिद्ध हैं!' इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, अहिंसा और सत्य आदिके विषयमें सम्मति माँगनेपर यही उत्तर मिलता है कि 'अवश्य पालनीय हैं।' अज्ञान, राग-द्वेष और संशय आदि दोषोंद्वारा हृदयके आच्छादित रहनेपर किसी-किसी विषयमें निश्चित उत्तर नहीं मिलता; अतः ऐसे अवसरपर अपनी दृष्टिमें जो भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाले महापुरुष हों, उनके द्वारा बतलाये हुए विधानको ईश्वरकी आज्ञा मानकर तदनुकूल आचरण करना चाहिये।

सत्स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करवानेवाले व्यवहारका नाम ही सद्व्यवहार है। इसीको सदाचार कहते हैं। अपना कल्याण चाहनेवाले साधकोंको उचित है कि वे इसके पालनकी ओर विशेषरूपसे सचेष्ट रहें। भगवत्प्राप्त पुरुषोंमें तो सत्यका आचरण स्वाभाविक ही होता है।

संसारमें किसी जीवको कभी भी किसी प्रकारसे दुःख, भय और क्लेश नहीं पहुँचाना चाहिये और न पहुँचानेकी इच्छा या

प्रेरणा ही करनी चाहिये। यदि कोई किसीको कष्ट पहुँचाता हो तो उसको किसी प्रकारसे न तो सहायता ही देनी चाहिये और न उसका अनुमोदन ही करना चाहिये। इतना ही नहीं, वरं भीतरमें प्रसन्नता भी न माननी चाहिये।

अज्ञान और राग-द्वेष सदाचारके लिये परम विघातक हैं। अतः साधकको इनसे खूब ही बचकर रहना चाहिये। भ्रम और मूर्खताके कारण मनुष्य हर एक प्रकारके दुराचरणमें प्रवृत्त हो जाता है। इसलिये सदाचारी मनुष्यको सत्य और असत्यके विषयमें शास्त्र और साधु पुरुषोंकी सहायतासे अपनी बुद्धिद्वारा निर्णय करके सत्यका आचरण करना चाहिये। अन्यथा वह सत्यको असत्य और दुराचारको सदाचारका रूप देकर दुराचरण-में प्रवृत्त हो जाता है, जिससे उसका परमार्थ-भ्रष्ट हो जाना स्वाभाविक है।

राग

यह साधकका बड़ा भारी शत्रु है। यही काम और लोभके रूपमें परिणत होकर समस्त अनर्थोंका मूल बन जाता है। इसीके कारण यह विषयोंका दास होकर अर्थकी कामनाके लिये संसारमें भटकता फिरता है। आत्म-सुधारकी कामनावाले पुरुषको इस बातका पद-पदपर ध्यान रखना चाहिये कि कहीं मैं स्वार्थके चंगुलमें फँसकर आचरण-भ्रष्ट न हो जाऊँ! जब मनुष्य किसी कार्यको आरम्भ करता है तो आसक्तिके स्वाभाविक दोषके कारण उस कार्यकी सिद्धि-असिद्धिमें निजी स्वार्थका अन्वेषण करने

लगता है और सोचता है कि उस कार्यके करनेमें मुझे क्या लाभ प्राप्त होगा? इस प्रकारकी अर्थ-कामना उसे सब विषयोंका दास बनाकर श्रेय-मार्गसे तत्काल गिरा देती है। अतः कल्याण-कामी साधकको उचित है कि वह कार्य-आरम्भके पूर्व ही सावधान हो जाय कि जिससे स्वार्थको घर कर लेनेका अवसर न मिल सके। मनमें स्वार्थके प्रवेश कर जानेसे सदाचार दुराचार-के रूपमें परिणत हो जाता है। सदाचारका पालन करनेमें यदि भूलसे कुछ कमी आ जाय या किसी अंशमें कहीं पालन न बन सके तो निःस्वार्थी पुरुष दोषी नहीं समझा जाता। दोष तो सारा स्वार्थसे आता है। स्वार्थ बड़ा ही प्रबल है, इसका ऐसा विस्तार और प्रसार है कि यह पद-पदपर व्याप्त है इसीलिये सावधान होनेपर भी धोखा हो जाता है। संसारके सम्पूर्ण कर्मों और समस्त पदार्थोंमें इसने अपना स्थान बना रक्खा है। अच्छे-अच्छे विद्वान् और बुद्धिमान् पुरुष भी इसके फेरमें पड़कर कर्तव्यको भूल जाते हैं। स्वार्थसे बचने, स्वार्थका समूल नाश करनेके लिये मनुष्यको सतत सावधानीसे प्रयत्न करते रहना चाहिये और बार-बार अन्तर्वृत्ति करके देखना चाहिये। जो पुरुष इस स्वार्थपर विजय पाता है, सब प्रकारकी कामना और स्पृहाको त्यागकर विचरता है वही परम शान्तिको प्राप्त होता है। विषय-लोलुप मनुष्योंके न तो आचरणोंमें ही सम्यक् सुधार होता है और न उन्हें कभी कहीं शान्ति ही मिलती है।

द्वेष

रागकी भाँति द्वेष भी मनुष्यका परम शत्रु है। इसीके कारण वह क्रोधके वशीभूत हो कर्तव्य भूलकर विपरीत आचरण करने लगता है, जिससे उसका सर्वनाश हो जाता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि द्वेषका मूल कारण वास्तवमें राग या आसक्ति ही है। इसी राग या आसक्तिसे काम, क्रोध, लोभ मोह आदि भीषण शत्रुओंका दल उत्पन्न होकर मनुष्यको सदाचार-से गिराकर उसकी बुद्धि भ्रष्ट कर देता है, जिससे वह परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है, इसलिये आसक्तिके त्यागपर विशेष ध्यान रखना चाहिये।

आसक्तिरहित पुरुषकी प्रत्येक क्रिया स्वार्थहीन होती है, इससे उसके हर एक आचरणमें प्रेम और दयाका भाव विकसित हुआ रहता है। किसी भी पदार्थमें राग न रहनेके कारण, संसारके जितने भोग्य पदार्थ हैं उसके अधीन होते हैं, उन सबको वह उदार-चित्तसे देश-काल-पात्रके अनुसार लोकहितार्थ सद्व्यय करनेकी चेष्टामें रहता है। ऐसे सत्पुरुषोंकी सारी क्रियाएँ मूर्ख और अज्ञानियोंकी समझमें नहीं आतीं। वे उसकी क्रियाओंको, अपनी अज्ञानावृत क्रियाओंसे तुलना करके उनमें दोष ही देखा करते हैं। परन्तु वास्तवमें ऐसे महात्माओंकी स्वार्थरहित क्रियाओंमें दोषका लेशमात्र भी प्रवेश नहीं हो सकता। इस लोक या परलोक-की कोई भी कामना या स्वार्थ न रहनेके कारण ऐसे महापुरुषोंके आचरण अज्ञानी मनुष्योंकी दृष्टिमें दोषयुक्त होनेपर भी सर्वथा

पवित्र होते हैं। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका और संसारकी किसी भी स्थितिका लोभ नहीं होनेके कारण संसारकी कोई भी वस्तु इन्हें अपनी ओर नहीं खींच सकती, वे नित्य निर्भयपदमें स्थिर रहते हुए न तो किसीसे डरते हैं और न किसीके साथ कठोर बर्ताव ही करते हैं। विनय, कोमलता, सत्य और शान्तिकी तो वे साक्षात् मूर्ति ही होते हैं। क्षमा उनका स्वभाव बन जाता है इससे क्रोधकी उत्पत्ति उनमें कभी होती ही नहीं, कभी योग्यता प्राप्त होनेपर उनमें कोई क्रोधकी-सी बाहरी क्रिया देखी जाती है परन्तु वस्तुतः उनमें क्रोध नहीं हो सकता। सर्वत्र सबमें समबुद्धि होनेके कारण वे किसीकी अनुचित निन्दा-स्तुति नहीं करते। झूठ-कपटका उनमें सर्वथा अभाव होता है। जहाँ, जिस बातके प्रकट हो जानेसे किसीको हानि पहुँचती हो या अपनी प्रशंसा होती हो उसे वे यदि छिपा लेते हैं तो उनका यह आचरण कपट, असत्य या स्तेयमें नहीं गिना जाता।

उपसंहार

सत्यका विषय बड़ा व्यापक है। इसपर बहुत अधिक लिखा जा चुका है तो भी इसमें मनके सब भाव व्यक्त नहीं हो पाये हैं। इसकी विशदरूपसे व्याख्या करनेकी आवश्यकता है। किन्तु लेख बढ़ जानेके संकोचसे जहाँतक बन पड़ा, संक्षिप्तमें ही समाप्त करनेकी चेष्टा की है।

सत्य एक ऐसी वस्तु है, जिसका आश्रय लेनेसे सम्पूर्ण उत्तम गुणोंकी प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है। सत्यका आश्रयी

सत्पुरुष सद्गुणोंका समुद्र और ज्ञानका भण्डार बन जाता है। यद्यपि सत्यके पालनमें आरम्भमें साधकको अनेक प्रकारकी कठिनाइयों और क्लेशोंका सामना करना पड़ता है, किन्तु सत्यकी सिद्धि हो जानेपर उसके शोक और मोहका आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। अतः सत्यके पालन करनेवाले पुरुषको निर्भयतासे अपने लक्ष्यपर डटे रहना चाहिये। एक ओर सत्यका त्याग और दूसरी ओर प्राणोंका त्याग—इन दोनोंको तौलनेपर सत्यका पलड़ा ही भारी माळूम देता है। इसलिये यदि मनुष्य प्राणोंकी भी परवा न करके सत्यपर डटा रहेगा तो सभी आपत्तियाँ देखते-ही-देखते आप ही नष्ट हो जायँगी। अन्तमें उस सत्यकी विजय होगी। उदाहरणार्थ प्रह्लादका इतिहास प्रसिद्ध है। सत्यके लिये प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं है। वह तो स्वयं स्वतःप्रमाण है। अन्य सब प्रमाणोंकी सिद्धि सत्यपर ही अवलम्बित है। सत्यका प्रतिपक्षी सत्यको नष्ट करनेके लिये चाहे जितने उपाय करे, सत्यको जरा भी आँच नहीं आती—बल्कि वह जितना ही कसौटीपर कसा जाता है—जितना ही तपाया जाता है उतना ही वह उज्ज्वल रूप धारण करता रहता है। जो ताड़नासे, तापसे मिट जाय वह सत्य ही नहीं है। जो सत्य-पालनका थोड़ा-सा भी महत्त्व समझ गया है उससे सत्यका त्याग होना कठिन है, फिर जिन्होंने इसके तत्त्वका सम्यक् परिज्ञान प्राप्त कर लिया है वे कैसे विचलित हो सकते हैं? केवल एक सत्यका तत्त्व जान लेनेपर मनुष्य सब तत्त्वोंका ज्ञाता बन जाता है, क्योंकि सत्य परमात्माका स्वरूप है और परमात्माके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाना प्रसिद्ध है। अतः

मन, वाणी और इन्द्रियोंद्वारा सत्यकी शरण लेनी चाहिये। सत्य सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त है। अन्वेषण करनेपर सर्वत्र सत्यकी ही प्रतीति और अनुभूति होने लगेगी। जो कुछ भी प्रतीत होता है, विचारपूर्वक परीक्षा करनेसे सबका बाध होकर एक सत्य ही शेष रहता है। सम्पूर्ण संसारका अस्तित्व सत्यपर टिका हुआ है। इसके बिना किसी भी पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कोई भ्रमवश इसके विपरीत मान लेता है, वह विपरीतता ठहरती नहीं। वर्षा होनेसे जैसे बालूकी दीवार विशेष समयतक नहीं ठहर सकती, इसी प्रकार विचार-बुद्धिसे अन्वेषण करनेपर असत्यका अस्तित्व तुरन्त ही लुप्त हो जाता है। बालूकी दीवारके नष्ट होनेपर बालूके कण तो रहते भी हैं पर इस असत्यका तो नामो-निशान भी मिट जाता है। जो असत्य है उसे भले ही कितने ही साधनोंसे सत्य प्रमाणित करनेकी चेष्टा की जाय पर अन्तमें असत्य ही रहेगा—अस्तित्वहीन रहेगा और सत्यको मिटानेके सभी प्रयत्न निष्फल होंगे। ऐसा महत्त्व होनेपर भी जो मूढ़ इसे छोड़-कर असत्यका आश्रय लेते हैं वे निस्सन्देह दयनीय हैं। अतएव कल्याणकामी बन्धुओंको प्राणोंसे भी बढ़कर सत्यका आदर करना चाहिये और उसके पालनार्थ कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये।

रामायणमें आदर्श भ्रातृ-प्रेम

अनुज-जानकी-सहित प्रभु चाप-बान-धर राम ।
मम हिय-गगन इन्दु इव बसहु सदा निष्काम ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके समान मर्यादारक्षक आजतक कोई दूसरा नहीं हुआ, ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं होगा। श्रीराम साक्षात् परमात्मा थे, वे धर्मकी रक्षा और लोकोंके उद्धारके लिये ही अवतीर्ण हुए थे। उनके आदर्श लीलाचरित्रको पढ़ने, सुनने और स्मरण करनेसे हृदयमें महान् पवित्र भावोंकी लहरें उठने लगती हैं और मन मुग्ध हो जाता है। उनका प्रत्येक कार्य परम पवित्र, मनोमुग्धकारी और अनुकरण करने योग्य है। ऐसे अनन्त गुणोंके समुद्र श्रीरामके सम्बन्धमें मुझ-सरीखे व्यक्तिका कुछ लिखना एक प्रकारसे लड़कपन है तथापि अपने मनोविनोदके लिये शास्त्रोंके आधारपर यत्किञ्चित् लिखनेका साहस करता हूँ। विज्ञजन क्षमा करें।

श्रीराम सर्वगुणाधार थे। सत्य, सुहृदता, गम्भीरता, क्षमा, दया, मृदुता, शूरता, धीरता, निर्भयता, विनय, शान्ति, तितिक्षा, उपरामता, नीतिज्ञता, तेज, प्रेम, मर्यादा-संरक्षकता, एकपत्नीव्रत, प्रजारञ्जकता, ब्रह्मण्यता, मातृपितृ-भक्ति, गुरुभक्ति, भ्रातृप्रेम,

सरलता, व्यवहारकुशलता, प्रतिज्ञातत्परता, शरणागतवत्सलता, त्याग, साधु-संरक्षण, दुष्टविनाश, निर्वैरता, सख्यता और लोकप्रियता आदि सभी सद्‌गुणोंका श्रीराममें विलक्षण विकास था। इतने गुणोंका एकत्र विकास जगत्‌में कहीं नहीं मिलता। माता-पिता, बन्धु-मित्र, स्त्री-पुत्र, सेवक-प्रजा आदिके साथ उनका जैसा आदर्श बर्ताव है, उसकी ओर खयाल करते ही मन मुग्ध हो जाता है। श्रीराम-जैसी लोकप्रियता तो आजतक कहीं नहीं देखनेमें आयी। कैकेयी और मन्थराको छोड़कर उस समय ऐसा कोई भी प्राणी नहीं था जो श्रीरामके व्यवहार और प्रेमके बर्तावसे मुग्ध न हो गया हो। वास्तवमें कैकेयी भी श्रीरामके प्रभाव और प्रेमसे सदा मुग्ध थी। रामराज्याभिषेककी बात सुनकर वह मन्थराको पुरस्कार देनेके लिये प्रस्तुत हुई थी, श्रीरामके गुणोंपर उसका बड़ा भारी विश्वास था। वनवास भेजनेके समय शत्रु बनी हुई कैकेयीके मुखसे भी ये सच्चे उद्गार निकल पड़ते हैं—

तुम अपराध जोग नहिं ताता।
जननी-जनक-बन्धु-सुख-दाता॥
राम सत्य सब जो कछु कहहू।
तुम पितु-मातु-बचन-रत अहहू॥

कैकेयीका रामके प्रति अप्रिय और कठोर बर्ताव तो भगवान्‌की इच्छा और देवताओंकी प्रेरणासे लोकहितार्थ हुआ था। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि कैकेयीको श्रीराम प्रिय नहीं थे। देव, मनुष्य और पशु-पक्षी किसीका भी रामसे विरोध नहीं था।

यज्ञविध्वंसकारी राक्षसों और शूर्पणखाके कान-नाक काटनेपर खर, दूषण, त्रिशिरा, रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदिके साथ जो वैर-भाव और युद्धका प्रसंग आता है, उसमें भी रहस्य भरा है। वास्तवमें रामके मनमें उनमेंसे किसीके साथ वैर था ही नहीं। राक्षसगण भी अपने सकुटुम्ब-उद्धारके लिये ही उन्हें वैर-भावसे भजते थे। रावण और मारीचकी उक्तियोंसे यह स्पष्ट है—

सुररंजन भंजन महि भारा।
जो जगदीस लीन्ह अवतारा॥
तो मैं जाइ बैर हठि करिहौं।
प्रभु-सरतें भवसागर तरिहौं॥
होइ भजन नहिं तामस देहा।
मन क्रम बचन मन्त्र दृढ़ एहा॥
—रावण

मम पाछे धरि धावत, धरे सरासन बान।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहौं, धन्य न मोसम आन॥
—मारीच

इससे यह सिद्ध है कि श्रीरामके जमानेमें चराचर जीवोंका श्रीरामके प्रति जैसा आदर्श प्रेम था, वैसा आजतक किसीके सम्बन्धमें भी देखने-सुननेमें नहीं आया।

श्रीरामकी मातृ-भक्ति कैसी आदर्श है। स्वमाता और अन्य माताओंकी तो बात ही क्या, कठोर-से-कठोर व्यहार करनेवाली कैकेयीके प्रति भी श्रीरामने भक्ति और सम्मानसे पूर्ण ही बर्ताव किया।

जिस समय कैकेयीने वन जानेकी आज्ञा दी, उस समय श्रीराम उसके प्रति सम्मान प्रकट करते हुए बोले—माता! इसमें तो सभी तरह मेरा कल्याण है—

मुनिगन मिलन विशेष बन, सबहिं भाँति हित मोर।
तेहिमहँ पितु आयसु बहुरि, सम्मत जननी तोर॥

श्रीरामने कुपित हुए भाई लक्ष्मणसे कहा—

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यति।
माता नः सा यथा न स्यात्सविशङ्का तथा कुरु॥
तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्त्तमपि नोत्सहे।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम्॥
न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन।
मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम्॥
(वा० रा० २। २२। ६-७-८)

'हे लक्ष्मण! मेरे राज्याभिषेकके संवादसे अत्यन्त परिताप पायी हुई माता कैकेयीके मनमें किसी प्रकारकी शङ्का न हो तुम्हें वैसा ही करना चाहिये। मैं उसके मनमें उपजे हुए शङ्कारूप दुःखको एक घड़ीके लिये भी नहीं सह सकता। हे भाई! जहाँतक मुझे याद है, मैंने अपने जीवनमें जानमें या अनजानमें माताओंका और पिताजीका कभी कोई जरा-सा अप्रिय कार्य नहीं किया।'

इसके बाद वनसे लौटते हुए भरतजीसे श्रीरामने कहा—

कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्।
न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत्॥
(वा० रा० २। ११२। १९)

'हे तात ! माता कैकेयीने (तुम्हारी हित-) कामनासे या (राज्यके) लोभसे जो यह कार्य किया, इसके लिये मनमें कुछ भी विचार न कर भक्तिभावसे उनकी माताकी भाँति सेवा करना ।'

इससे पता लगता है कि रामकी अपनी माताओंके प्रति कितनी भक्ति थी । एक बार लक्ष्मणने वनमें कैकेयीकी कुछ निन्दा कर डाली । इसपर मातृभक्त और भ्रातृप्रेमी श्रीरामने जो कुछ कहा सो सदा मनन करने योग्य है--

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन ।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु ॥

(वा० रा० ३ । १६ । ३७)

'हे भाई ! बिचली माता (कैकेयी) की निन्दा कभी मत किया करो । बातें करनी हों तो इक्ष्वाकुनाथ भरतके सम्बन्धमें करनी चाहिये ।' (क्योंकि भरतकी चर्चा मुझे बहुत ही प्रिय है)

इसी प्रकार उनकी पितृभक्ति भी अद्भुत है । पिताके वचनों-को सत्य करनेके लिये श्रीरामने क्या नहीं किया । पिताको दुखी देखकर जब श्रीरामने कैकेयीसे दुःखका कारण पूछा तब उसने कहा कि 'राजाके मनमें एक बात है, परन्तु वे तुम्हारे डरसे कहते नहीं हैं, तुम इन्हें बहुत प्यारे हो, तुम्हारे प्रति इनके मुखसे अप्रिय वचन ही नहीं निकलते, यदि तुम राजाकी आज्ञापालनकी प्रतिज्ञा करो तो ये कह सकते हैं, तुमको वह कार्य अवश्य ही करना चाहिये जिसके लिये इन्होंने मुझसे प्रतिज्ञा की है ।' इसके उत्तरमें श्रीरामने कहा---

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः ।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके ॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ।
(वा० रा० २ । १८ । २८-२९)

'अहो मुझे धिक्कार है, हे देवि ! तुमको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, मैं महाराजा पिताकी आज्ञासे आगमें कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष खा सकता हूँ, समुद्रमें कूद सकता हूँ ।' एक समय लक्ष्मणने जब यह कहा कि ऐसे कामासक्त पिताकी आज्ञा मानना अधर्म है, तब श्रीरामने सगरपुत्र और परशुरामजी आदिका उदाहरण देते हुए कहा कि 'पिता प्रत्यक्ष देवता हैं, उन्होंने किसी भी कारणसे वचन दिया हो, मुझे उसका विचार नहीं करना है, मैं विचारक नहीं हूँ, मैं तो निश्चय ही पिताके वचनोंका पालन करूँगा ।'

विलाप करती हुई जननी कौसल्यासे श्रीरामने स्पष्ट ही कह दिया था कि—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥
(वा० रा० २ । २१ । ३०)

'मैं चरणोंमें सिर टेककर प्रणाम करता हूँ, मुझे वन जानेके लिये आज्ञा दो, माता ! पिताजीके वचनोंको टालनेकी मुझमें शक्ति नहीं है ।'

श्रीरामका एकपत्नीव्रत आदर्श है, पत्नी सीताके प्रति रामका कितना प्रेम था, इसका कुछ दिग्दर्शन सीताहरणके पश्चात् श्रीरामकी दशा देखनेसे होता है। महान् धीर-वीर राम विरहोन्मत्त होकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे कदम्ब, बेल, अशोकादि वृक्षोंसे और हरिणोंसे सीताका पता पूछते हैं। यहाँ भगवान् श्रीरामने अपने '*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*' के वचनोंको मानो चरितार्थ कर दिया है। वे विलाप करते हैं, प्रलाप करते हैं, पागलकी भाँति ज्ञानशून्य-से हो जाते हैं, मूर्छित हो पड़ते हैं, और 'हा सीते, हा सीते' पुकार उठते हैं।

श्रीरामका सख्यप्रेम भी आदर्श है। सुग्रीवके साथ मित्रता होनेपर आप मित्रके लक्षण बतलाते हैं—

जे न मित्रदुख होहिं दुखारी।
तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरिसम रज करि जाना।
मित्रके दुख रज मेरु समाना॥
देत लेत मन संक न धरहीं।
बल अनुमान सदा हित करहीं॥
बिपतिकाल कर सतगुन नेहा।
स्रुति कह सत्य मित्र गुन एहा॥

फिर उसे आश्वासन देते हुए कहते हैं—

सखा सोच त्यागहु बल मोरे।
सब बिधि करब काज मैं तोरे॥

इसी प्रकार रामका भ्रातृप्रेम भी अतुलनीय है। रामायणमें हमें जिस भ्रातृप्रेमकी शिक्षा मिलती है, भ्रातृप्रेमका जैसा उच्चाति-उच्च आदर्श प्राप्त होता है वैसा जगत्‌के इतिहासमें कहीं नहीं है। पाण्डवोंमें भी परस्पर बड़ा भारी प्रेम था। उनके भ्रातृप्रेमकी कथाएँ पढ़-सुनकर चित्त द्रवित हो उठता है और हम उनकी महिमा गाने लगते हैं, परन्तु रामायणके भ्रातृप्रेमसे उसकी तुलना नहीं हो सकती। रामायणकालसे महाभारतकालके भ्रातृप्रेमका आदर्श बहुत नीचा था। इस कालकी तो बात ही क्या है, जहाँ बात-बातमें लड़ाइयाँ होती हैं और जरा-जरा-से सुख-भोगके लिये भाइयोंकी हत्यातक कर डाली जाती है! आज इस लेखमें श्रीराम प्रभृति चारों भाइयोंके भ्रातृप्रेमके सम्बन्धमें यथामति किञ्चित् दिग्दर्शन कराया जाता है।

श्रीरामका भ्रातृप्रेम

लड़कपनसे ही श्रीराम अपने तीनों भाइयोंके साथ बड़ा भारी प्रेम करते थे। सदा उनकी रक्षा करते और उन्हें प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते थे। खेल-कूदमें भी कभी उनको दुखी नहीं होने देते थे। यहाँतक कि अपनी जीतमें भी उन्हें खुश करनेके लिये हार मान लेते थे और प्रेमसे पुचकार-पुचकार कर दाँव देते थे—

खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥

श्रीराम तीनों भाइयोंको साथ लेकर भोजन करते, साथ ही खेलते और सोते थे। विश्वामित्रजीके साथ उनके यज्ञरक्षार्थ श्रीराम-

लक्ष्मण वनमें गये । अनेक विद्या सीखकर और राक्षसोंका विनाश कर मुनिके साथ दोनों भाई जनकपुरमें पहुँचे। धनुष भङ्ग हुआ। परशुरामजी आये और कोप करके धनुष तोड़नेवालेका नाम-धाम पूछने लगे, श्रीरामने बड़ी नम्रतासे और लक्ष्मणजीने तेजयुक्त वचनोंसे उनके प्रश्नका उत्तर दिया । लक्ष्मणजीके कथनपर परशुरामजीको बड़ा क्रोध आया, वे उनपर दाँत पीसने लगे । इसपर श्रीरामने जिस चतुरतासे भाईके कार्यका समर्थनकर भ्रातृप्रेमका परिचय दिया, उस प्रसङ्गके पढ़नेपर हृदय मुग्ध हो जाता है ।

तदनन्तर विवाहकी तैयारी हुई, परन्तु श्रीरामने स्वयंवरमें विजय प्राप्तकर अकेले ही अपना विवाह नहीं करा लिया । लक्ष्मणजी तो साथ थे ही, भरत-शत्रुघ्नको बुलाकर सबका विवाह भी साथ ही करवाया ।

विवाहके अनन्तर अयोध्या लौटकर चारों भाई प्रेमपूर्वक रहने लगे और अपने आचरणोंसे सबको मोहित करने लगे । कुछ समय बाद भरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये । पीछेसे राजा दशरथने मुनि वशिष्ठकी आज्ञा और प्रजाकी सम्मतिसे श्रीरामके अति शीघ्र राज्याभिषेकका निश्चय किया । चारों ओर मंगल-बधाइयाँ बँटने लगीं और राज्याभिषेककी तैयारी की जाने लगी । वशिष्ठजीने आकर श्रीरामको यह हर्ष-संवाद सुनाया । राज्याभिषेककी बात सुनकर कौन प्रसन्न नहीं होता, परन्तु श्रीराम प्रसन्न नहीं हुए, वे पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे 'अहो ! यह

कैसी बात है, जन्मे साथ, खाना-पीना, सोना-खेलना साथ हुआ, कर्णवेध, जनेऊ और विवाह भी चारोंके एक साथ हुए, फिर यह राज्य ही मुझ अकेलेको क्यों मिलना चाहिये, हमारे निर्मल कुलमें यही एक प्रथा अनुचित है कि छोटे भाइयोंको छोड़कर अकेले बड़ेको ही राजगद्दी मिलती है,—

जनमे एक संग सब भाई।
भोजन सयन केलि लरिकाई॥
कर्नबेध उपबीत बिबाहा।
संग संग सब भयउ उछाहा॥
बिमल बंस यह अनुचित एका।
अनुज बिहाइ बड़े अभिषेका॥

श्रीरामको अकेले राज्य स्वीकार करनेमें बड़ा अनौचित्य प्रतीत हुआ। मनकी प्रसन्नतासे नहीं, परन्तु पिताकी आज्ञासे उन्हें राज्याभिषेकका प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। परन्तु उनके मनमें यही था कि मैं सिर्फ यह प्रथाभर पूरी कर रहा हूँ, वास्तवमें राज्य तो भाइयोंका ही है। भरत-शत्रुघ्न तो उस समय मौजूद नहीं थे, अतः श्रीरामजीने लक्ष्मणसे कहा—

सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान्राज्यफलानि च।
जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये॥

(वा० रा० २।४।४४)

'भाई सौमित्रे! तुम वाञ्छित भोग और राज्यफलका भोग करो, मेरा यह जीवन और राज्य तुम्हारे ही लिये है।'

इसके बाद ही इस लीला-नाटकका पट परिवर्तन हो गया। माता कैकेयीकी कामनाके अनुसार राज्याभिषेक वनगमनके रूपमें परिणत हो गया। प्रातःकालके समय जब श्रीराम पिता दशरथकी सम्मतिसे सुमन्तके द्वारा कैकेयीके महलमें बुलाये गये और जब उन्हें कैकेयीके वरदानकी बात मालूम हुई, तब उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की, वे कहने लगे कि 'माता! इसमें बात ही कौन-सी है मुझे तो केवल एक ही बातका दुःख है कि महाराजने भरतके अभिषेकके लिये मुझसे ही क्यों नहीं कहा—

गच्छन्तु चैवानयितुं दूताः शीघ्रजवैर्हयैः।
भरतं मातुलकुलादद्यैव नृपशासनात्॥
दण्डकारण्यमेषोऽहं गच्छाम्येव हि सत्वरः।
अविचार्य पितुर्वाक्यं समा वस्तुं चतुर्दश॥
(वा० रा० २। १९। १०-११)

'महाराजकी आज्ञासे दूतगण अभी तेज घोड़ोंपर सवार होकर मामाजीके यहाँ भाई भरतको लानेके लिये जायँ। मैं पिताजीके वचन सत्य करनेके लिये बिना कुछ विचार किये चौदह वर्षके लिये दण्डकारण्य जाता हूँ। प्राणप्रिय भाई भरतका राज्याभिषेक हो, इससे अधिक प्रसन्नता मेरे लिये और क्या होगी? विधाता आज सब तरहसे मेरे अनुकूल है—

भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू।
बिधि सब बिधि मोहिं सनमुख आजू॥
जो न जाउँ बन ऐसेहि काजा।
प्रथम गनिय मोहि मूढ़-समाजा॥

धन्य है यह त्याग! आदिसे अन्ततक कहीं भी राज्य-लिप्साका नाम नहीं, और भाइयोंके लिये सर्वदा सर्वस्व त्याग करनेको तैयार! इस प्रसङ्गसे हमें यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि छोटे भाइयोंको छोड़कर राज्य, धन या सुखको अकेले कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये। योग्यतावश कहीं ग्रहण करना ही पड़े तो उसमें भाइयोंका अपनेसे अधिक अधिकार समझना चाहिये, बल्कि यह मानना चाहिये कि उन्हीं लोगोंके लिये मैं इसे ग्रहण करता हूँ और यदि ऐसा मौका आ जाय कि जब भाइयोंको राज्य, धन, सुख मिलता हो और इसलिये अपनेको त्याग करना पड़े तो बहुत ही प्रसन्न होना चाहिये। अस्तु!

इसके बाद श्रीराम माता कौसल्या और पत्नी सीतासे विदा माँगने गये। श्रीरामने भरत या कैकेयीके प्रति कोई भी अपशब्द या विद्वेषमूलक शब्द नहीं कहा, बल्कि सीतासे आपने कहा—

वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः।
स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः॥
भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम॥

(वा० रा० २। २६। ३२-३३)

'मेरी अन्य माताओंको भी नित्य प्रणाम करना, क्योंकि मुझपर स्नेह करनेमें और मेरा लाड़-प्यार तथा पालन-पोषण करनेमें मेरी सभी माताएँ समान हैं। साथ ही तुम भरत-शत्रुघ्नको

भी अपने भाई और बेटेके समान या उनसे भी विशेष समझना, क्योंकि वे दोनों मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हैं।'

यहाँ विशेष आग्रह और प्रेमके कारण सीताजीको भी साथ चलनेकी अनुमति श्रीरामको देनी पड़ी, तब लक्ष्मणजीने भी साथ चलना चाहा। श्रीराम ऐसे तो पुरुष थे ही नहीं, जो अपने आरामके लिये लक्ष्मणसे कहते या उसे उभारते कि 'ऐसे अन्याय-राज्यमें रहकर क्या करोगे, तुम भी साथ चलो।' उन्होंने लक्ष्मण-को घर रहनेके लिये बहुत समझाया, अनेक युक्तियोंसे यह चेष्टा की कि किसी तरह लक्ष्मण अयोध्यामें रहे, जिससे राज्य-परिवारकी सेवा-सम्हाल हो सके, और लक्ष्मणको वनके कष्ट न भोगने पड़ें, परन्तु जब लक्ष्मणने किसी तरह नहीं माना तब उसको सुख पहुँचानेके लिये श्रीरामने साथ ले जाना स्वीकार किया।

श्रीराम छोटे भाई लक्ष्मण और सीतासहित वनको चले गये। वनमें लक्ष्मणजी श्रीराम-सीताकी हर तरह सेवा करते हैं और श्रीराम भी वही कहते और करते हैं जिससे श्रीसीताजी और भाई लक्ष्मण सुखी हों।

सीय-लषन जेहि बिधि सुख लहहीं।
सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं॥
जुगवहि प्रभु सिय-अनुजहि कैसे।
पलक बिलोचन-गोलक जैसे॥

इससे यह सीखना चाहिये कि अपनी सेवा करनेवाले छोटे भाई और पत्नीको जैसे सुख पहुँचे, वैसे ही कार्य करने चाहिये

तथा उनकी वैसे ही रक्षा करनी चाहिये जैसे पलकें आँखोंकी करती हैं।

× × ×

भरतके ससैन्य वनमें आनेका समाचार प्राप्तकर जब श्रीराम-प्रेमके कारण लक्ष्मणजी क्षुब्ध होकर भरतके प्रति न कहने योग्य शब्द कह बैठे, तब श्रीरामने भरतकी प्रशंसा करते हुए कहा—'भाई! भरतको मारनेकी बात तुम क्यों कहते हो, मुझे अपने बान्धवोंके नाश करनेसे प्राप्त होनेवाला धन नहीं चाहिये, वह तो विषयुक्त अन्नके समान है—

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
इच्छामि भवतामर्थे एतत्प्रतिशृणोमि ते॥
भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे॥
यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद।
भवेन्मम सुखं किञ्चिद्भस्म तत्कुरुतां शिखी॥
मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः।
मम प्राणैः प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन्॥
श्रुत्वा प्रव्रजितं मां हि जटावल्कलधारिणम्।
जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषोत्तम॥
स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथागतः॥

अम्बां च केकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन् ।
प्रसाद्य पितरं श्रीमान् राज्यं मे दातुमागतः ॥
(वा० रा० २ । ९७ । ५-६ एवं ८ से १२)

'हे लक्ष्मण ! मैं सत्य और आयुधकी शपथ करके कहता हूँ कि मैं धर्म, अर्थ, काम और सारी पृथिवी तथा और जो कुछ चाहता हूँ, वह सब तुम्हीं लोगोंके लिये ! हे लक्ष्मण ! मैं भाइयोंकी भोग्य सामग्री और सुखके लिये ही राज्य चाहता हूँ। हे मानदेनेवाले भाई लक्ष्मण ! भरत, तुम और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख होता हो तो उसमें आग लग जाय। हे पुरुषश्रेष्ठ वीर लक्ष्मण ! मैं तो समझता हूँ मेरे प्राणप्यारे भ्रातृवत्सल भाई भरतने जब अयोध्यामें आकर यह सुना होगा कि मैं जटाचीर धारणकर तुम्हारे और जानकीके साथ वनमें चला गया हूँ तब वह कुलधर्मको स्मरण करके अति स्नेह और शोकके कारण व्याकुल तथा कातर होकर अप्रिय वचनोंसे माता कैकेयीको अप्रसन्न और पिता दशरथजीको प्रसन्न करता हुआ हमलोगोंके दर्शनके लिये तथा मुझे लौटाकर राज्य देनेके लिये ही आ रहा है।' वह मनसे भी कभी विपरीत आचरण नहीं कर सकता। यदि तुम्हें राज्यकी इच्छा हो तो मैं भरतसे कहकर दिलवा दूँगा। तुम भरतके सम्बन्धमें भूल समझ रहे हो ! भाई भरतको कभी राज्यमद नहीं हो सकता—

सुनहु लषन भल भरत सरीखा।
बिधि प्रपंचमहँ सुना न दीखा ॥

भरतहिं होइ न राजमद, बिधि-हरि-हर-पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरन्हि, छीरसिंधु बिनसाइ॥
लषन तुम्हार सपथ पितु आना।
सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥
सगुन छीर, अवगुन जल ताता।
मिलै रचै परपंच विधाता॥
भरत हंस रविबंस तड़ागा।
जनमि कीन्ह गुणदोष बिभागा॥
गहि गुन-पय तजि अवगुन-बारी।
निज जस जगत कीन्ह उजियारी॥
कहत भरत गुन सील सुभाऊ।
प्रेम-पयोधि मगन रघुराऊ॥

श्रीराम भरतका गुणगान करते हुए प्रेमके समुद्रमें निमग्न हो गये! लक्ष्मणजीको अपनी भूल मालूम हो गयी! यहाँ भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणके प्रति जो नीतियुक्त तीखे और प्रेमभरे वचन कहे, उनमें प्रधान अभिप्राय तीन समझने चाहिये। प्रथम, भरतके प्रति श्रीरामका परम विश्वास प्रकट करना, दूसरे, लक्ष्मणको यह चेतावनी देना कि तुम भरतकी सरलता, प्रेम, त्याग आदिको जानते हुए भी मेरे प्रेमवश प्रमादसे बालककी तरह ऐसा क्यों बोल रहे हो? और तीसरे, उन्हें फटकारकर ऐसे अनुचित मार्गसे बचाना।

भरत आये और 'हे नाथ ! रक्षा करो' कहकर, दण्डकी तरह पृथिवीपर गिर पड़े। सरलहृदय श्रीलक्ष्मणने भरतकी वाणी पहचानकर उन्हें श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करते देखा, हृदयमें भ्रातृ-प्रेम उमड़ा, परन्तु सेवा-धर्म बड़ा जबरदस्त है। लक्ष्मणजीका मन करता है कि भाई भरतको हृदयसे लगा लूँ, परन्तु फिर अपने कर्तव्यका ध्यान आता है तब श्रीराम-सेवामें खड़े रह जाते हैं।

मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई।
सुकवि लषन-मनकी गति भनई॥
रहे राखि सेवापर भारू।
चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू॥

आखिर सेवामें लगे रहना ही उचित समझा, परन्तु श्रीराम-से निवेदन किये बिना उनसे नहीं रहा गया—लक्ष्मणजीने सिर नवाकर प्रेमसे कहा—

भरत प्रनाम करत रघुनाथा !

भगवान् तो भरतका नाम सुनते ही विह्वल हो गये और प्रेममें अधीर होकर उन्हें उठाकर गले लगानेको उठ खड़े हुए। उस समय श्रीरामकी कैसी दशा हुई—

उठे राम सुनि प्रेम अधीरा।
कहुँ पट कहुँ निषंग धनुतीरा॥
बरबस लिये उठाइ उर लाये कृपानिधान।
भरत रामकी मिलनि लखि बिसरे सबहिं अपान॥

यहाँ चारों भाइयोंका परस्पर प्रेम देखकर सभी मुग्ध हो गये। भरतकी विनय, नम्रता, साधुता और रामभक्ति देखकर तो लोग तन-मनकी सुधि भूल गये। श्रीरामको पिताके मरण-संवादसे बड़ा दुःख हुआ। यथोचित शास्त्रोक्त विधिसे क्रिया करनेके बाद समाज जुड़ा। भरतने भाँति-भाँतिसे अनेक युक्तियाँ दिखलाकर श्रीरामको राज्य-ग्रहणके लिये प्रार्थना की। वशिष्ठादि ऋषियोंने, मन्त्री, पुरवासी और माताओंने भी भरतका साथ दिया जब भगवान् श्रीरामने किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया तो भरत-जीने कहा कि मैं अनशनव्रत रखकर प्राण दे दूँगा। इसपर श्री-रामने उन्हें पहले तो धरना देनेके लिये फटकारा, फिर विविध भाँतिसे समझाकर शान्त किया और अन्तमें चरणोंमें पड़े रोते हुए भरतको अपने हाथोंसे खींचकर गोदमें बैठा लिया और प्रेमवश कहने लगे—

हे भरत! मुझे वनवाससे लौटाकर राज्याभिषेक करानेके लिये तुमको जो बुद्धि हुई है सो स्वाभाविक ही है, यह गुरुसेवाद्वारा प्राप्त विनय-विवेकका फल है। इस श्रेष्ठ बुद्धिके कारण तुम समस्त पृथिवीका पालन कर सकते हो, परन्तु—

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान्वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः॥
(वा० रा० २। ११२। १८)

'चन्द्रमा चाहे अपनी श्री त्याग दे, हिमालय हिमको छोड़ दे, समुद्र मर्यादाका उल्लङ्घन कर दे, पर मैं पिताकी प्रतिज्ञाको सत्य किये बिना घर नहीं लौट सकता।'

श्रीगोसाईंजीने लिखा है कि श्रीरामने अन्तमें प्रेमविवश होकर भरतजीसे कहा कि—

भैया ! तुम दुःख न करो, जीवकी गति ईश्वराधीन है, हे भाई ! मेरी समझसे तो तीनों काल और तीनों लोकोंमें जितने पुण्यश्लोक पुरुष हैं वे सब तुमसे नीचे हैं । तुमको जो मनमें भी कुटिल समझेगा, उसके लोक-परलोक बिगड़ जायँगे, माता कैकेयी-को भी वही लोग दोष देंगे जिन्होंने गुरु और साधुओंका संग नहीं किया है । मैं शिवको साक्षी देकर सत्य कहता हूँ, कि भाई ! अब यह पृथिवी तुम्हारे रक्खे ही रहेगी । तुम अपने मनमें कुछ भी शंका न करो । हे प्यारे ! देखो ! महाराजने मुझको त्याग दिया, प्रेमका प्रण निबाहनेके लिये शरीर भी छोड़ दिया, परन्तु सत्य नहीं छोड़ा । इसलिये मुझको उनके वचन टालनेमें बड़ा संकोच हो रहा है, परन्तु उससे भी बढ़कर मुझे तुम्हारा संकोच है, गुरुजी भी कहते हैं, अतः अब सारा भार तुमपर है, तुम जो कुछ कहो, मैं वही करनेको तैयार हूँ—

मन प्रसन्न करि सोच तजि, कहहु करौं सो आज ।
सत्यसिन्धु रघुबर बचन, सुनि भा सुखी समाज ॥

'सोच छोड़कर प्रसन्न मनसे आज तुम जो कुछ कह दोगे वही करनेको तैयार हूँ यानी मुझे सत्य बहुत प्यारा है परन्तु उससे भी बढ़कर तुम प्यारे हो । तुम्हारे लिये सब कुछ कर सकता हूँ ।' इससे अधिक भ्रातृप्रेम और क्या होगा ? जिस

सत्यके लिये पिता-माताकी परवा नहीं की, आज अनायास वही सत्य, लौटानेके लिये आये हुए, भाई भरतके प्रेमपर छोड़ दिया गया !

भरतजी भी तो श्रीरामके ही भाई थे । उन्होंने बड़े भाई श्रीरामका अपने ऊपर इतना प्रेम देखकर उन्हें संकोचमें डालना नहीं चाहा और बोले कि—

जो सेवक साहिब संकोची । निज हित चहै तासु मति पोची ॥

'जो दास अपने मालिकको संकोचमें डालकर अपना कल्याण चाहता है उसकी बुद्धि बड़ी ही नीच है । मैं तो आपके राजतिलकके लिये सामग्री लाया था परन्तु अब—

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि, जो जेहि आयसु देव ।
सो सिर धरि धरि करिहिं सब, मिटिहिं अनट अवरेब ॥

प्रभु निःसंकोच होकर प्रसन्नतासे जिसको जो आज्ञा देंगे वह उसीको सिर चढ़ाकर करेगा, जिससे सारी उलझन आप ही सुलझ जायगी ।' अन्तमें श्रीरामने फिर कहा—'भैया ! तुम मन, वचन, कर्मसे निर्मल हो, तुम्हारी उपमा तुम्हीं हो, बड़ोंके सामने छोटे भाईके गुण इस कुसमयमें कैसे बखानूँ ? भाई ! तुम अपने सूर्यवंशकी रीति, पिताजीकी कीर्ति और प्रीति जानते हो, और भी सारी बातें तुमपर विदित हैं । अवश्य चौदह वर्षतक तुमको बहुत कष्ट होगा—

जानि तुमहि मृदु कहौं कठोरा । कुसमय तात न अनुचित मोरा ॥
होहिं कुठायँ सुबंधु सहाये । आड़िय हाथ असनिके घाये ॥

'हे प्यारे ! मैं तुम्हारे हृदयकी कोमलता जानता हुआ भी तुम्हें यह कठोर वचन कह रहा हूँ परन्तु क्या करूँ ? यह समय ही ऐसा है, इस समयके लिये यही उचित है, जब बुरा समय आता है तब भले भाई ही काम आते हैं, तलवारके वारको बचानेके लिये अपने ही हाथकी आड़ करनी पड़ती है ।'

भगवान्‌के इन प्रेमपूर्ण रहस्यके वचनोंको सुनते ही भरत श्रीरामकी रुखको भलीभाँति समझ गये । उनका विषाद दूर हो गया । परन्तु चौदह साल निराधार जीवन रहेगा कैसे ? अतः—

सो अवलम्ब देव मोहि देवा। अवधि पार पावउँ जेहि सेवा ॥

—भगवान्‌ने उसी समय भरतजीकी इच्छानुसार अपनी चरण-पादुका परम तेजस्वी महात्मा भरतजीको दे दी ! भरतजी पादुकाओंको प्रणामकर मस्तकपर धारणकर अयोध्या लौट गये ।

× × ×

श्रीरामने कुछ समयतक चित्रकूटमें निवास किया, फिर ऋषियोंके आश्रमोंमें घूमते-घूमते पञ्चवटीमें आये । वहाँ कुछ समय रहे । वनमें रहते समय भगवान् प्रतिदिन ही लक्ष्मणजीको भाँति-भाँतिसे ज्ञान, भक्ति, वैराग्यका उपदेश किया करते । एक दिन उपदेश देते हुए उन्होंने कहा—

संत-चरन-पंकज अति प्रेमा। मन-क्रम-बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बन्धु पतिदेवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा ॥
मम गुन गावत पुलकि सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा ॥
कामादिक मद दम्भ न जाके। तात निरन्तर बस मैं ताके ॥

बचन कर्म मन मोरि गति, भजन करइ निष्काम ।
तिनके हृदयकमल महँ, करउँ सदा बिस्राम ॥

इस प्रकार सत्चर्चा और परम रहस्यके वार्तालापमें ही समय बीतता था । भाईपर इतना प्रेम था कि श्रीराम उन्हें हृदय खोल-कर अपना रहस्य समझाते थे ।

× × ×

सीता-हरण हुआ, लङ्कापर चढ़ाई की गयी और भयानक युद्ध आरम्भ हो गया । एक दिन शक्तिबाणसे श्रीलक्ष्मणके घायल हो जानेपर श्रीरामने भाईके लिये जैसी विलाप-प्रलापकी लीला की, उससे पता लगता है कि छोटे भाई लक्ष्मणके प्रति श्री-रामका कितना अधिक स्नेह था ।

श्रीराम कहने लगे—

किं मे युद्धेन किं प्राणैर्युद्धकार्यं न विद्यते ।
यत्रायं निहतः शेते रणमूर्धनि लक्ष्मणः ॥
यथैव मां वनं यान्तमनुयाति महाद्युतिः ।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम् ॥

(वा० रा० ६ । १०१ । १२-१३)

'अब मुझे युद्धसे, या जीवनसे क्या प्रयोजन है ? जब कि प्यारा भाई लक्ष्मण निहत होकर रणभूमिमें सो चुका है, युद्धका कोई काम नहीं है । भाई ! जिस प्रकार महातेजस्वी तुम मेरे साथ वनमें आये थे उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे साथ परलोकमें जाऊँगा ।' गोसाईंजी लिखते हैं—

श्रीराम प्रलाप करते हुए कहते हैं—

सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ।
बन्धु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता।
सहेउ बिपिन हिम आतप बाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई।
उठहु न सुनि मम बच बिकलाई॥
जो जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू।
पिता बचन मनतेउ नहिं ओहू॥
सुत बित नारि भवन परिवारा।
होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
जथा पङ्ख बिनु खग अति दीना।
मनि बिनु फनि करिवर करहीना॥
अस बिचारि जिय जागहु ताता।
मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥
अस मम जिवन बन्धु बिनु तोही।
जौं जड़ दैव जियावहि मोही॥
जैहउँ अवध कवन मुँह लाई।
नारि हेतु प्रिय बन्धु गँवाई॥
अब अपलोक सोक सुत तोरा।
सहिहि निठुर कठोर उर मोरा॥

निज जननीके एक कुमारा।
तात तासु तुम प्रान-अधारा॥
सौंपेसि मोहि तुम्हहिं गहि पानी।
सब बिधि सुखद परम हित जानी॥
उतरु काह दैहउँ तेहि जाई।
उठि किन मोहि सिखावहु भाई॥
बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन।
स्रवत सलिल राजिव-दल-लोचन॥*

---

* यह भगवान् श्रीरामकी प्रलाप-लीला मानी जाती है, प्रलापमें कुछ-का-कुछ कहा जाना ही स्वाभाविक है। 'प्रभुप्रलाप सुनि कान' आगेके दोहेके इस वाक्यसे भी प्रलाप ही सिद्ध होता है। भगवान् शिवके इन वचनोंसे कि 'उमा अखण्ड एक रघुराई। 'नर गति' भगत-कृपालु देखाई' से भी साधारण मनुष्यवत् प्रलाप ही ठहरता है। इससे अर्थान्तर करनेकी आवश्यकता नहीं, परन्तु यदि दूसरा अर्थ किया जाय तो उपर्युक्त चौपाइयोंमें—'जो जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥' इस चौपाईका अर्थ यह करना चाहिये कि यदि मैं जानता कि वनमें बन्धुओंसे बिछोह होगा तो मैं (पिता बचन मनतेउँ) पिताके वचन मानकर वनमें तो आता, परन्तु ('नहिं ओहू') लक्ष्मणका आग्रह स्वीकार कर उसे वनमें साथ नहीं लाता।

इसी प्रकार 'निज जननीके एक कुमारा। तात तासु तुम प्रान-अधारा' इस चौपाईका अर्थ यों करना चाहिये कि मैं जैसे अपनी माताका प्यारा इकलौता बेटा हूँ वैसे ही अपनी माता सुमित्राके तुम प्राणाधार हो।

इस चौपाईका अर्थ यह भी किया जा सकता है कि 'मैं अपनी माताके एक ही लड़का हूँ और तुम उसके (मेरे) प्राणाधार हो अर्थात् तुम्हारे जीवनसे ही मेरा जीवन है।'

जो भाई अपने लिये घर-द्वार छोड़कर मरनेको तैयार है, उसके लिये विलाप किया जाना उचित ही है परन्तु श्रीरामने तो विलापकी पराकाष्ठा कर भ्रातृ-प्रेमकी बड़ी ही सुन्दर शिक्षा दी है।

श्रीहनूमान्‌जीके द्वारा संजीवनी लानेपर लक्ष्मणजी स्वस्थ हो गये। राम-रावण-युद्ध समाप्त हुआ। सीता-परीक्षाके अनन्तर श्रीराम सबको साथ लेकर पुष्पक-विमानके द्वारा अयोध्या लौटनेकी तैयारीमें हैं। इसी समय विभीषण प्रार्थना करने लगे—

'भगवन्! यदि मैं आपके अनुग्रहका पात्र हूँ, यदि आप मुझपर स्नेह करते हैं तो मेरी प्रार्थना है—आप कुछ समयतक यहाँ रहें, लक्ष्मण और सीतासहित आपकी मैं पूजा करना चाहता हूँ। आप अपनी सेना तथा मित्रोंसहित घर पधार कर उसको पवित्र करें और यत्किञ्चित् सत्कार स्वीकार करें। मैं आपके प्रति आज्ञा नहीं कर रहा हूँ, परन्तु स्नेह-सम्मान और मित्रताके कारण एक सेवककी भाँति आपको प्रसन्न करनेकी अभिलाषा रखता हूँ। (वा० रा० ६।१२१।१२–१५) विनयका क्या ही सुन्दर सीखने योग्य तरीका है!

श्रीरामने उत्तरमें कहा—

न खल्वेतन्न कुर्यां ते वचनं राक्षसेश्वर।
तं तु मे भ्रातरं द्रष्टुं भरतं त्वरते मनः॥
मां निवर्तयितुं योऽसौ चित्रकूटमुपागतः।
शिरसा याचतो यस्य वचनं न कृतं मया॥

(वा० रा० ६।१२१।१८-१९)

'हे राक्षसेश्वर ! मैं इस समय तुम्हारी बात नहीं मान सकता, मेरा मन भाई भरतसे मिलनेके लिये छटपटा रहा है, जिसने चित्रकूटतक आकर मुझे लौटानेके लिये विनीत प्रार्थना की थी और मैंने उसको स्वीकार नहीं किया था ।' मित्रवर ! तुम मेरी इस प्रार्थना-पर दुःख न करना ।

तोर कोस गृह मोर सब, सत्य बचन सुनु तात ।
दसा भरतकी सुमिरि मोहिं, निमिष कलप सम जात ॥
तापस बेष सरीर कृस, जपत निरन्तर मोहि ।
देखौं बेगि सो जतन करु, सखा ! निहोरौं तोहि ॥
जो जैहों बीते अवधि, जियत न पाऊँ बीर ।
प्रीति भरतकी समुझि प्रभु, पुनि-पुनि पुलक सरीर ॥

विभीषण नहीं रोक सके, विमानपर सवार होकर चले । भगवान्‌ने अपने आनेका संवाद हनूमान्‌के द्वारा भरतजीके पास पहलेसे ही भेजकर उन्हें सुख पहुँचाया ।

तदनन्तर अनन्तशक्ति भगवान् श्रीराम अयोध्या पहुँचकर क्षणमें लीलासे ही सबसे मिल लिये ।

प्रेमातुर सब लोग निहारी । कौतुक कीन्ह कृपालु खरारी ॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला । जथाजोग्य मिलि सबहिं कृपाला
कृपादृष्टि सब लोग बिलोकी । किये सकल नरनारि बिसोकी ॥
छनमहँ सबहि मिले भगवाना । उमा मर्म यह काहु न जाना ॥

भरतके साथ भगवान्‌का मिलन तो अपूर्व आनन्दमय है । फिर शत्रुघ्नसे मिलकर उनका विरह-दुःख नष्ट किया । राजतिलककी

इसके बाद लक्ष्मण-त्यागका प्रश्न आता है, कुछ लोग इसको श्रीरामका बड़ा ही निष्ठुर कार्य समझते हैं। जिस भाईने राज्य और राजाको दारुण ऋषि-शापसे बचाया, उसके लिये पुरस्काररूपमें भी पहलेका विधान बदल देना उचित था, परन्तु ऐसा कहनेवाले लोग इस बातको भूल जाते हैं कि श्रीराम सत्य-प्रतिज्ञ हैं, इसी सत्यकी रक्षाके लिये उन्होंने लक्ष्मणका त्याग कर दिया परन्तु प्यारे भाई लक्ष्मणका वियोग होते ही आप भी भरत, शत्रुघ्न और प्रजा-परिजनोंको साथ लेकर परमधामको प्रयाण कर गये !

श्रीरामके भ्रातृ-प्रेमका यह अति संक्षिप्त वर्णन है । श्रीराम-की भ्रातृवत्सलताका इससे कुछ अनुमान हो सकता है । भाइयोंके लिये ही राज्य ग्रहण करना, भाईको राज्य मिलनेके प्रस्तावसे अपना हक छोड़कर परम आनन्दित होना, जिसके कारण राज्या-भिषेक रुका उस भाई भरतकी माता कैकेयीपर भक्ति करना, भरतका गुण-गान करना, धरना देनेके समय भरतको और भरत-पर क्रोध करनेके समय लक्ष्मणको फटकार बताकर अन्याय-मार्गसे बचाना, भरतकी इच्छापर अपने सत्यव्रतको भी छोड़ देना, लक्ष्मण-जीके शक्ति लगनेपर उनके साथ प्राणत्याग करनेको तैयार हो जाना, समय-समयपर सदुपदेश देना, स्वार्थ छोड़कर सबपर सम-भावसे पूर्ण प्रेम करना और लवणासुरपर आक्रमणके समय जबर-दस्ती राज्याभिषेकके लिये शत्रुघ्नसे स्वीकार कराना आदि श्रीराम-के आदर्श भ्रातृ-प्रेमपूर्ण कार्योंसे हम सबको यथायोग्य शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये !

श्रीभरतका भ्रातृ-प्रेम

सिय-राम-प्रेम-पियूष पूरन होत जनम न भरतको ।
मुनि-मन-अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को ॥
दुखदाह दारिद दम्भ दूषन सुजस मिस अपहरत को ।
कलिकाल तुलसीसे सठन्हि हठि राम सनमुख करत को ॥

भरतजीकी अपार महिमा है । रामायणमें भरतजीका ही एक ऐसा उज्ज्वल चरित्र है जिसमें कहीं कुछ भी दोष नहीं दीख पड़ता । भरतजी धर्मके ज्ञाता, नीतिज्ञ, त्यागी, सद्गुणोंसे युक्त, संयमी, सदाचारी, प्रेम और विनयकी मूर्ति, श्रद्धा-भक्ति-सम्पन्न और बड़े बुद्धिमान् थे । वैराग्य, सत्य, तप, क्षमा, तितिक्षा, दया, वात्सल्य, धीरता, शान्ति, सरलता, गम्भीरता, सौम्यता, समता, मधुरता, अमानिता, सुहृदता और स्वामिसेवा आदि गुणोंका इनमें विलक्षण विकास था । भ्रातृ-प्रेमकी तो आप मानो सजीव मूर्ति थे ।

श्रीराम-वनवास अच्छा ही हुआ, जिससे भरतजीका उच्च प्रेम-भाव जगत्में प्रकट हो गया । राम-वियोग न होता तो विश्व-को इस अतुल प्रेमकी सुधा-धारामें अवगाहन करनेका सुअवसर शायद ही मिलता ।

प्रेम अमिय मन्दर बिरह, भरत पयोधि गँभीर ।
मथि प्रगटे सुर-साधु-हित, कृपासिन्धु रघुबीर ॥

'गम्भीर समुद्ररूप भरतजीको अपने वनवासरूपी मन्दरा-चलपर्वतसे मथकर कृपासिन्धु रघुनाथजीने सुर-सन्तोंके हितार्थ प्रेमरूपी अमृतको प्रकट किया है ।'

राज्यं रामस्य चैकेन वनवासो मुनिव्रतम् ।
ततः सत्यपरो राजा राज्यं दत्त्वा तवैव हि ॥
रामं सम्प्रेषयामास वनमेव पिता तव ।
सीताप्यनुगता रामं पातिव्रत्यमुपाश्रिता ॥
सौभ्रात्रं दर्शयन्राममनुयातोऽपि लक्ष्मणः ।
वनं गतेषु सर्वेषु राजा तानेव चिन्तयन् ॥
प्रलपन् रामरामेति ममार नृपसत्तमः ।

(अध्यात्मरा० २ । ७ । ७२–७७)

'तुम्हारे पिताने रामके राज्याभिषेककी बड़ी तैयारी की थी, परन्तु तब तुम्हें राज्य दिलानेके अभिप्रायसे मैंने उसमें विघ्न डाल दिया । वरदानी राजाने पूर्वमें मुझे दो वर देनेको कह रक्खा था, उनमेंसे एकसे मैंने तुम्हारे लिये सम्पूर्ण राज्य और दूसरेसे रामके लिये मुनिव्रतधारणपूर्वक चौदह सालका वनवास माँगा । तब तुम्हारे पिता सत्यपरायण राजाने तुम्हें राज्य दे दिया और रामको वन भेज दिया । पतिव्रता सीता भी रामके साथ वन चली गयी, और सच्चा भ्रातृत्व दिखाकर लक्ष्मण भी उन्हींके पीछे चल दिये । उन लोगोंके वन जानेपर उन्हींका चिन्तन करते हुए और 'हा राम, हा राम' पुकारते हुए महाराजा भी परलोक सिधार गये ।'

कैकेयीके इन वचनोंसे मानो भरतजीपर वज्रपात हो गया । वे पिताकी मृत्युको तो भूल गये और अपने हेतुसे श्रीरामका वनगमन सुनते ही सहम गये, पके हुए घावपर मानो आग-सी लग गयी ।

भरतहि बिसरेउ पितु-मरन, सुनत राम बन गौन।
हेतु अपनपउ जानि जिय, थकित रहे धरि मौन॥
सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू।
पाके छत जनु लाग अँगारू॥

भरतजी व्याकुल हो उठे और दारुण शोकमें सारी सुध-बुध भूलकर माताको धिक्कारकर चिल्लाते हुए कहने लगे—

'अरी क्रूरे! तू राज्य चाहनेवाली माताके रूपमें मेरी शत्रु है, तू पति-घातिनी और कुल-घातिनी है, तू धर्मात्मा अश्वपतिकी कन्या नहीं है, उनके कुलका नाश करनेवाली राक्षसी पैदा हुई है। तू जानती नहीं कि श्रीरामके प्रति मेरा कैसा भाव है, इसीसे तूने यह अन्याय किया है। मैं राम-लक्ष्मणको छोड़कर किसके बलपर राज्य करूँगा? तूने मेरे धर्मात्मा पिताका नाश कर दिया और मेरे भाइयोंको गली-गली भीख माँगनेके लिये भेजा है, एक-पुत्रा कौसल्याको पुत्रवियोगका दुःख दिया है, जा तू नरकमें पड़। तू राज्यसे भ्रष्ट हो जा। अरी दुष्टे! तू धर्मसे पतित है, भगवान् करें मैं मर जाऊँ और तू मेरेलिये रोया करे! मैं इस समस्त राज्यको भाईके प्रति अर्पण कर दूँगा, जा तू अग्निमें प्रवेश कर जा, जंगलमें निकल जा या गलेमें रस्सीकी फाँसी लगाकर मर जा। मैं सत्यपराक्रम रामको राज्य देकर ही अपना कलङ्क धोऊँगा और अपनेको कृतकृत्य समझूँगा।'

(वा० रा० २। ७४)

सम्बन्धमें आपके चरणयुगल ही मेरे लिये प्रमाण हैं।' इतना कह मुनिके दोनों चरणोंको पकड़कर भरतजी कहने लगे—'हे देव! मैं शुद्ध हूँ या अशुद्ध, इस बातको आप भलीभाँति जान सकते हैं। हे स्वामिन्! श्रीरामजीके राजा रहते, मुझे राज्यसे क्या प्रयोजन है, मैं तो सदा-सर्वदा श्रीरामका एक किंकर हूँ।'

इसपर भरद्वाजजीने प्रसन्न होकर कहा—'मैं तुम्हारी सब बातें जानता था, मैंने तो तुम्हारे भाव दृढ़ करने और तुम्हारी कीर्ति बढ़ानेके लिये ही तुमसे ऐसा पूछ लिया था। वास्तवमें तुम्हारे समान बड़भागी दूसरा कौन है, जिसका जीवन-धन-प्राण श्रीरामके चरणकमल हैं—

सो तुम्हार जीवन-धन-प्राना।
भूरि भाग को तुम्हहिं समाना॥
सुनहु भरत रघुबर मनमाहीं।
प्रेम-पात्र तुम सम कोउ नाहीं॥
लखन राम सीतहिं अति प्रीती।
निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती॥

मैं जानता हूँ तुम राम, सीता, लक्ष्मणको अत्यन्त प्यारे हो, वे जब यहाँ ठहरे थे तो रातभर तुम्हारी ही प्रशंसा कर रहे थे। तुम तो भरत! मानो श्रीराम-प्रेमके शरीरधारी अवतार हो।

तुम तो भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु रामसनेहू॥

हे भरत! सुनो, हम तपस्वी उदासी वनवासी हैं, तुम्हारी खातिरसे झूठ नहीं बोलते, हमारी समझसे तो हमारा समस्त

साधनाओंके फलस्वरूप हमें श्रीराम-सीता और लक्ष्मणके दर्शन मिले थे और अब श्रीरामदर्शनके फलस्वरूप तुम्हारे दर्शन हुए हैं, सारे प्रयागनिवासियोंसहित हमारा बड़ा सौभाग्य है—

भरत धन्य तुम जग जस लयऊ।
कहि अस प्रेममगन मुनि भयऊ॥

इसके अनन्तर भरद्वाज मुनिने सिद्धियोंके द्वारा परम सम्मान्य अतिथि भरतजीका आतिथ्य-सत्कार किया, सभी प्रकारकी विलास-सामग्री उत्पन्न हो गयी। सब लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार खान-पान और भोगादिमें लग गये, परन्तु भरतजीको रामके बिना कहीं चैन नहीं है, वे किसी भी प्रलोभनमें नहीं आ सकते।

सम्पति चकई भरत चक, मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निसि आस्रम पींजरा, राखे भा भिनुसार॥

'भरद्वाजजीकी सिद्धियोंद्वारा उत्पन्न सम्पत्ति मानो चकई है, और भरतजी चकवा हैं, मुनिकी आज्ञा बहेलिया है, जिसने रात-भर भरतजीको आश्रमरूपी पिंजरेमें बन्द कर रक्खा और इसी प्रकार सबेरा हो गया।' चकई-चकवा रातको नहीं मिल सकते। इसी तरह विलास-सामग्री और भरतजीका (आश्रमरूपी पिंजरेमें) एक साथ रहनेपर भी मिलाप नहीं हुआ! धन्य त्यागपूर्ण भ्रातृ-प्रेम!

× × × ×

रास्ता बतानेके लिये निषादको आगे करके महाराज भरतजी चित्रकूटकी ओर जा रहे हैं मानो साक्षात् अनुराग ही शरीर

धारण करके चल रहा हो । यहाँपर गोसाईंजीने बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है । भरतजीके न तो पैरोंमें जूते हैं और न सिरपर छत्र है । वे निष्कपटभावसे प्रेमपूर्वक नियम-व्रत करते हुए जा रहे हैं । भरतजी जिस मार्गसे निकलते हैं उसीमें मानो प्रेमका समुद्र उमड़ पड़ता है और वहाँका वातावरण इतना विशुद्ध हो जाता है कि वहाँके जड़-चेतन जीव भरतके भवरोग-नाशक दर्शन पाकर परमपदको प्राप्त हो जाते हैं । जिन रामजीका एक बार भी नाम लेनेवाला मनुष्य स्वयं तरता और दूसरोंको तारनेवाला बन जाता है वे श्रीराम स्वयं जिन भरतजीका मनमें सदा चिन्तन किया करते हैं, उनके दर्शनसे लोगोंका बन्धन-मुक्त हो जाना कौन बड़ी बात है ?

भरतजीके दर्शनसे भ्रातृ-प्रेमके भाव चारों ओर फैल रहे हैं, जब महाराज भरतजी श्रीराम कहकर साँस लेते हैं तब मानो चारों ओर प्रेम उमड़ पड़ता है, उनके प्रेमपूर्ण वचन सुनकर वज्र और पत्थर-जैसे हृदयवाले भी पिघल जाते हैं, फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ?

जबहिं राम कहि लेहिं उसासा।
उमगत प्रेम मनहुँ चहुँपासा ॥
द्रवहि बचन सुनि कुलिस-पखाना ।
पुरजन प्रेम न जाइ बखाना ॥

मार्गके नर-नारी भरतजीको पैदल चलते देख-देखकर नेत्रोंको सफल करते हैं और भाँति-भाँतिकी चर्चा करते हैं । वनकी नारियाँ भरतजीके शील, प्रेम और भाग्यकी सराहना करती हुई कहती हैं—

चलत पयादेहि खात फल, पिता दीन्ह तजि राज।
जात मनावन रघुबरहिं, भरत-सरिस को आज॥
भायप भगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुष-दूषन हरनू॥

'अहो! पिताके दिये हुए राज्यको छोड़कर आज भरत फल-मूल खाते हुए पैदल ही श्रीरामको मनाने जा रहे हैं, इनके समान भाग्यवान् दूसरा कौन होगा? भरतजीके भाईपन, भक्ति और आचरणोंका गुण गाने और सुननेसे दुःख और पाप नाश हो जाते हैं।'

भरतका ऐसा प्रभाव पड़ना ही चाहिये था!

भरतजीसहित सबको शुभ शकुन होने लगे, जिससे प्रेम और भी बढ़ा, प्रेमकी विह्वलतासे पैर उलटे-सीधे पड़ रहे हैं, इतनेमें रामसखा निषादराजने शैलशिरोमणि चित्रकूटको दूरसे दिखलाया। अहा! इसी पुण्यवान् पर्वतपर मेरे स्वामी रघुनाथजी रहते हैं, यह सोचकर भरतजी प्रणाम करने लगे और सियावर रामचन्द्रजीकी जय-ध्वनि करने लगे। उस समय भरतको जैसा प्रेम था, उसका वर्णन शेषजी भी नहीं कर सकते। कविके लिये तो यह उतना ही कठिन है जितना अहंता-ममतावाले मलिन मनुष्यके लिये ब्रह्मानन्द!

भरत प्रेमु तेहि समय जस तस कहि सकै न सेषु।
कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुख अह-मम-मलिन-जनेषु॥

भरतजीने सारे समुदायसहित मन्दाकिनीमें स्नान किया और सब लोगोंको वहीं छोड़कर वे केवल शत्रुघ्न और गुहको

साथ लेकर आगे चले। यहाँपर भरतजीके मनकी दशाका चित्रण श्रीगोस्वामीजीने बहुत ही सुन्दर किया है—

समुझि मातुकरतब सकुचाहीं।
करत कुतरक कोटि मनमाहीं॥
राम-लषन-सिय सुनि मम नाऊँ।
उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥
मातु मते महँ मानि मोहि, जो कछु कहहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं, समुझि आपनी ओर॥
जौं परिहरहि मलिन मन जानी। जौं सनमानहि सेवक मानी॥
मोरे सरन रामकी पनही। राम सुस्वामि दोष सब जनही॥

धन्य भरतजी! जानते हैं कि मैं निर्दोष हूँ, परन्तु जब अयोध्याके दूत, सब नगर-निवासी, माता कौसल्या, निषाद और त्रिकालदर्शी भरद्वाजजीतकने एक-एक बार सन्देह किया तो यहाँ भी लक्ष्मण-सीता मुझपर सन्देह न करेंगे या श्रीराम ही मुझे मन-मलिन समझकर न त्याग देंगे, इसका क्या भरोसा है? यह कौन मान सकता है कि माताके मतके साथ मेरा मत नहीं था। जो कुछ हो, राम चाहे त्याग दें, परन्तु मैं तो उन्हींकी जूतियोंकी शरण पड़ा रहूँगा। माताके नाते मैं तो दोषी हूँ ही। पर श्रीराम सुस्वामी हैं, वे अवश्य कृपा करेंगे।

फिर जब माताकी करतूत याद आ जाती है तो पैर पीछे पड़ने लग जाते हैं, अपनी भक्तिकी ओर देखकर कुछ आगे बढ़ते हैं और जब श्रीरघुनाथजीके स्वभावकी ओर वृत्ति जाती है तो मार्गमें जल्दी-जल्दी पाँव पड़ते हैं। इस समय भरतजीकी दशा

'इन सब सचिवोंके साथ मैं शिरसे प्रणाम करके याचना करता हूँ आप मुझ भाई, शिष्य और दासके ऊपर कृपा करनेके योग्य हैं।'

राज्यं पालय पित्र्यं ते ज्येष्ठस्त्वं मे पिता तथा।
क्षत्रियाणामयं धर्मो यत्प्रजापरिपालनम्॥
इष्ट्वा यज्ञैर्बहुविधैः पुत्रानुत्पाद्य तन्तवे।
राज्ये पुत्रं समारोप्य गमिष्यसि ततो वनम्॥
इदानीं वनवासस्य कालो नैव प्रसीद मे।
मातुर्मे दुष्कृतं किञ्चित् स्मर्तुं नार्हसि पाहि नः॥
(अ० रा० २।९।२३-२५)

'क्योंकि आप सबमें बड़े हैं, मेरे पिताजीके समान हैं, अतः आप राज्यका पालन कीजिये। प्रजा-पालन ही क्षत्रियोंका धर्म है। अनेक प्रकार यज्ञ करके एवं कुल-वृद्धिके लिये पुत्र उत्पन्न करके पुत्रको राज्यसिंहासनपर बैठानेके बाद आप वनमें पधारियेगा यह वनवासका समय नहीं है। मुझपर कृपा कीजिये, मेरी माता-से जो कुकर्म बन गया है उसे भूलकर मेरी रक्षा कीजिये।'

इतना कहकर भरतजी दण्डकी तरह श्रीरामके चरणोंमें गिर पड़े, श्रीरामने स्नेहसे उठाकर गोदमें बैठाया और आँखोंमें आँसू भरकर धीरेसे श्रीभरतजीसे बोले—'भाई! पिताजीने तुम्हें राज्य दिया है और मुझे वन भेजा है—

अतः पितुर्वचः कार्यमावाभ्यामतियत्नतः॥
पितुर्वचनमुल्लङ्घ्य स्वतन्त्रो यस्तु वर्तते।
स जीवन्नेव मृतको देहान्ते निरयं व्रजेत्॥
(अ० रा० २।९।३१-३२)

'अतएव हम दोनोंको यत्नपूर्वक पिताके वचनानुसार कार्य करना चाहिये। जो पिताके वचनोंकी अवहेलना कर स्वतन्त्रतासे बर्तता है वह जीता ही मरेके समान है और मृत्युके बाद नरकगामी होता है। इसलिये तुम अयोध्याका राज्य करो।' भरतने कहा—'पिताजी कामुकतासे स्त्रीके वश हो रहे थे, उनका चित्त स्थिर नहीं था, वे उन्मत्त-से थे, उन्मत्त पिताके वचनको सत्य नहीं मानना चाहिये।' इसपर श्रीरामजीने कहा—'प्रिय भाई! ऐसी बात मुखसे नहीं कहनी चाहिये, पिताजी न तो स्त्रीके वशमें थे, न कामुक थे और न मूर्ख थे, वे बड़े ही सत्यवादी थे और अपने पहलेके वचनोंको सत्य करनेके लिये ही उन्होंने ऐसा किया। हम रघुवंशी उनके वचनोंको कैसे असत्य कर सकते हैं? भरतजीने कहा—'यदि ऐसा ही है तो मैं भी आपके साथ वनमें रहकर लक्ष्मणकी भाँति आपकी सेवा करूँगा, यदि आप मेरी इस बातको भी स्वीकार न करेंगे तो मैं अनशनव्रत लेकर शरीर-त्याग कर दूँगा।' श्रीरामने उनको उलाहना देकर समझाया, परन्तु जब किसी प्रकार भी भरत नहीं माने तब श्रीरामने वशिष्ठजीको इशारा किया।

एकान्ते भरतं प्राह वशिष्ठो ज्ञानिनां वरः
वत्स गुह्यं शृणुष्वेदं मम वाक्यं सुनिश्चितम्॥
रामो नारायणः साक्षाद् ब्रह्मणा याचितः पुरा।
रावणस्य वधार्थाय जातो दशरथात्मजः॥

योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी।
शेषोऽपि लक्ष्मणो जातो राममन्वेति सर्वदा॥
रावणं हन्तुकामास्ते गमिष्यन्ति न संशयः।
तस्मात्त्यजाग्रहं तात रामस्य विनिवर्तने॥
(अध्यात्मरा० २।९।४२-४६)

'श्रीरामका इशारा पाकर गुरु वशिष्ठजीने भरतको एकान्तमें ले जाकर कहा—बेटा! मैं तुमसे एक निश्चित गुप्त बात बतलाता हूँ। श्रीराम साक्षात् नारायण हैं, पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इनसे रावणवधार्थ प्रार्थना की थी, तदनुसार ये दशरथजीके यहाँ अवतीर्ण हुए हैं, जनकनन्दिनी सीताजी योगमाया हैं और लक्ष्मण-जी शेषजीके अवतार हैं जो सदा रामजीके पीछे-पीछे उनकी सेवामें लगे रहते हैं। श्रीराम रावणको मारनेके लिये वनमें अवश्य जायँगे, इसलिये तुम इन्हें लौटा ले जानेका हठ छोड़ दो।'

श्रीरामका अपने प्रति असाधारण प्रेम, अपने सेवाधर्म और गुरुके इन गुह्य वचनोंपर खयालकर भरतजी वापस अयोध्या लौटनेको तैयार हो गये और श्रीरामकी चरणपादुकाओंको प्रणाम करके बोले कि—

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम्॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन।
तवागमनमाकाङ्क्षन्वसन्वै नगराद्बहिः॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परन्तप।
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम॥

न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।
तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम् ॥
(वा० रा० २ । ११२ । २३-२६)

'हे आर्य रघुनन्दन ! मैं जटा-वल्कल धारण करूँगा, फल-मूल खाऊँगा, सारे राज-काजका भार आपकी चरण-पादुकाओंको सौंपकर आपकी राह देखता हुआ चौदह सालतक नगरके बाहर निवास करूँगा । हे परन्तप ! चौदह वर्षके पूर्ण होनेपर पन्द्रहवें वर्षके पहले दिन यदि आपके दर्शन न होंगे तो अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा ।'

श्रीरामने भरतकी दृढ़ प्रतिज्ञा सुनकर अत्यन्त प्रेमसे उन्हें हृदयसे लगा लिया और ठीक अवधिपर अयोध्या लौटनेका वचन दिया । धर्मज्ञ भरतजीने श्रीरामजीके प्रति प्रणाम-प्रदक्षिणा करके स्वर्णजड़ित पादुकाओंको पहले मस्तकपर धारण किया और तदनन्तर उन्हें हाथीपर रखवाया ! वनसे अयोध्या लौटकर नगरसे बाहर नन्दिग्राममें पहुँचकर कहा—

एतद्राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम् ।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते ॥
छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम ॥
भ्रात्रा तु मयि संन्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम् ।
तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति ॥

क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम्।
चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ॥
ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः।
निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवर्तिताम्॥
राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम्॥
(वा० रा० २। ११५। १४, १६–२०)

'अहो! मेरे पूज्य भाईने यह राज्य मुझे धरोहररूप सौंपा है और इसके योगक्षेमके लिये ये स्वर्ण-पादुकाएँ दी हैं। ये पादुकाएँ भगवान्‌की प्रतिनिधि हैं, अतः इनपर छत्र धारण करो, मेरे गुरु श्रीरामकी इन्हीं पादुकाओंसे धर्मराज्यकी स्थापना होगी। मेरे भाईने प्रेमके कारण मुझे यह राज्यरूप धरोहर दी है, जबतक वे लौटकर नहीं आवेंगे तबतक मैं इनकी रक्षा और सेवा करूँगा। मेरे ज्येष्ठ बन्धु श्रीरघुनाथजी जब सकुशल यहाँ पधारेंगे तब इन दोनों पादुकाओंको उनके चरणोंमें पहनाकर आनन्दसे दर्शन करूँगा। पादुकाओंके साथ ही यह धरोहररूप राज्य उन्हें सौंपकर राज्यभारसे छूटकर मैं निरन्तर उनकी आज्ञामें रहता हुआ उनका भजन करूँगा। इस प्रकार दोनों पादुकाएँ, राज्य और अयोध्या उन्हें पुनः सौंपकर मैं कलंक-मुक्त हो जाऊँगा।'

तदनन्तर पादुकाओंका अभिषेक किया गया, भरतजीने स्वयं छत्र-चामर धारण किये। भरतजी राज्यका समस्त शासन-सम्बन्धी कार्य पादुकाओंसे पूछकर करते थे। जो कुछ भी कार्य

होता था या भेंट आती थी सो सबसे पहले पादुकाओंको निवेदन करते, पुनः उसका यथोचित प्रबन्ध करते और वह भी पादुकाओंको सुना देते थे। इस प्रकार पादुकाओंके अधीन होकर भरतजी नन्दिग्राममें नियमपूर्वक रहने लगे। उनकी 'रहनी-करनी' के सम्बन्धमें गोसाईंजी लिखते हैं—

जटाजूट सिर मुनिपट धारी।
महि खनि कुस-साथरी सँवारी॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा।
करत कठिन रिषि-धरम सप्रेमा॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी।
तन मन बचन तजे तिनु तूरी॥
अवधराजु सुरराजु सिहाहीं।
दसरथ-धन सुनि धनद लजाहीं॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा।
चंचरीक जिमि चंपक-बागा॥
रमाबिलास राम-अनुरागी।
तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥

× × × ×

देह दिनहि दिन दूबरि होई।
घट न तेज बल मुख-छबि सोई॥
नित नव राम-प्रेम-पन पीना।
बढ़त धरमदल मन न मलीना॥

जिमि जल निघटत सरद प्रकासे ।
बिलसत बेतस बनज बिकासे ॥
सम दम संजम नियम उपासा ।
नखत भरत हिय बिमल अकासा ॥
ध्रुव बिस्वास अवधि राका-सी ।
स्वामिसुरति सुर-बीथि बिकासी ॥
रामप्रेम-बिधु अचल अदोखा ।
सहित समाज सोह नित चोखा ॥
भरत रहनि-समुझनि करतूती ।
भगति बिरति गुन बिमल बिभूती ॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं ।
सेस-गनेस-गिरा गम नाहीं ॥

नित पूजत प्रभुपाँवरी प्रीति न हृदय समाति ।
माँगि माँगि आयसु करत राजकाज बहु भाँति ॥

पुलक गात हिय सिय-रघुबीरू ।
जीह नाम जप लोचन नीरू ॥
लखन राम सिय कानन बसहीं ।
भरत भवन बसि तप तनु कसहीं ॥

भरतजीकी इस वैराग्य-त्यागमयी मञ्जुल मूर्तिका ध्यान और उनके आचरणोंका अनुकरणकर कृतार्थ हो जाइये !

इस प्रसंगसे हमलोगोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि छोटे भाईको बड़े भाईके साथ कैसा त्याग और विनयपूर्ण बर्ताव करना चाहिये ।

× × ×

रावण-वधके अनन्तर श्रीराम सीता, लक्ष्मण, मित्रों और सेवकोंसहित पुष्पक-विमानपर सवार होकर अयोध्या जा रहे हैं। उधर भरतजी महाराज अवधिके दिन गिन रहे हैं। एक दिन शेष रहा है, भरतजीकी चिन्ताका पार नहीं है। वे सोचते हैं—

कारन कवन नाथ नहिं आए।
जानि कुटिल प्रभु मोहिं बिसराए॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम-पदारबिन्द अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहिं प्रभु चीन्हा।
ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
जौं करनी समुझहिं प्रभु मोरी।
नहिं निस्तार कल्पसत कोरी॥
जन-अवगुन प्रभु मान न काऊ।
दीनबन्धु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जिय भरोस दृढ़ सोई।
मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
बीते अवधि रहहिं जो प्राना।
अधम कवन जग मोहि समाना॥

'श्रीरघुनाथजी क्यों नहीं आये ? क्या मुझे कुटिल समझकर भुला दिया ? अहो ! धन्य है बड़भागी भैया लक्ष्मणको, जिसका रामके चरणकमलोंमें इतना अनुराग है । मुझे तो कपटी और कुटिल जानकर ही नाथने वनमें साथ नहीं रक्खा था (असलमें कैकेयी-पुत्रके लिये यह ठीक ही है) । मेरी करनी सोचनेसे तो सौ करोड़ कल्पोंतक भी उद्धार नहीं हो सकता । परन्तु भगवान्‌का स्वभाव बड़ा ही कोमल है, वे अपने जनोंका अवगुण नहीं देखते । मेरे मनमें भगवान्‌के इस विरदका दृढ़ भरोसा है, सगुन भी शुभ हो रहे हैं, इससे निश्चय होता है भगवान् कृपापूर्वक अवश्य दर्शन देंगे । परन्तु यदि अवधि बीतनेपर भी ये अधम प्राण रहेंगे तो मेरे समान जगत्‌में दूसरा नीच और कौन होगा ?'

भरतकी इस व्याकुल दशाको जानकर उधर '*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*' (गीता ४ । ११) की प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् भी व्याकुल हो गये, उन्होंने सन्देश देनेके लिये हनूमान्‌जीको भेज दिया । रामविरहके अथाह समुद्रमें भरतजीका मन डूब रहा था, इतनेहीमें ब्राह्मणका स्वरूप धारणकर श्रीहनूमान्‌जी मानो उद्धार करनेके लिये जहाजरूप होकर आ गये । हनूमान्‌जी रामगतप्राण, रामपरायण भरतजीकी स्थिति देखकर मुग्ध हो गये, उनके रोमाञ्च हो आया और आँखोंसे आँसू बहने लगे । भरतकी कैसी स्थिति थी ?

बैठे देखि कुसासन जटामुकुट कृस गात ।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जल जात ॥

हनूमान्‌ने भरतकी आँसू बहाती हुई नाम-जप-परायण ध्यानस्थ मूर्तिको देखकर परम सुखसे भरकर कानोंमें अमृत बरसानेवाली वाणीसे कहा—

जासु बिरह सोचहु दिनराती ।
रटहु निरन्तर गुनगन पाँती ॥
रघुकुल-तिलक सुजन-सुख-दाता ।
आयहु कुसल देव-मुनि-त्राता ॥
रिपु रन जीति सुजस सुर गावत ।
सीता-अनुज-सहित प्रभु आवत ॥

यह वचन सुनते ही भरतजीके सारे दुःख मिट गये । प्यासेको अमृत मिल गया । प्राणहीनमें प्राण आ गये । भरतजी हर्षोन्मत्त होकर पूछने लगे—

को तुम तात ! कहाँतें आये ।
मोहि परमप्रिय बचन सुनाये ॥

हनूमान्‌जीने कहा कि—

मारुत-सुत मैं कपि हनुमाना ।
नाम मोर सुनु कृपानिधाना ॥
दीनबन्धु रघुपति कर किंकर । × × ×

भरतजीने उठकर हनूमान्‌जीको हृदयसे लगा लिया—

सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर ।

प्रेम हृदयमें नहीं समाता है, नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बह रही है, शरीर पुलकित हो रहा है । भरतजी कहते हैं—

कपि तव दरस सकल दुख बीते ।
मिले आज मोहि राम पिरीते ॥
बार बार बूझी कुसलाता ।
तोकहँ देउँ काह सुनु भ्राता ॥
यहि सन्देश सरिस जगमाहीं ।
करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं ॥
नाहिंन तात ! उरिन मैं तोहीं ।
अब प्रभुचरित सुनावहु मोहीं ॥

हनूमान्‌जीने चरण-वन्दनकर सारी कथा संक्षेपमें सुना दी । तदनन्तर भरतजीने फिर पूछा—

कहु कपि कबहुँ कृपालु गोसाईं ।
सुमिरहिं मोहि निज दासकि नाईं ॥
निज दास ज्यों रघुबंसभूषन कबहुँ मोहि सुमिरन करयो,
सुनि भरत बचन बिनीत अति कपि पुलकि तनु चरननि परयो ॥
रघुबीर निज मुख जासु गुन-गन कहत अग-जग-नाथ जो,
काहे न होइ बिनीत परम पुनीत, सद्‌गुन-सिंधु सो ॥

श्रीहनूमान्‌जीने गद्‌गद होकर कहा—

राम प्रानप्रिय नाथ तुम्ह सत्य बचन मम तात
पुनि पुनि मिलत भरतसन हरष न हृदय समात ॥

भरत और हनूमान् बार-बार गले लगकर मिलते हैं । हर्षका पार नहीं है । हनूमान्‌जी वापस लौट गये, इधर सारे रनिवा स

और नगरमें खबर भेजी गयी। सभी ओर हर्ष छा गया। सारा नगर सजाया गया!

भगवान्‌का विमान अयोध्यामें पहुँचा। भरतजी, शत्रुघ्नजी अगवानीके लिये सब मन्त्रियों और पुरवासियोंसहित सामने गये। विमान जमीनपर उतरा, भरतजी विमानमें जाकर श्रीरामके चरणोंमें लोट गये और आनन्दाश्रुओंसे उनके चरणोंको धोने लगे। श्रीरघुनाथजीने उन्हें उठाकर छातीसे लगा लिया। तदनन्तर भरतजी भाई लक्ष्मणजीसे मिले और उन्होंने माता सीताको प्रणाम किया। श्रीरामने भरतको गोदमें बैठाकर विमानको भरतके आश्रमकी ओर जानेकी आज्ञा दी। तदनन्तर नगरमें आकर सबसे मिले। श्रीरामने भरतकी जटा अपने हाथोंसे सुलझाई। फिर तीनों भाइयोंको नहलाया। इसके बाद स्वयं जटा सुलझाकर स्नान किया।

तदनन्तर भगवान् राजसिंहासनपर बैठे। तीनों भाई सेवामें लगे। समय-समयपर भरतजी अनेक सुन्दर प्रश्न करके रामसे विविध उपदेश प्राप्त करने लगे। और अन्तमें श्रीरामके साथ ही परमधाम पधारे।

श्रीभरतजीका चरित्र विलक्षण और परम आदर्श है। उनका रामप्रेम अतुलनीय है, इसीसे कहा गया है कि—

भरत सरिस को राम सनेही।
जग जपु राम, राम जपु जेही॥

वास्तवमें भरतजीका भ्रातृ-प्रेम जगत्‌के इतिहासमें एक ही है। इनका राज्य-त्याग, संयम, व्रत, नियम आदि सभी सराहनीय

और अनुकरणीय है। इनके चरित्रसे स्वार्थत्याग, विनय, सहिष्णुता, गम्भीरता, सरलता, क्षमा, विराग और प्रधानतः भ्रातृभक्तिकी बड़ी ही अनुपम शिक्षा लेनी चाहिये।

श्रीलक्ष्मणका भ्रातृ-प्रेम

अहह धन्य लछिमन बड़ भागी।
राम-पदारबिन्द-अनुरागी ॥

राम-मेघके चातक लक्ष्मणजीकी महिमा अपार है। लक्ष्मणजीका अवतार श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनकी सेवा करनेके लिये ही हुआ था। इसीसे आज रामकी श्याम मूर्तिके साथ लक्ष्मणकी गौर मूर्ति भी स्थापित होती है और रामके साथ लक्ष्मणका नाम लिया जाता है। राम-भरत या राम-शत्रुघ्न कोई नहीं कहता, परन्तु राम-लक्ष्मण सभी कहते हैं। श्रीलक्ष्मणजी धीर, वीर, तेजस्वी, ब्रह्मचर्यव्रती, इन्द्रियविजयी, पराक्रमी, सरल, सुन्दर, तितिक्षा-सम्पन्न, निर्भय, निष्कपट, त्यागी, बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, तपस्वी, सेवाधर्मी, नीतिके जाननेवाले, सत्यव्रती और रामगतप्राण थे। उनका सबसे मुख्य धर्म श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनका अनुसरण करना था। वे श्रीरामसेवामें अपने आपको भूल जाते थे। भरतजीका विनय और मधुरतायुक्त गम्भीर प्रेम जैसे अनोखा है, वैसे ही श्रीलक्ष्मणजीका वीरतायुक्त सेवामूलक अनन्य प्रेम भी परम आदर्श है।

लड़कपनमें साथ खेलने-खानेके उपरान्त पन्दरह वर्षकी उम्रमें ही लक्ष्मणजी अपने बड़े भाई श्रीरामजीके साथ विश्वामित्र-

के यज्ञरक्षार्थ चले जाते हैं। वहाँ सब प्रकारसे भाईकी सेवामें नियुक्त रहते हैं। इनकी सेवाके दिग्दर्शनमें जनकपुरका वह दृश्य देखना चाहिये, जहाँ रातके समय विश्वामित्रजीके साथ श्रीराम-लक्ष्मण महाराजा जनकके अतिथिरूपमें डेरेपर ठहरे हैं। गोसाईंजी उनके बर्तावका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

सभय सप्रेम बिनीत अति सकुचसहित दोउ भाइ।
गुरु-पद-पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ॥

निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा।
सबही सन्ध्या बन्दन कीन्हा॥
कहत कथा इतिहास पुरानी।
रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥
मुनिवर सयन कीन्ह तब जाई।
लगे चरन चाँपन दोउ भाई॥
जिन्हके चरनसरोरुह लागी।
करत बिबिध जप जोग बिरागी॥
ते दोउ बन्धु प्रेम जनु जीते।
गुरु-पद-पदुम पलोटत प्रीते॥
बार बार मुनि आग्या दीन्हीं।
रघुबर जाइ सयन तब कीन्हीं॥
चाँपत चरन लषन उर लाये।
सभय सप्रेम परम सचुपाये॥

पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता।
पौढ़े धरि उर पदजलजाता॥
उठे लषन निसि बिगत सुनि अरुन-सिखा धुनि कान।
गुरुतें पहिलेहि जगतपति जागे राम सुजान॥

अहा, क्या ही सुन्दर आदर्श दृश्य है! श्रीराम-लक्ष्मण नगर देखने गये थे, वहाँ नगरवासी नर-नारी और समवयस्क तथा छोटे बालकोंके प्रेममें रम गये, परन्तु अबेर होते देख गुरु विश्वामित्रजीका डर लगा। अतएव बालकोंको समझा-बुझाकर वह मिथिला-मोहिनी जुगल-जोड़ी डेरेपर लौट आयी। आकर भय, प्रेम, विनय और संकोचके साथ गुरु-चरणोंमें प्रणामकर दोनों भाई चुपचाप खड़े रहे, जब गुरुजीने आज्ञा दी तब बैठे, फिर गुरुकी आज्ञासे ठीक समयपर सन्ध्या-वन्दन किया। तदनन्तर कथा-पुराण होते-होते दो पहर रात बीत गयी। तब मुनि विश्वामित्रजी सोये। अब दोनों भाई उनके चरण दबाने लगे। मुनि बार-बार रोकते और सोनेके लिये कहते हैं पर चरण दबानेके लाभको वे छोड़ना नहीं चाहते, बहुत कहने-सुननेपर श्रीराम भी लेट गये, अब लक्ष्मणजी उनके चरणोंको हृदयपर रखकर भय-प्रेम-सहित चुपचाप दबाने लगे। ऐसे चुपचाप प्रेमसे दबाने लगे कि महाराजको नींद आ जाय। श्रीरामने बार-बार कहा, तब लक्ष्मणजी श्रीरामके चरणकमलोंका हृदयमें ध्यान करते हुए सोये। प्रातःकाल मुर्गेकी ध्वनि सुनते ही सबसे पहले लक्ष्मणजी उठे, उनके बाद श्रीरामजी और तदनन्तर गुरु विश्वामित्रजी। इस

और नगरमें खबर भेजी गयी। सभी ओर हर्ष छा गया। सारा नगर सजाया गया!

भगवान्‌का विमान अयोध्यामें पहुँचा। भरतजी, शत्रुघ्नजी अगवानीके लिये सब मन्त्रियों और पुरवासियोंसहित सामने गये। विमान जमीनपर उतरा, भरतजी विमानमें जाकर श्रीरामके चरणोंमें लोट गये और आनन्दाश्रुओंसे उनके चरणोंको धोने लगे। श्रीरघुनाथजीने उन्हें उठाकर छातीसे लगा लिया। तदनन्तर भरतजी भाई लक्ष्मणजीसे मिले और उन्होंने माता सीताको प्रणाम किया। श्रीरामने भरतको गोदमें बैठाकर विमानको भरतके आश्रमकी ओर जानेकी आज्ञा दी। तदनन्तर नगरमें आकर सबसे मिले। श्रीरामने भरतकी जटा अपने हाथोंसे सुलझाई। फिर तीनों भाइयोंको नहलाया। इसके बाद स्वयं जटा सुलझाकर स्नान किया।

तदनन्तर भगवान् राजसिंहासनपर बैठे। तीनों भाई सेवामें लगे। समय-समयपर भरतजी अनेक सुन्दर प्रश्न करके रामसे विविध उपदेश प्राप्त करने लगे। और अन्तमें श्रीरामके साथ ही परमधाम पधारे।

श्रीभरतजीका चरित्र विलक्षण और परम आदर्श है। उनका रामप्रेम अतुलनीय है, इसीसे कहा गया है कि—

भरत सरिस को राम सनेही।
जग जपु राम, राम जपु जेही॥

वास्तवमें भरतजीका भ्रातृ-प्रेम जगत्‌के इतिहासमें एक ही है। इनका राज्य-त्याग, संयम, व्रत, नियम आदि सभी सराहनीय

और अनुकरणीय है। इनके चरित्रसे स्वार्थत्याग, विनय, सहिष्णुता, गम्भीरता, सरलता, क्षमा, विराग और प्रधानतः भ्रातृभक्तिकी बड़ी ही अनुपम शिक्षा लेनी चाहिये।

श्रीलक्ष्मणका भ्रातृ-प्रेम

अहह धन्य लछिमन बड़ भागी।
राम-पदारबिन्द-अनुरागी ॥

राम-मेघके चातक लक्ष्मणजीकी महिमा अपार है। लक्ष्मणजीका अवतार श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनकी सेवा करनेके लिये ही हुआ था। इसीसे आज रामकी श्याम मूर्तिके साथ लक्ष्मणकी गौर मूर्ति भी स्थापित होती है और रामके साथ लक्ष्मणका नाम लिया जाता है। राम-भरत या राम-शत्रुघ्न कोई नहीं कहता, परन्तु राम-लक्ष्मण सभी कहते हैं। श्रीलक्ष्मणजी धीर, वीर, तेजस्वी, ब्रह्मचर्यव्रती, इन्द्रियविजयी, पराक्रमी, सरल, सुन्दर, तितिक्षा-सम्पन्न, निर्भय, निष्कपट, त्यागी, बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, तपस्वी, सेवाधर्मी, नीतिके जाननेवाले, सत्यव्रती और रामगतप्राण थे। उनका सबसे मुख्य धर्म श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनका अनुसरण करना था। वे श्रीरामसेवामें अपने आपको भूल जाते थे। भरतजीका विनय और मधुरतायुक्त गम्भीर प्रेम जैसे अनोखा है, वैसे ही श्रीलक्ष्मणजीका वीरतायुक्त सेवामूलक अनन्य प्रेम भी परम आदर्श है।

लड़कपनमें साथ खेलने-खानेके उपरान्त पन्दरह वर्षकी उम्रमें ही लक्ष्मणजी अपने बड़े भाई श्रीरामजीके साथ विश्वामित्र-

के यज्ञरक्षार्थ चले जाते हैं। वहाँ सब प्रकारसे भाईकी सेवामें नियुक्त रहते हैं। इनकी सेवाके दिग्दर्शनमें जनकपुरका वह दृश्य देखना चाहिये, जहाँ रातके समय विश्वामित्रजीके साथ श्रीराम-लक्ष्मण महाराजा जनकके अतिथिरूपमें डेरेपर ठहरे हैं। गोसाईंजी उनके बर्तावका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

सभय सप्रेम बिनीत अति सकुचसहित दोउ भाइ।
गुरु-पद-पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ॥

निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा।
सबही सन्ध्या बन्दन कीन्हा॥
कहत कथा इतिहास पुरानी।
रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥
मुनिवर सयन कीन्ह तब जाई।
लगे चरन चाँपन दोउ भाई॥
जिन्हके चरनसरोरुह लागी।
करत बिबिध जप जोग बिरागी॥
ते दोउ बन्धु प्रेम जनु जीते।
गुरु-पद-पदुम पलोटत प्रीते॥
बार बार मुनि आग्या दीन्हीं।
रघुबर जाइ सयन तब कीन्हीं॥
चाँपत चरन लषन उर लाये।
सभय सप्रेम परम सचुपाये॥

पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता।
पौढ़े धरि उर पदजलजाता॥
उठे लषन निसि बिगत सुनि अरुन-सिखा धुनि कान।
गुरुतें पहिलेहि जगतपति जागे राम सुजान॥

अहा, क्या ही सुन्दर आदर्श दृश्य है! श्रीराम-लक्ष्मण नगर देखने गये थे, वहाँ नगरवासी नर-नारी और समवयस्क तथा छोटे बालकोंके प्रेममें रम गये, परन्तु अबेर होते देख गुरु विश्वामित्रजीका डर लगा। अतएव बालकोंको समझा-बुझाकर वह मिथिला-मोहिनी जुगल-जोड़ी डेरेपर लौट आयी। आकर भय, प्रेम, विनय और संकोचके साथ गुरु-चरणोंमें प्रणामकर दोनों भाई चुपचाप खड़े रहे, जब गुरुजीने आज्ञा दी तब बैठे, फिर गुरुकी आज्ञासे ठीक समयपर सन्ध्या-वन्दन किया। तदनन्तर कथा-पुराण होते-होते दो पहर रात बीत गयी। तब मुनि विश्वामित्रजी सोये। अब दोनों भाई उनके चरण दबाने लगे। मुनि बार-बार रोकते और सोनेके लिये कहते हैं पर चरण दबानेके लाभको वे छोड़ना नहीं चाहते, बहुत कहने-सुननेपर श्रीराम भी लेट गये, अब लक्ष्मणजी उनके चरणोंको हृदयपर रखकर भय-प्रेम-सहित चुपचाप दबाने लगे। ऐसे चुपचाप प्रेमसे दबाने लगे कि महाराजको नींद आ जाय। श्रीरामने बार-बार कहा, तब लक्ष्मणजी श्रीरामके चरणकमलोंका हृदयमें ध्यान करते हुए सोये। प्रातःकाल मुर्गेकी ध्वनि सुनते ही सबसे पहले लक्ष्मणजी उठे, उनके बाद श्रीरामजी और तदनन्तर गुरु विश्वामित्रजी। इस

आदर्श रात्रिचर्यासे ही दिनचर्याका भी अनुमान कर लीजिये। आज ऐसा दृश्य सपनेकी-सी बात हो रही है। इससे अनुमान हो सकता है कि श्रीलक्ष्मणजी रामकी किस प्रकार सेवा करते थे।

× × ×

श्रीलक्ष्मणजीकी भ्रातृ-भक्ति अतुलनीय है। वे सब कुछ सह सकते थे परन्तु श्रीरामका अपमान, तिरस्कार और दुःख उनके लिये असह्य था। अपने लिये—अपने सुखोंके लिये उन्होंने कभी किसीपर क्रोध नहीं किया। अपने जीवनको तो सर्वथा त्यागमय और रामकी कठिन सेवामें ही लगाये रक्खा, परन्तु राम-का तनिक-सा तिरस्कार भी उनको तलमला देता और वे भयानक कालनागकी भाँति फुङ्कार मार उठते। फिर उनके सामने कोई भी क्यों न हो वे किसीकी भी परवा नहीं करते।

जनकपुरके स्वयंवरमें जब शिव-धनुषको तोड़नेमें कोई भी समर्थ नहीं हुआ, तब जनकजीको बड़ा क्लेश हुआ, उन्होंने दुःख-भरे शब्दोंमें कहा—

अब जनि कोउ माखइ भट मानी।
बीर-बिहीन मही मैं जानी॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू।
लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥
जो जनतेउँ बिनु भट महि भाई।
तौ पन करि करतेउँ न हँसाई॥

जनकजीकी इस वाणीको सुनकर सीताकी ओर देखकर लोग दुखी हो गये, परन्तु लक्ष्मणजीके मनकी कुछ दूसरी ही अवस्था है। जब जनकके मुँहसे 'अब कोई वीरताका अभिमान न करे' ये शब्द निकले, तभी वे अकुला उठे, उन्होंने सोचा कि श्रीरामकी उपस्थितिमें जनक यह क्या कह रहे हैं, परन्तु रामकी आज्ञा नहीं थी, चुप रहे, लेकिन जब जनकजीने बार-बार धरणीको वीरविहीन बतलाया तब लक्ष्मणजीकी भौंहें टेढ़ी और आँखें लाल हो गयीं, उनके होठ काँपने लगे, आखिर उनसे नहीं रहा गया, उन्होंने श्रीरामके चरणोंमें सिर नवाकर कहा—

रघुबंसिन्हमहँ जहँ कोउ होई।
तेहि समाज अस कहइ न कोई॥
कही जनक जस अनुचित बानी।
बिद्यमान रघुकुलमनि जानी॥

जहाँ रघुवंशमणि श्रीरामजी बैठे हों वहाँ ऐसी अनुचित वाणी कौन कह सकता है? लक्ष्मण कहते हैं कि 'हे श्रीराम! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं स्वभावसे ही इस ब्रह्माण्डको गेंदकी तरह हाथमें उठा लूँ और—

काँचे घट जिमि डारौं फोरी।
सकउँ मेरु मूलक इव तोरी॥

फिर आपके प्रतापसे इस बेचारे पुराने धनुषकी तो बात ही कौन-सी है, आज्ञा मिले तो दिखाऊँ खेल'—

कमल-नाल जिमि चाप चढ़ाऊँ।
जोजन सत प्रमान लेइ धाऊँ॥
तोरउँ छत्रकदण्ड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करउँ प्रभु-पद-सपथ पुनि न धरउँ धनु हाथ॥

लक्ष्मणजीके इन वचनोंसे पृथिवी काँप उठी, सारा राज-समाज डर गया, सीताजीका सकुचाया हुआ हृदय-कमल खिल उठा, जनकजी सकुचा गये, विश्वामित्रसहित सब मुनिगणों और श्रीरघुवीरजीको हर्षके मारे बारम्बार रोमाञ्च होने लगा। लक्ष्मण-जीने अपनी सेवा बजा दी, रामका महत्त्व लोगोंपर प्रकट हो गया। वीररसकी जीती-जागती मूर्ति देखकर लोग विमुग्ध हो गये। परन्तु इस वीररसके महान् चित्रपटको श्रीरामने एक ही सैनसे पलट दिया—

सयनहिं रघुपति लषन निवारे।
प्रेमसमेत निकट बैठारे॥

तदनन्तर शिवजीका धनुष गुरुकी आज्ञासे श्रीरामने भङ्ग कर दिया। परशुरामजी आये और कुपित होकर धनुष तोड़ने-वालेका नाम-धाम पूछने लगे। श्रीरामने प्रकारान्तरसे धनुष तोड़ना स्वीकार किया।

नाथ संभु-धनु भंजनिहारा।
होइहहिं कोउ एक दास तुम्हारा॥

यहाँ परशुराम-लक्ष्मणका संवाद बड़ा ही रोचक है। लक्ष्मणने व्यंग-भावसे श्रीरामकी महिमा सुनायी है और श्रीरामने

भाई लक्ष्मणकी उक्तियोंका प्रकारान्तरसे समर्थन किया। मानो दोनों भाई अन्दरसे मिले हुए ऊपरसे दो प्रकारका बर्ताव करते हुए एक दूसरेका पक्ष समर्थन कर रहे हैं। आखिर श्रीरामके मृदु गूढ़ वचन सुनकर परशुरामजीकी आँखें खुलीं, तब उन्होंने कहा—

राम रमापति कर धनु लेहू।
खैंचहु चाप मिटहि संदेहू॥

धनुष हाथमें लेते ही आप-से-आप चढ़ गया—

छुवत चाप आपहि चढ़ि गयऊ।
परसुराम मन बिसमय भयऊ॥

भगवान्‌का प्रभाव समझ परशुरामजी गद्गद हो गये और उन्होंने श्रीराम-लक्ष्मणको प्रणामकर अपना रास्ता लिया।

चारों भाइयोंका विवाह हुआ। सब अयोध्या लौटे। राज-परिवार सुखके समाजसे पूर्ण हो गया। माताएँ आनन्दमें भर उठीं।

× × ×

तदनन्तर श्रीभरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये। परन्तु लक्ष्मणजी नहीं गये। उन्हें ननिहाल-ससुरारकी, नगर-अरण्यकी कुछ भी परवा नहीं, रामजी साथ चाहिये। रामके बिना लक्ष्मण नहीं रह सकते। छाया कायासे अलग हो तो लक्ष्मण रामसे अलग हों, लक्ष्मणके प्रेमका ऐसा प्रबल आकर्षण है कि श्रीराम उनके बिना अकेले न तो सो सकते हैं और न उत्तम भोजन ही कर सकते हैं—

न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः ॥
मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति न हि तं विना ।
(वा० रा० १ । १८ । ३०-३१)

रामराज्याभिषेककी तैयारी हुई, लक्ष्मणजीके आनन्दका पार नहीं है । श्रीरामको राजसिंहासनपर देखनेके लिये लक्ष्मण कितने अधिक लालायित थे, इसका पता राजसिंहासनके बदले वनवासकी आज्ञा होनेपर लक्ष्मणजीके भभके हुए क्रोधानलको देखनेसे ही लग जाता है । जो बात मनके जितनी अधिक प्रतिकूल होती है, उसपर उतना ही अधिक क्रोध आता है ।

जब श्रीराम वनवास जाना स्वीकार करके कैकेयी और दशरथको प्रणाम-प्रदक्षिणाकर माता कौसल्यासे आज्ञा लेनेके लिये महलसे बाहर निकले, तब लक्ष्मणजी भी क्रोधमें भरकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे उनके पीछे-पीछे गये । वे हर हालतमें श्रीरामके साथ हैं ।

दोनों भाई माता कौसल्याके पास पहुँचे । श्रीरामने सारी कथा सुनायी । माताके दुःखका पार नहीं रहा, माताने रामको रोकनेकी चेष्टा की, परन्तु श्रीराम न माने । श्रीरामका यह कार्य लक्ष्मणजीको नहीं रुचा, वे श्रीरामके पूर्ण अनुयायी थे परन्तु श्रीरामको अपना हक छोड़ते देखकर उनसे नहीं रहा गया । लक्ष्मणजीके चरित्रमें यह एक विशेषता है, वे जो बात अपने मनमें जँचती है, सो बड़े ज़ोरदार शब्दोंमें रामके सामने रखते हैं, उनकी उक्तियोंका खण्डन करते हैं, कभी विह्वल होकर विलाप नहीं करते । पुरुषत्व तो उनमें टपका पड़ता है, परन्तु जब श्रीरामका अन्तिम निर्णय जान

लेते हैं, तब अपना सारा पक्ष सर्वथा छोड़कर रामका सर्वतोभावसे अनुगमन करने लगते हैं । दशरथजी और कैकेयीके इस आचरणसे दुखी हुई माता कौसल्याको विलाप करते देख भ्रातृ-प्रेमी लक्ष्मणजी मातासे कहने लगे—

अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः ।
सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे ॥
दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति ।
प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय ॥
हरामि वीर्याद्दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः ।
देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु ॥
(वा० रा० २ । २१ । १६-१८)

'हे देवि ! मैं सत्य, धनुष, दानपुण्य और इष्टकी शपथ करके आपसे कहता हूँ कि मैं यथार्थ ही सब प्रकारसे अपने बड़े भाई श्रीरामका अनुयायी हूँ । यदि श्रीराम जलती हुई अग्निमें या घोर वनमें प्रवेश करें तो मुझे पहले ही उनमें प्रवेश हुआ समझो ! हे माता ! जैसे सूर्य उदय होकर सब प्रकारके अन्धकारको हर लेता है उसी प्रकार मैं अपने पराक्रमसे आपके दुःखको दूर करूँगा । आप और श्रीरामचन्द्र मेरा पराक्रम देखें ।' इन वचनोंमें भ्रातृ-प्रेम कितना छलकता है !

इसके अनन्तर वे श्रीरामसे हर तरहकी वीरोचित बातें कहने लगे—'हे आर्य ! आप तुरन्त राज्यपर अधिकार कर लें । मैं धनुष-बाण हाथमें लिये आपकी सेवा और रक्षाके लिये सर्वदा

तैयार हूँ। मैं जब कालरूप होकर आपकी सहायता करूँगा तब किसकी शक्ति है जो कुछ भी विघ्न कर सके? अयोध्याभरमें एक कैकेयीको छोड़कर दूसरा कोई भी आपके विरुद्ध नहीं है, परन्तु यदि सारी अयोध्या भी हो जाय तो मैं अयोध्याभरको अपने तीक्ष्ण वाणोंसे मनुष्यहीन कर डालूँगा। भरतके मामा या उनके कोई भी हितैषी मित्र पक्ष लेंगे तो उनका भी वध कर डालूँगा। कैकेयीमें आसक्त पिताजी यदि कैकेयीके उभाड़नेसे हमारे शत्रु होंगे तो उनको कैद कर लूँगा या मार डालूँगा। इसमें मुझे पाप नहीं लगेगा। अन्याय करनेवालोंको शिक्षा देना धर्म है।'

त्वया चैव मया चैव कृत्वा वैरमनुत्तमम्।
काऽस्य शक्तिः श्रियं दातुं भरतायारिशासन॥

(वा० रा० २।२१।१९)

'हे शत्रुसूदन! आपसे और मुझसे दुस्तर वैर करके किसकी शक्ति है जो भरतको राज्य दे सके?'

श्रीरामने लक्ष्मणको सान्त्वना देते हुए कहा—

तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम्।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम्॥
धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मसंश्रितमप्येतत्पितुर्वचनमुत्तमम्॥
सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम्।
पितुर्हि वचनाद्वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः॥

तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम् ।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम् ॥

(वा० रा० २ । २१ । ३९, ४१, ४३, ४४)

'लक्ष्मण ! मैं जानता हूँ, तुम्हारा मुझमें बड़ा प्रेम है और यह भी जानता हूँ कि तुममें अपराजेय पराक्रम, तेज और सत्त्व है, परन्तु भाई ! इस लोकमें धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है, धर्ममें ही सत्य भरा है । पिताके वचन धर्म और सत्यसे युक्त हैं । हमें उनका पालन करना चाहिये । हे वीर ! सत्य और धर्मको श्रेष्ठ समझनेवाला मैं कैकेयीके द्वारा प्राप्त हुई पिताकी आज्ञाका उल्लंघन करनेमें समर्थ नहीं हूँ । तुम भी इस क्षात्रधर्मवाली उग्र वृत्तिको छोड़ दो और इस तीक्ष्णताका त्यागकर विशुद्ध धर्मका आश्रय ले मेरे विचारका अनुसरण करो ।'

हे भाई ! तुम क्रोध और दुःखको छोड़कर धैर्य धारण कर, अपमानको भूलकर हर्षित हो जाओ । पिताजी सत्यवादी और सत्यप्रतिज्ञ हैं, वे सत्यच्युतिके भयसे परलोकसे डर रहे हैं, मेरे द्वारा सत्यका पालन होनेसे वे निर्भय हो जायँगे । मेरा अभिषेक न रोका गया तो पिताजीका सत्य जायगा, जिससे उनको बड़ा दुःख होगा और उनका दुखी होना मेरेलिये भी बड़े ही दुःखकी बात होगी । हे भाई ! मेरे वनवासमें दैव ही प्रधान कारण है, नहीं तो जो कैकेयी माता मुझपर इतना अधिक स्नेह रखती थी वह मेरेलिये वनवासका वरदान क्यों माँगती ? उसकी बुद्धि दैवने ही बिगाड़ी है । आजतक कौसल्या और कैकेयी आदि

सभी माताओंने मेरे साथ एक-सा बर्ताव किया है। कैकेयी मुझे कभी कटु वचन नहीं कह सकती, यदि वह प्रबल दैवके वशमें न होती। अतएव तुम मेरी बात मानकर दुःखरहित हो अभिषेक-की तैयारीको जल्दी-से-जल्दी हटवा दो।

श्रीरामके वचन सुनकर कुछ देर तो लक्ष्मणने सिर नीचा करके कुछ सोचा परन्तु पुरुषार्थकी मूर्ति लक्ष्मणको रामकी यह दलील नहीं जँची, उनकी भौंहें चढ़ गयीं, सिरमें बल पड़ गया, वे क्रोधसे भरे साँपकी तरह साँस लेने लगे और पृथिवीपर हाथ पटककर बोले—'आप ये भ्रमकी-सी बातें कैसे कह रहे हैं, आप तो महावीर हैं—

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते।
वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते॥
दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति॥
द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च।
दैवमानुषयोरद्य व्यक्ताव्यक्तिर्भविष्यति॥

(वा० रा० २। २३। १७—१९)

'दैव-दैव तो वही पुकारा करते हैं जो पौरुषहीन और कायर होते हैं। जिन शूरवीरोंके पराक्रमकी जगत्‌में प्रसिद्धि है, वे कभी ऐसा नहीं करते। जो पुरुष अपने पुरुषार्थसे दैवको दबा सकते हैं उनके कार्य दैववश असफल होनेपर भी उन्हें दुःख नहीं होता। हे रघुनन्दन! आज दैव और पुरुषार्थके पराक्रमको

लोग देखेंगे, इनमें कौन बलवान् है, इस बातका आज पता लग जायगा ।'

अतएव हे आर्य—

ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां
तवासुहृत्प्राणयशःसुहृज्जनैः ।
यथा तवेयं वसुधा वशा भवे-
त्तथैव मां शाधि तवास्मि किङ्करः ॥
(वा० रा० २ । २३ । ४१)

'मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं आपके किस शत्रुको आज प्राण, यश और मित्रोंसे अलग करूँ (मार डालूँ)। प्रभो! मैं आपका किंकर हूँ, ऐसी आज्ञा दें जिससे इस सारी पृथिवीपर आपका अधिकार हो जाय!' इतना कहकर लक्ष्मणजी राम-प्रेममें रोने लगे। भगवान् श्रीरामने अपने हाथोंसे उनके आँसू पोंछकर उन्हें बार-बार सान्त्वना देते हुए कहा कि—'भाई! तुम निश्चय समझो कि माता-पिताकी आज्ञा मानना ही पुत्रका उत्तमोत्तम धर्म है, इसीलिये मैं पिताकी आज्ञा माननेको तैयार हुआ हूँ। फिर इस राज्यमें रक्खा ही क्या है, यह तो स्वप्नकी दृश्यावलि-के सदृश है—

यदिदं दृश्यते सर्वं राज्यं देहादिकं च यत् ।
यदि सत्यं भवेत्तत्र आयासः सफलश्च ते ॥
भोगा मेघवितानस्थविद्युल्लेखेव चञ्चलाः ।
आयुरप्यग्निसन्तप्तलोहस्थजलबिन्दुवत् ॥

क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारबन्धनम् ।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्क्रोधं परित्यज ॥
तस्माच्छान्तिं भजस्वाद्य शत्रुरेवं भवेन्न ते ।
देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्ध्यादिभ्यो विलक्षणः ॥
आत्मा शुद्धः स्वयंज्योतिरविकारी निराकृतिः ।
यावद्देहेन्द्रियप्राणैर्भिन्नत्वं नात्मनो विदुः ॥
तावत्संसारदुःखौघैः पीड्यन्ते मृत्युसंयुतैः ।
तस्मात्त्वं सर्वदा भिन्नमात्मानं हृदि भावय ॥
(अ० रा० २ । ४ । १६, २०, ३६, ३८-४०)

'यदि यह सब राज्य और शरीरादि दृश्य पदार्थ सत्य होते तो उसमें तुम्हारा परिश्रम कुछ सफल भी हो सकता, परन्तु ये इन्द्रियोंके भोग तो बादलोंके समूहमें बिजलीकी चमकके समान चञ्चल हैं और यह आयु अग्निसे तपे हुए लोहेपर जलकी बूँदके समान क्षणविनाशी है। भाई ! यह क्रोध ही मानसिक सन्तापकी जड़ है, क्रोधसे ही संसारका बन्धन होता है, क्रोध धर्मका नाश कर डालता है, अतएव इस क्रोधको त्यागकर शान्तिका सेवन करो, फिर संसारमें तुम्हारा कोई शत्रु नहीं है। आत्मा तो देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदि सबसे विलक्षण ही है। वह आत्मा शुद्ध, स्वयंप्रकाश, निर्विकार और निराकार है। जबतक यह पुरुष आत्माको देह, इन्द्रिय, प्राण आदिसे अलग नहीं जानता, तबतक उसे संसारके जन्म-मृत्यु-जनित दुःख-

समूहसे पीड़ित होना पड़ता है, अतएव हे लक्ष्मण ! तुम अपने हृदयमें आत्माको सदा-सर्वदा इनसे पृथक् (इनका द्रष्टा) समझो !'

× × ×

श्रीराम वन जानेको तैयार हो गये, सीताजी भी साथ जाती हैं, अब लक्ष्मणजीका क्रोध तो शान्त है परन्तु वे श्रीरामके साथ जानेके लिये व्याकुल हैं, दौड़कर श्रीरामके चरणोंमें लोट जाते हैं और रोते हुए कहते हैं—'हे रघुनन्दन ! आपने मुझसे कहा था कि तू मेरे विचारका अनुसरण कर फिर आज आप मुझे छोड़कर क्यों जा रहे हैं—

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे ।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना ॥

(वा० रा० २ । ३१ । ५)

'हे भाई ! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, मोक्ष या संसारका कोई ऐश्वर्य नहीं चाहता ।' कहाँ तो लक्ष्मणकी वह तेजोमयी विकराल मूर्ति और कहाँ यह माताके सामने बच्चेकी-सी फरियाद ! यही तो लक्ष्मणजीके भ्रातृ-प्रेमकी विशेषता है । श्रीरामजी भाई लक्ष्मणके इस व्यवहारसे मुग्ध हो गये और उन्हें छातीसे लगाकर बोले—

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः ।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विधेयश्च सखा च मे ॥

(वा० रा० २ । ३१ । १०)

'भाई ! तुम मेरे स्नेही हो, धर्मपरायण, धीर, सदा सन्मार्गमें स्थित हो, मुझे प्राणोंके समान प्रिय हो, मेरे वशवर्ती हो, मेरे आज्ञाकारी हो और मेरे मित्र हो !' इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, परन्तु तुम्हें साथ ले चलनेसे यहाँ दुखी पिता और शोकपीड़िता माताओंको कौन सान्त्वना देगा ?

मातु-पिता-गुरु-स्वामि-सिख सिर धरि करहिं सुभाय ।
लहेउ लाभ तिन्ह जनमकर नतरु जनम जग जाय ॥
अस जिय जानि सुनहु सिख भाई ।
करहु मातु-पितु पद सेवकाई ॥
रहहु करहु सबकर परितोषू ।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू ॥

बड़ी ही शुभ शिक्षा है, परन्तु चातक तो मेघकी स्वातिबूँद-को छोड़कर गंगाकी ओर भी नहीं ताकना चाहता; एकनिष्ठ लक्ष्मण एक बार तो सहम गये, प्रेम-वश कुछ बोल न सके, फिर अकुलाकर चरणोंमें गिर पड़े और आँसुओंसे चरण धोते हुए बोले—

दीन्ह मोहिं सिख नीक गोसाईं ।
लागि अगम मोरी कदराई ॥
नरबर धीर धरम-धुर-धारी ।
निगम नीतिकहँ ते अधिकारी ॥
मैं सिसु प्रभु-सनेह प्रतिपाला ।
मंदर मेरु कि लेइ मराला ॥

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।
कहउँ सुभाउ नाथ पतियाहू॥
जहँलगि जगत सनेह सगाई।
प्रीति प्रतीति निगम निज गाई॥
मोरे सबहि एक तुम्ह स्वामी।
दीनबन्धु उर अन्तरजामी॥
धरमनीति उपदेसिय ताही।
कीरति, भूति, सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरनरत होई।
कृपासिंधु परिहरिय कि सोई॥

भगवान्‌ने देखा कि अब लक्ष्मण नहीं रहेंगे, तब उन्हें आज्ञा दी, अच्छा—

माँगहु बिदा मातुसन जाई।
आवहु बेगि चलहु बन भाई॥

लक्ष्मण डरते-से माता सुमित्राजीके पास गये कि कहीं माता रोक न दें। परन्तु वह भी लक्ष्मणकी ही मा थीं, उन्होंने बड़े प्रेमसे कहा—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥
(वा० रा० २।४०।९)

'जाओ बेटा! सुखसे वनको जाओ, श्रीरामको दशरथ, सीताको माता और वनको अयोध्या समझना।'

अवध तहाँ जहँ रामनिवासू ।
तहाँ दिवस जहँ भानुप्रकासू ॥
अस जिय जानि संग बन जाहू ।
लेहु तात जग जीवन लाहू ॥
तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं ।
दूसर हेतु तात कछु नाहीं ॥
पुत्रवती जुवती जग सोई ।
रघुपति-भगत जासु सुत होई ॥
नतरु बाँझ भलि बादि बियानी ।
राम-बिमुख सुततें बड़ि हानी ॥

लक्ष्मणका मनचाहा हो गया, वे दौड़कर श्रीरामके पास पहुँच गये और सीताके साथ दोनों भाई अयोध्यावासियोंको रुलाकर वनकी ओर चल दिये ।

× × ×

एक दिनकी बात है, वनमें चलते-चलते सन्ध्या हो गयी । कभी पैदल चलनेका किसीको अभ्यास नहीं था, तीनों जने थके हुए थे, वनमें चारों ओर काले साँप घूम रहे थे । लक्ष्मणने जगह साफकर एक पेड़के नीचे कोमल पत्ते बिछा दिये । श्रीराम-सीता उसपर बैठ गये । लक्ष्मणजीने भोजनका सामान जुटाया । श्रीराम इस कष्टको देखकर स्नेहवश लक्ष्मणसे बार-बार कहने लगे कि 'भाई ! तुम अयोध्या लौट जाओ, वहाँ जाकर माताओंको सान्त्वना दो । यहाँके कष्ट मुझको और सीताको ही भोगने दो ।' इसके उत्तरमें लक्ष्मणने बड़े ही मार्मिक शब्द कहे—

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव ।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ ॥
न हि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परन्तप !
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं चापि त्वया विना ॥
(वा० रा० २ । ५३ । ३१-३२)

'हे रघुनन्दन ! सीताजी और मैं आपसे अलग रहकर उसी तरह घड़ीभर भी नहीं जी सकते, जैसे जलसे निकालनेपर मछलियाँ नहीं जी सकतीं । हे शत्रुनाशन ! आपको छोड़कर मैं माता, पिता, भाई शत्रुघ्न और स्वर्गको भी नहीं देखना चाहता ।' धन्य भ्रातृ-प्रेम !

जिस समय निषादराज गुहके यहाँ श्रीराम-सीता रातके समय लक्ष्मणजीके द्वारा तैयार की हुई घास-पत्तोंकी शय्यापर सोते हैं उस समय श्रीलक्ष्मण कुछ दूरपर खड़े पहरा दे रहे हैं, गुहक आकर कहता है 'आपको जागनेका अभ्यास नहीं है आप सो जाइये । मैंने पहरेका सारा प्रबन्ध कर दिया है ।' इस बातको सुनकर श्रीलक्ष्मणजी कहने लगे—

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया ।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितानि सुखानि वा ॥
(वा० रा० २ । ८६ । १०)

'दशरथनन्दन श्रीराम सीताके साथ जमीनपर सो रहे हैं फिर मुझे कैसे तो नींद आ सकती है और कैसे जीवन तथा सुख अच्छा लग सकता है ?'

वनमें श्रीलक्ष्मणजी हर तरहसे श्रीराम-सीताकी सेवा करते हैं। चित्रकूटमें काठ और पत्ते इकट्ठे करके लक्ष्मणने ही कुदारसे मिट्टी खोदकर सुन्दर कुटिया बनायी थी। फलमूल लाना, हवनकी सामग्री इकट्ठी करनी, सीताके गहने-कपड़ोंकी बाँसकी पेटी तथा शस्त्रास्त्रोंको उठाकर चलना, जाड़ेकी रातमें दूरसे खेतोंमेंसे होकर पानी भरकर लाना। रास्ता पहचाननेके लिये पेड़ों-पत्थरोंपर पुराने कपड़े लपेट रखना, झाड़ू देना, चौका देना, बैठनेके लिये वेदी बनाना, जलानेके लिये काठ-ईंधन इकट्ठा करना और रातभर जागकर पहरा देते रहना, ये सारे काम लक्ष्मणजीके जिम्मे हैं और बड़े हर्षके साथ वे सब कार्य सुचारुरूपसे करते हैं।

सेवहिं लखन करम मन बानी।
जाइ न सील सनेह बखानी॥
सेवहिं लषन सीय-रघुबीरहिं।
जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं॥

× × ×

आज्ञाकारितामें तो लक्ष्मणजी बड़े ही आदर्श हैं। कितनी भी विपरीत आज्ञा क्यों न हो, वे बिना 'किन्तु-परन्तु' किये चुपचाप उसे सिर चढ़ा लेते हैं, आज्ञा-पालनके कुछ दृष्टान्त देखिये—

१—वनवासके समय आपने आज्ञा मानकर लड़नेकी सारी इच्छा एकदम छोड़ दी।

२–भरतके चित्रकूट आनेके समय बड़ा गुस्सा आया, परन्तु श्रीरामकी आज्ञा होते ही तथ्य समझकर शान्त हो गये।

३–खर-दूषणसे युद्ध करनेके समय श्रीरामने आज्ञा दी कि 'मैं इनके साथ युद्ध करता हूँ, तुम सीताजीको साथ ले जाकर पर्वत-गुफामें जा बैठो।' लक्ष्मण-सरीखे तेजस्वी वीरके लिये लड़ाईके मैदानसे हटनेकी यह आज्ञा बहुत ही कड़ी थी, परन्तु उन्होंने चुपचाप इसे स्वीकार कर लिया।

४–श्रीसीताजी अशोकवाटिकासे पालकीमें आ रही थीं। श्रीरामने पैदल लानेकी विभीषणको आज्ञा दी इससे लक्ष्मणजीको एक बार दुःख हुआ, परन्तु कुछ भी नहीं बोले।

५–श्रीरामके द्वारा तिरस्कार पायी हुई सीताने जब चिता जलानेके लिये लक्ष्मणजीको आज्ञा दी, तब श्रीरामका इशारा पाकर मर्म-वेदनाके साथ इन्होंने चिता तैयार कर दी!

६–सीता-वनवासके समय श्रीरामकी आज्ञासे पत्थरका-सा कलेजा बनाकर अन्तरके दुःखसे दग्ध होते हुए भी सीताजीको वनमें छोड़ आये।

इनके जीवनमें राम-आज्ञा-भंगके सिर्फ दो प्रसंग आते हैं, जिनमें प्रथम तो, सीताको अकेले पर्णकुटीमें छोड़कर मायामृगको पकड़नेके लिये गये हुए श्रीरामके पास जाना और दूसरा मुनि दुर्वासाके शापसे राज्यको बचानेके लिये अपने त्यागे जानेका महान् कष्ट स्वीकार करते हुए भी दुर्वासाको श्रीरामके पास जाने देना। परन्तु ये दोनों ही अवसर अपवादस्वरूप हैं।

सीताजीके कटु वचन कहनेपर लक्ष्मणने उन्हें समझाया कि 'माता ! ये शब्द मायावी मारीचके हैं। श्रीरामको त्रिभुवनमें कोई नहीं जीत सकता, आप धैर्य रक्खें। मैं रामकी आज्ञाका उल्लंघन-कर आपको अकेली छोड़कर नहीं जा सकता।' इतनेपर भी जब उन्होंने तमककर कहा कि 'मैं समझती हूँ, तू भरतका दूत है, तेरे मनमें काम-विकार है, तू मुझे प्राप्त करना चाहता है, मैं आगमें जल मरूँगी परन्तु तेरे और भरतके हाथ नहीं आ सकती।' इन वचन-बाणोंसे पवित्र-हृदय जितेन्द्रिय लक्ष्मणका हृदय बिंध गया, उन्होंने कहा, 'हे माता वैदेही ! आप मेरेलिये देवस्वरूप हैं, इससे मैं आपको कुछ भी कह नहीं सकता, परन्तु मैं आपके शब्दोंको सहन करनेमें असमर्थ हूँ। हे वनदेवताओ ! आप सब साक्षी हैं, मैं अपने बड़े भाई रामकी आज्ञामें रहता हूँ, तिसपर भी माता सीता स्त्री-स्वभावसे मुझपर सन्देह करती हैं। मैं समझता हूँ कि कोई भारी संकट आनेवाला है। माता ! आपका कल्याण हो, वनदेवता आपकी रक्षा करें। मैं जाता हूँ।' इस अवस्थामें लक्ष्मणका वहाँसे जाना दोषावह नहीं माना जा सकता।

दूसरे प्रसंगमें तो लक्ष्मणने कुटुम्बसहित भाईको और भाईके साम्राज्यको शापसे बचानेके लिये ही आज्ञाका त्याग किया था।

कुछ लोग कहते हैं कि श्रीलक्ष्मणजी रामसे ही प्रेम करते थे, भरतके प्रति तो उनका विद्वेष बना ही रहा, परन्तु यह बात ठीक नहीं। रामकी अवज्ञा करनेवालेको अवश्य ही वे क्षमा नहीं कर सकते थे, परन्तु जब उन्हें मालूम हो गया कि भरत दोषी

नहीं हैं तब लक्ष्मणके अन्तःकरणमें अपनी कृतिपर बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ और वे भरतपर पूर्ववत् श्रद्धा तथा स्नेह करने लगे। एक समय जाड़ेकी ऋतुमें वनके अन्दर शीतकी भयानकता-को देखकर लक्ष्मणजी नन्दिग्रामनिवासी भरतकी चिन्ता करते हुए कहते हैं—

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र काले दुःखसमन्वितः।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे॥
त्यक्त्वा राज्यञ्च मानञ्च भोगांश्च विविधान् बहून्।
तपस्वी नियताहारः शेते शीते महीतले॥
सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः।
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम्॥
अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्दितः।
कथं त्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते॥
पद्मपत्रेक्षणः श्यामः श्रीमान्निरुदरो महान्।
धर्मज्ञः सत्यवादी च ह्रीनिषेधो जितेन्द्रियः॥
प्रियाभिभाषी मधुरो दीर्घबाहुररिन्दमः।
सन्त्यज्य विविधान्सौख्यानार्यं सर्वात्मनाश्रितः॥
जितः स्वर्गस्तव भ्रात्रा भरतेन महात्मना।
वनस्थमपि तापस्ये यस्त्वामनुविधीयते॥
(वा० रा० ३। १६। २७–३३)

'हे पुरुषश्रेष्ठ! ऐसे अत्यन्त शीतकालमें धर्मात्मा भरत आपके प्रेमके कारण कष्ट सहकर अयोध्यामें तप कर रहे होंगे।

अहो ! नियमित आहार करनेवाले तपस्वी भरत राज्य, सम्मान और विविध प्रकारके भोग-विलासोंको त्यागकर इस शीतकालमें ठण्ढी ज़मीनपर सोते होंगे। अहो ! भरत भी इसी समय उठकर अपने साथियोंको लेकर सरयूमें नहाने जाते होंगे। अत्यन्त सुखमें पले हुए सुकुमार शरीरवाले शीतसे पीड़ित हुए भरत इतने तड़के सरयूके अत्यन्त शीतल जलमें कैसे स्नान करते होंगे ? कमलनयन श्यामसुन्दर भाई भरत सदा नीरोग, धर्मज्ञ, सत्यवादी, लज्जाशील, जितेन्द्रिय, प्रिय और मधुर-भाषी और लम्बी भुजाओंवाले शत्रुनाशन महात्मा हैं। अहा ! भरतने सब प्रकारके सुखोंका त्यागकर सब प्रकारसे आपका ही आश्रय ले लिया है। हे आर्य ! महात्मा भाई भरतने स्वर्गको भी जीत लिया, क्योंकि आप वनमें हैं इसलिये वे भी आपकी ही भाँति तपस्वी-धर्मका पालनकर आपका अनुसरण कर रहे हैं।'

इन वचनोंको पढ़नेपर भी क्या यह कहा जा सकता है कि लक्ष्मणका भरतके प्रति प्रेम नहीं था ? इनमें तो उनका प्रेम टपका पड़ता है।

× × ×

लक्ष्मणजी अपनी बुद्धिका भी कुछ घमण्ड न रखकर श्रीराम-सेवामें किस प्रकार अर्पित-प्राण थे, इस बातका पता तब लगता है कि जब पञ्चवटीमें भगवान् श्रीराम अच्छा-सा स्थान खोजकर पर्णकुटी तैयार करनेके लिये लक्ष्मणको आज्ञा देते हैं। तब सेवा-

परायण लक्ष्मण हाथ जोड़कर भगवान्‌से कहते हैं कि हे प्रभो ! मैं अपनी स्वतन्त्रतासे कुछ नहीं कर सकता ।

परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते ।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद ॥
(वा० रा० ३ । १५ । ७)

'हे काकुत्स्थ ! चाहे सैकड़ों वर्ष बीत जायँ पर मैं तो आपके ही अधीन हूँ । आप ही पसन्द करके उत्तम स्थान बतावें ।'

इसका यह मतलब नहीं है कि लक्ष्मणजी विवेकहीन थे । वे बड़े बुद्धिमान् और विद्वान् थे एवं समय-समयपर रामकी सेवाके लिये बुद्धिका प्रयोग भी करते थे किन्तु जहाँ रामके किये कामपर ही पूरा सन्तोष होता वहाँ वे कुछ भी नहीं बोलते थे । उनमें तेज और क्रोधके भाव थे, पर वे थे सब रामके लिये ही । लक्ष्मण विलाप करना, विह्वल होना, डिगना और रामविरोधीपर क्षमा करना नहीं जानते थे । इसीसे अन्य दृष्टिसे देखनेवाले लोग उनके चरित्रमें दोषोंकी कल्पना किया करते हैं परन्तु लक्ष्मण सर्वथा निर्दोष, रामप्रिय, रामरहस्यके ज्ञाता और आदर्श भ्राता हैं । इनके ज्ञानका नमूना देखना हो तो गुहके साथ इन्होंने एकान्तमें जो बातें की थीं, उन्हें पढ़ देखिये । जब निषादने विषादवश कैकेयी-को बुरा-भला कहा और श्रीसीतारामजीके भूमि-शयनको देखकर दुःख प्रकट किया तब लक्ष्मणजी नम्रताके साथ मधुर वाणीद्वारा उससे कहने लगे—

काहु न कोउ सुख-दुखकर दाता ।
निजकृत करम भोग सब भ्राता ॥
जोग बियोग भोग भल मंदा ।
हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ॥
जनम मरन जहँलगि जगजालू ।
संपति बिपति करम अरु कालू ॥
धरनि धाम धन पुर परिवारू ।
सरग नरक जहँलगि ब्यवहारू ॥
देखिय सुनिय गुनिय मनमाहीं ।
मोह-मूल परमारथ नाहीं ॥
सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ ।
जागे हानि न लाभ कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ ॥
अस बिचारि नहिं कीजिय रोषू ।
काहुहि बादि न देइय दोषू ॥
मोहनिसा सब सोवनिहारा ।
देखिय सपन अनेक प्रकारा ॥
एहि जग-जामिनि जागहिं जोगी ।
परमारथी प्रपंचबियोगी ॥
जानिय तबहिं जीव जग जागा ।
जब सब बिषय-बिलास बिरागा ॥
होइ बिबेक मोहभ्रम भागा ।
तब रघुनाथ-चरन अनुरागा ॥

सखा परम परमारथ एहू ।
मन-क्रम-बचन राम-पद-नेहू ॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा ।
अबिगत, अलख, अनादि अनूपा ॥
सकल बिकाररहित गतभेदा ।
कहि नित नेति निरूपहिं बेदा ॥
भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल ।
करत चरित धरि मनुजतन सुनत मिटहिं जग-जाल ॥
सखा समुझि अस परिहरि मोहू ।
सिय-रघुबीर-चरन रत होहू ॥

श्रीलक्ष्मणजीकी महिमा कौन गा सकता है ? इनके समान परमार्थ और प्रेमका, बुद्धिमत्ता और सरलताका, परामर्श और आज्ञाकारिताका, तेज और मैत्रीका विलक्षण समन्वय इन्हींके चरित्रमें है । सारा संसार श्रीरामका गुणगान करता है, श्रीराम भरतका गुण गाते हैं और भरत लक्ष्मणके भाग्यकी सराहना करते हैं । फिर हम किस गिनतीमें हैं जो लक्ष्मणजीके गुणोंका संक्षेपमें बखान कर सकें !

श्रीशत्रुघ्नजीका भ्रातृ-प्रेम

रिपुसूदन पद-कमल नमामी । सूर सुसील भरत-अनुगामी ॥

रामदासानुदास श्रीशत्रुघ्नजी भगवान् श्रीराम और भरत-लक्ष्मणके परम प्रिय और आज्ञाकारी बन्धु थे। शत्रुघ्नजी मौनकर्मी, प्रेमी, सदाचारी, मितभाषी, सत्यवादी, विषय-विरागी, सरल,

तेजपूर्ण, गुरुजनोंके अनुगामी, वीर और शत्रु-तापन थे। श्रीरामायणमें इनके सम्बन्धमें विशेष विवरण नहीं मिलता, परन्तु जो कुछ मिलता है, उसीसे इनकी महत्ताका अनुमान हो जाता है। जैसे श्रीलक्ष्मणजी भगवान् श्रीरामके चिर-संगी थे, इसी प्रकार लक्ष्मणानुज शत्रुघ्नजी श्रीभरतजीकी सेवामें नियुक्त रहते थे। भरतजीके साथ ही आप उनके ननिहाल गये थे और पिताकी मृत्युपर साथ ही लौटे थे। अयोध्या पहुँचनेपर कैकेयीजीके द्वारा पितामरण और राम-सीता-लक्ष्मणके वनवासका समाचार सुनकर इनको भी बड़ा भारी दुःख हुआ। भाई लक्ष्मणके शौर्यसे आप परिचित थे, अतएव इन्होंने शोकपूर्ण हृदयसे बड़े आश्चर्यके साथ भरतजीसे कहा—

गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः।
स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम्॥
बलवान्वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ।
किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम्॥

(वा० रा० २। ७८। २-३)

'श्रीराम, जो दुःखके समय सब भूतप्राणियोंके आश्रय हैं, फिर हमलोगोंके आश्रय हैं इसमें तो कहना ही क्या' ऐसे महाबलवान् राम एक स्त्री (कैकेयी) की प्रेरणासे ही वनमें चले गये। अहो! श्रीलक्ष्मग तो बलवान् और महापराक्रमी थे, उन्होंने पिताको समझाकर रामको वन जानेसे क्यों नहीं रोका?' इस समय शत्रुघ्नजी दुःख और कोपसे भरे थे, इतनेमें रामविरहसे दुखी एक द्वारपालने आकर कहा कि 'हे राजकुमार! जिसके षड्यन्त्रसे

श्रीरामको वन जाना पड़ा और महाराजकी मृत्यु हुई, वह क्रूरा पापिनी कुब्जा वस्त्राभूषणोंसे सजी हुई खड़ी है, आप उचित समझें तो उसे कुछ शिक्षा दें।' कुब्जा भरतजीसे इनाम लेने आ रही थी और उसे दरवाजेपर देखते ही द्वारपालने अन्दर आकर शत्रुघ्नसे ऐसा कह दिया था। शत्रुघ्नको बड़ा गुस्सा आया, उन्होंने कुब्जाकी चोटी पकड़कर उसे घसीटा, उसने जोरसे चीख मारी। यह दशा देखकर कुब्जाकी अन्य सखियाँ तो दौड़कर श्रीकौसल्या-जीके पास चली गयीं, उन्होंने कहा कि अब मधुरभाषिणी, दयामयी कौसल्याके शरण गये बिना शत्रुघ्न हमलोगोंको भी नहीं छोड़ेंगे। कैकेयी छुड़ाने आयीं तो उनको भी फटकार दिया। आखिर भरतने आकर शत्रुघ्नसे कहा—'भाई! स्त्री-जाति अवध्य है, नहीं तो मैं ही कैकेयीको मार डालता—

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः।
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम्॥
(वा० रा० २।७८।२३)

'भाई, यह कुब्जा भी यदि तुम्हारे हाथसे मारी जायगी तो धर्मात्मा श्रीराम इस बातको जानकर निश्चय ही तुमसे और मुझसे बोलना छोड़ देंगे।' भरतजीके वचन सुनकर शत्रुघ्नजीने उसको छोड़ दिया। यहाँ यह पता लगता है कि प्रथम तो रामकी धर्मनीतिमें स्त्री-जातिका कितना आदर था, स्त्री अवध्य समझी जाती थी। दूसरे, शोकाकुल भरतने इस अवस्थामें भी भाई शत्रुघ्नको भ्रातृ-प्रेमके कारण रामकी राजनीति बतलाकर अधर्मसे

रोका और तीसरे, रोषमें भरे हुए शत्रुघ्नने भी तुरन्त भाईकी बात मान ली। इससे हमलोगोंको यथायोग्य शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। जो लोग यह आक्षेप किया करते हैं कि प्राचीन कालमें भारतीय पुरुष स्त्रियोंको बहुत तुच्छ-बुद्धिसे देखते थे, उनको इस प्रसंगसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

× × ×

इसके अनन्तर शत्रुघ्नजी भी भरतजीके साथ श्रीरामको लौटाने वनमें जाते हैं और वहाँ भरतजीकी आज्ञासे रामकी कुटिया ढूँढ़ते हैं। जब भरतजी दूरसे श्रीरामको देखकर दौड़ते हैं, तब श्रीरामदर्शनोत्सुक शत्रुघ्न भी पीछे-पीछे दौड़े जाते हैं और—

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन्।
तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत्॥
(वा० रा० २। ९९। ४०)

'वे भी रोते हुए श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करते हैं, श्रीराम भी दोनों भाइयोंको छातीसे लगाकर रोने लगते हैं।' इसी प्रकार शत्रुघ्न अपने बड़े भाई लक्ष्मणजीसे भी मिलते हैं—

भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई।

इसके बाद श्रीराम-भरतके संवादमें लक्ष्मण-शत्रुघ्नका बीचमें बोलनेका कोई काम नहीं था। दोनोंके अपने-अपने नेता बड़े भाई मौजूद थे। शत्रुघ्नने तो भरतको अपना जीवन सौंप ही दिया था। इसीसे भरत कह रहे थे कि—

सानुज पठइय मोहिं बन, कीजिय सबहिं सनाथ ।

शत्रुघ्नजीकी सम्मति न होती या शत्रुघ्नके भ्रातृ-प्रेमपर भरोसा न होता तो भरतजी ऐसा क्योंकर कह सकते ?

पादुका लेकर लौटनेके समय श्रीरामसे दोनों भाई पुनः गले लगकर मिलते हैं । रामकी प्रदक्षिणा करते हैं । लक्ष्मणजीकी भाँति शत्रुघ्नजी भी कुछ तेज थे, कैकेयीके प्रति उनके मनमें रोष था, श्रीराम इस बातको समझते थे, इससे वनसे विदा होते समय श्रीरामने शत्रुघ्नजीको वात्सल्यताके कारण शिक्षा देते हुए कहा—

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति ॥
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन ।

(वा० रा० २ । ११२ । २७-२८)

'हे भाई ! तुम्हें मेरी और सीताकी शपथ है तुम माता कैकेयीके प्रति कुछ भी क्रोध न करके उनकी रक्षा करते रहना ।' इतना कहनेपर उनकी आँखें प्रेमाश्रुओंसे भर गयीं । इससे पता लगता है कि श्रीराम-शत्रुघ्नमें परस्पर कितना प्रेम था !

इसके बाद शत्रुघ्नजी भरतजीके साथ अयोध्या लौटकर उनकी आज्ञानुसार राज और परिवारकी सेवामें रहते हैं तथा श्रीरामके अयोध्या लौट आनेपर प्रेमपूर्वक उनसे मिलते हैं—

पुनि प्रभु हरषि सत्रुहन भेंटे हृदय लगाइ ।

तदनन्तर उनकी सेवामें लग जाते हैं । श्रीरामका राज्याभिषेक होता है और रामराज्यमें सबका जीवन सुख और धर्ममय बीतता है ।

एक समय ऋषियोंने आकर श्रीरामसे कहा कि लवणासुर नामक राक्षस बड़ा उपद्रव कर रहा है, वह प्राणिमात्रको—खास करके तपस्वियोंको पकड़कर खा जाता है। हम सब बड़े ही दुखी हैं। श्रीरामने उनसे कहा कि 'आप भय न करें मैं उस राक्षसको मारनेका प्रबन्ध करता हूँ।' तदनन्तर श्रीरामने अपने भाइयोंसे पूछा कि 'लवणासुरको मारने कौन जाता है?' भरतजी-ने कहा 'महाराज! आपकी आज्ञा होगी तो मैं चला जाऊँगा।' इसपर लक्ष्मणानुज शत्रुघ्नजीने नम्रतासे कहा—'हे रघुनाथजी! आप जब वनमें थे तब महात्मा भरतजीने बड़े-बड़े दुःख सहकर राज्यका पालन किया था, ये नगरसे बाहर नन्दिग्राममें रहते थे, कुशपर सोते थे, फल-मूल खाते थे और जटा-वल्कल धारण करते थे। अब मैं दास जब सेवामें उपस्थित हूँ तब इन्हें न भेजकर मुझे ही भेजना चाहिये।' भगवान् श्रीरामने कहा—'अच्छी बात है, तुम्हारी इच्छा है तो ऐसा ही करो, मैं तुम्हारा मधुदैत्यके सुन्दर नगरका राज्याभिषेक करूँगा, तुम शूरवीर हो, नगर बसा सकते हो, मधु राक्षसके पुत्र लवणासुरको मारकर धर्म-बुद्धिसे वहाँका राज्य करो। मैंने जो कुछ कहा है, इसके बदलेमें कुछ भी न कहना, क्योंकि बड़ोंकी आज्ञा बालकोंको माननी चाहिये। गुरु वशिष्ठ तुम्हारा विधिवत् अभिषेक करेंगे अतएव मेरी आज्ञासे तुम उसे स्वीकार करो।' श्रीरामने अपने मुँहसे बड़ोंकी आज्ञाका महत्त्व इसीलिये बतलाया कि वे शत्रुघ्नकी त्याग-वृत्तिको जानते थे। श्रीराम ऐसा न कहते तो वे सहजमें राज्य स्वीकार न करते। इस बातका पता उनके उत्तरसे लगता है। शत्रुघ्नजी बोले—

'हे नरेश्वर ! बड़े भाईकी उपस्थितिमें छोटेका राज्याभिषेक होना मैं अधर्म समझता हूँ। इधर आपकी आज्ञाका पालन भी अवश्य करना चाहिये। आपके द्वारा ही मैंने यह धर्म सुना है। श्रीभरतजीके बीचमें मुझको कुछ भी नहीं बोलना चाहिये था—

> व्याहृतं दुर्वचो घोरं हन्तास्मि लवणं मृधे।
> तस्यैवं मे दुरुक्तस्य दुर्गतिः पुरुषर्षभ॥
> उत्तरं न हि वक्तव्यं ज्येष्ठेनाभिहिते पुनः।
> अधर्मसहितं चैव परलोकविवर्जितम्॥
>
> (वा० रा० ७। ६३। ५-६)

'हे पुरुषश्रेष्ठ ! 'दुष्ट लवणासुरको मैं रणमें मारूँगा' मैंने ये दुर्वचन कहे, इस अनधिकार बोलनेके कारण ही मेरी यह दुर्गति हुई। बड़ोंकी आज्ञा होनेपर तो प्रतिउत्तर भी नहीं करना चाहिये। ऐसा करना अधर्मयुक्त और परलोकका नाश करनेवाला है।' धन्य शत्रुघ्नजी, आप राज्य-प्राप्तिको 'दुर्गति' समझते हैं ! कैसा आदर्श त्याग है ! आप फिर कहते हैं कि 'हे काकुत्स्थ ! एक दण्ड तो मुझे मिल गया, अब आपके वचनोंपर कुछ बोलूँ तो कहीं दूसरा दण्ड न मिल जाय, अतएव मैं कुछ भी नहीं कहता। आपकी इच्छानुसार करनेको तैयार हूँ।'

भगवान्‌की आज्ञासे शत्रुघ्नका राज्याभिषेक हो गया, तदनन्तर उन्होंने लवणासुरपर चढ़ाई की, श्रीरामने चार हजार घोड़े, दो हजार रथ, एक सौ उत्तम हाथी, क्रय-विक्रय करनेवाले व्यापारी, खर्चके लिये एक लाख स्वर्णमुद्राएँ साथ दीं और भाँति-भाँतिके

सदुपदेश देकर शत्रुघ्नको विदा किया। इससे पता लगता है कि शत्रुघ्नजी श्रीरामको कितने प्यारे थे।

रास्तेमें ऋषियोंके आश्रमोंमें ठहरते हुए वे जाने लगे। वाल्मीकिजीके आश्रममें भी एक रात ठहरे, उसी रातको सीताजीके लव-कुशका जन्म हुआ था। अतः वह रात शत्रुघ्नजीके लिये बड़े आनन्दकी रही। शत्रुघ्नजीने मधुपुर जाकर लवणासुरका वध किया। देवता और ऋषियोंने आशीर्वाद दिये। तदनन्तर बारह सालतक मधुपुरीमें रहकर शत्रुघ्नजी वापस श्रीरामदर्शनार्थ लौटे। रास्तेमें फिर वाल्मीकिजीके आश्रममें ठहरे। अब लव-कुश बारह वर्षके हो गये थे। मुनिने उनको रामायणका गान सिखला दिया था। अतएव मुनिकी आज्ञासे लव-कुशने शत्रुघ्नजीको रामायणका मनोहर और करुणोत्पादक गान सुनाया। राम-महिमाका गान सुनकर शत्रुघ्न मुग्ध हो गये—

श्रुत्वा पुरुषशार्दूलो विसंज्ञो वाष्पलोचनः।
स मुहूर्तमिवासंज्ञो विनिःश्वस्य मुहुर्मुहुः॥

(वा० रा० ७। ७१। १७)

'उस गानको सुनकर पुरुषसिंह शत्रुघ्नकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली और वे बेहोश हो गये। उस बेहोशीमें दो घड़ीतक उनके जोर-जोरसे साँस चलते रहे।' धन्य है!

इसके अनन्तर उन्होंने अयोध्या पहुँचकर श्रीरामसहित सब भाइयोंके दर्शन किये। फिर कुछ दिनों बाद मधुपुरी लौट गये।

× × ×

परम धामके प्रयाणका समय आया, इन्द्रियविजयी शत्रुघ्नको पता लगते ही वह अपने पुत्रोंको राज्य सौंपकर दौड़े हुए श्रीराम-के पास आये और चरणोंमें प्रणामकर गद्‌गदकण्ठसे कहने लगे—

कृत्वाभिषेकं सुतयोर्द्वयो राघवनन्दन ।
तवानुगमने राजन् विद्धि मां कृतनिश्चयम् ॥
न चान्यदद्य वक्तव्यमतो वीर न शासनम् ।
विहन्यमानमिच्छामि मद्विधेन विशेषतः ॥
(वा० रा० ७ । १०८ । १४-१५)

'हे रघुनन्दन ! हे राजन् ! आप ऐसे समझें कि मैं अपने दोनों पुत्रोंको राज्य सौंपकर आपके साथ जानेका निश्चय करके आया हूँ । हे वीर ! आज आप कृपाकर न तो दूसरी बात कहें और न दूसरी आज्ञा ही दें, यह मैं इसलिये कह रहा हूँ कि खासतौरपर मुझ-जैसे पुरुषद्वारा आपकी आज्ञाका उल्लंघन होना नहीं चाहिये ।' मतलब यह कि आप कहीं साथ छोड़कर यहाँ रहनेकी आज्ञा न दे दें जिससे मुझे आपकी आज्ञा भंग करनी पड़े, जो मैंने आजतक नहीं की । धन्य है भ्रातृ-प्रेम !

भगवान्‌ने प्रार्थना स्वीकार की और सबने मिलकर श्रीरामके साथ रामधामको प्रयाण किया ।

उपसंहार

यह रामायणके चारों पूज्य पुरुषोंके आदर्श भ्रातृ-प्रेमका किञ्चित् दिग्दर्शन है । यह लेख विशेषरूपसे भ्रातृ-प्रेमपर ही लिखा गया है । अन्य वर्णन तो प्रसंगवश आ गये हैं, अतएव दूसरे उपदेश-

प्रद आदर्श विषयोंकी यथोचित चर्चा नहीं हो सकी है। इस लेखमें अधिकांश भाग वाल्मीकि, अध्यात्म और रामचरितमानसके आधारपर लिखा गया है।

वास्तवमें श्रीराम और उनके बन्धुओंके अगाध चरितकी थाह कौन पा सकता है? मैंने तो अपने विनोदके लिये यह चेष्टा की है, त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करें। श्रीराम और उनके प्रिय बन्धुओंके विमल और आदर्श चरितसे हमलोगोंको पूरा लाभ उठाना चाहिये। साक्षात् सच्चिदानन्दघन भगवान् होनेपर भी उन्होंने जीवनमें मनुष्योंकी भाँति लीलाएँ की हैं, जिनको आदर्श मानकर हम काममें ला सकते हैं।

कुछ लोग कहा करते हैं कि 'श्रीराम जब साक्षात् भगवान् थे, तब उन्हें अवतार धारण करनेकी क्या आवश्यकता थी, वे अपनी शक्तिसे यों ही सब कुछ कर सकते थे।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि भगवान् सभी कुछ कर सकते हैं, करते हैं, उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, परन्तु उन्होंने अवतार धारणकर ये आदर्श लीलाएँ इसीलिये की हैं कि हमलोग उनका गुणानुवाद गाकर और अनुकरणकर कृतार्थ हों। यदि वे अवतार धारणकर हमलोगोंकी शिक्षाके लिये ये लीलाएँ न करते तो हमलोगोंको आदर्श शिक्षा कहाँसे और कैसे मिलती? अब हमलोगोंका यही कर्तव्य है कि उनकी लीलाओंका श्रवण, मनन और अनुकरणकर उनके सच्चे भक्त बनें! लेख बहुत बड़ा हो गया है इसलिये यहीं समाप्त किया जाता है।

श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा

यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि अखिल विश्वके स्त्री-चरित्रोंमें श्रीरामप्रिया जगज्जननी जानकीजीका चरित्र सबसे उत्कृष्ट है। रामायणके समस्त स्त्री-चरित्रोंमें तो सीताजीका चरित्र सर्वोत्तम, सर्वथा आदर्श और पद-पदपर अनुकरण करनेयोग्य है ही। भारत-ललनाओंके लिये सीताजीका चरित्र सन्मार्गपर चलनेके लिये पूर्ण मार्गदर्शक है। सीताजीके असाधारण पातिव्रत्य, त्याग, शील, अभय, शान्ति, क्षमा, सहनशीलता, धर्मपरायणता, नम्रता, सेवा, संयम, सद्व्यवहार, साहस, शौर्य आदि गुण एक साथ जगत्की विरली ही महिलामें मिल सकते हैं। श्रीसीताके पवित्र जीवन और अप्रतिम पातिव्रत्यधर्मके सदृश उदाहरण रामायणमें तो क्या जगत्के किसी भी इतिहासमें मिलने कठिन हैं। आरम्भसे लेकर अन्ततक सीताके जीवनकी सभी बातें--केवल एक प्रसङ्गको छोड़कर--पवित्र और आदर्श हैं। ऐसी कोई बात नहीं है, जिससे हमारी माँ-बहिनोंको सत्शिक्षा न मिले। संसारमें अबतक

जितनी स्त्रियाँ हो चुकी हैं, श्रीसीताको पातिव्रत्य-धर्ममें सर्व-शिरोमणि कहा जा सकता है। किसी भी ऊँची-से-ऊँची स्त्रीके चरित्रकी सूक्ष्म आलोचना करनेसे ऐसी एक-न-एक बात मिल ही सकती है जो अनुकरणके योग्य न हो, परन्तु सीताका ऐसा कोई भी आचरण नहीं मिलता।

जिस एक प्रसङ्गको सीताके जीवनमें दोषयुक्त समझा जाता है वह है मायामृगको पकड़नेके लिये श्रीरामके चले जाने और मारीचके मरते समय 'हा सीते! हा लक्ष्मण!' की पुकार करनेपर सीताजीका घबड़ाकर लक्ष्मणके प्रति यह कहना कि 'मैं समझती हूँ कि तू मुझे पानेके लिये अपने बड़े भाईकी मृत्यु देखना चाहता है। मेरे लोभसे ही तू अपने भाईकी रक्षा करनेको नहीं जाता।' इस बर्तावके लिये सीताने आगे चलकर बहुत पश्चात्ताप किया। साधारण स्त्री-चरित्रमें सीताजीका यह बर्ताव कोई विशेष दोषयुक्त नहीं है। स्वामीको संकटमें पड़े हुए समझकर आतुरता और प्रेमकी बाहुल्यतासे सीताजी यहाँपर नीतिका उल्लंघन कर गयी थीं। श्रीराम-सीताका अवतार मर्यादाकी रक्षाके लिये था, इसीसे सीताजीकी यह एक गलती समझी गयी और इसीलिये सीताजीने पश्चात्ताप किया था।

नैहरमें प्रेम-व्यवहार

जनकपुरमें पिताके घर सीताजीका सबके साथ बड़े प्रेमका बर्ताव था। छोटे-बड़े सभी स्त्री-पुरुष सीताजीको हृदयसे चाहते थे। सीताजी आरम्भसे ही सलज्जा थीं। लज्जा ही स्त्रियोंका भूषण है।

वे प्रतिदिन माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया करती थीं, घरके नौकर-चाकरतक उनके व्यवहारसे परम प्रसन्न थे। सीताजीके प्रेमके बर्तावका कुछ दिग्दर्शन उस समयके वर्णनसे मिलता है जिस समय वे ससुरालके लिये विदा हो रही हैं—

पुनि धीरज धरि कुँअरि हँकारी। बार-बार भेंटहि महतारी॥
पहुँचावहिं फिरि मिलहिं बहोरी। बढ़ी परसपर प्रीति न थोरी॥
पुनि-पुनि मिलति सखिन्ह बिलगाई। बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई

प्रेम-बिबस नर-नारि सब, सखिन्हसहित रनिवास।
मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर, करुना-बिरह-निवास॥

सुक सारिका जानकी ज्याए। कनक पिंजरन्हि राखि पढ़ाए॥
ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही। सुनि धीरजु परिहरै न केही॥
भये बिकल खग-मृग एहि भाँती। मनुजदसा कैसे कहि जाती॥
बन्धुसमेत जनक तब आये। प्रेम उमँगि लोचन जल छाये॥
सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी॥
लीन्हि राय उर लाइ जानकी। मिटी महामरजाद ग्यानकी॥

जहाँ ज्ञानियोंके आचार्य जनकके ज्ञानकी मर्यादा मिट जाती है और पिंजरके पखेरू तथा पशु-पक्षी भी 'सीता! सीता!!' पुकारकर व्याकुल हो उठते हैं, वहाँ कितना प्रेम है, इस बातका अनुमान पाठक कर लें! सीताके इस चरित्रसे स्त्रियोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि स्त्रीको नैहरमें छोटे-बड़े सभीके साथ ऐसा बर्ताव करना उचित है जो सभीको प्रिय हो।

माता-पिताका आज्ञा-पालन

सीता अपने माता-पिताकी आज्ञा पालन करनेमें कभी नहीं चूकती थी। माता-पितासे उसे जो कुछ शिक्षा मिलती, उसपर वह बड़ा अमल करती थी। मिथिलासे विदा होते समय और चित्रकूटमें सीताजीको माता-पितासे जो कुछ शिक्षा मिली है, वह स्त्रीमात्रके लिये पालनीय है—

होयेहु संतत पियहि पियारी। चिर अहिबात असीस हमारी॥
सासु-ससुर-गुरु-सेवा करेहू। पति-रुख लखि आयसु अनुसरेहू॥

पतिसेवाके लिये प्रेमाग्रह

श्रीरामको राज्याभिषेकके बदले यकायक वनवास हो गया। सीताजीने यह समाचार सुनते ही तुरन्त अपना कर्त्तव्य निश्चय कर लिया। नैहर-ससुराल, गहने-कपड़े, राज्य-परिवार, महल-बाग, दास-दासी और भोग-राग आदिसे कुछ मतलब नहीं। छायाकी तरह पतिके साथ रहना ही पत्नीका एकमात्र कर्त्तव्य है। इस निश्चयपर आकर सीताने श्रीरामके साथ वनगमनके लिये जैसा कुछ व्यवहार किया है, वह परम उज्ज्वल और अनुकरणीय है। श्रीसीताजीने प्रेम-पूर्ण विनय और हठसे वनगमनके लिये पूरी कोशिश की। साम, दाम, नीति सभी वैध उपायोंका अवलम्बन किया और अन्तमें वह अपने प्रयत्नमें सफल हुई। उसका ध्येय था किसी भी उपायसे वनमें पतिके साथ रहकर पतिकी सेवा करना। इसीको वह परम धर्म समझती थी। इसीमें उसे परम आनन्दकी प्राप्ति होती थी। वह कहती है—

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद-समुदाई ॥
सास-ससुर-गुरु-सजन सहाई। सुत सुन्दर सुसील सुखदाई ॥
जहँलगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहिं तरनिहुँ ते ताते॥
तनु-धन-धाम-धरनि सुरराजू। पतिबिहीन सब सोक-समाजू ॥
भोग रोग सम, भूषन भारू। यम-यातना सरिस संसारू ॥

वनके नाना क्लेशों और कुटुम्बके साथ रहनेके नाना प्रलोभनोंको सुनकर भी सीता अपने निश्चयपर अडिग रहती है। वह पति-सेवाके सामने सब कुछ तुच्छ समझती है।

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद बिमल बिधु बदन निहारे॥

यहाँपर यह सिद्ध होता है कि सीताजीने एक बार प्राप्त हुई पति-आज्ञाको बदलाकर दूसरी बार अपने मनोऽनुकूल आज्ञा प्राप्त करनेके लिये प्रेमाग्रह किया। यहाँतक कि, जब भगवान् श्रीराम किसी प्रकार भी नहीं माने तो हृदय विदीर्ण हो जानेतकका सङ्केत कर दिया—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि, जो न हृदय बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग-दुख, सहिहहिं पाँवर प्रान ॥

अध्यात्मरामायणके अनुसार तो श्रीसीताने यहाँतक स्पष्ट कह दिया कि—

रामायणानि बहुशः श्रुतानि बहुभिर्द्विजैः ॥
सीतां विना वनं रामो गतः किं कुत्रचिद्वद।
अतस्त्वया गमिष्यामि सर्वथा त्वत्सहायिनी ॥
यदि गच्छसि मां त्यक्त्वा प्राणांस्त्यक्ष्यामि तेऽग्रतः।
(अ० रा० २।४।७७-७९)

'मैंने भी ब्राह्मणोंके द्वारा रामायणकी अनेक कथाएँ सुनी हैं। कहीं भी ऐसा कहा गया हो तो बतलाइये कि किसी भी रामावतारमें श्रीराम सीताको अयोध्यामें छोड़कर वन गये हैं। इस बार ही यह नयी बात क्यों होती है? मैं आपकी सेविका बनकर साथ चलूँगी। यदि किसी तरह भी आप मुझे नहीं ले चलेंगे तो मैं आपके सामने ही प्राण त्याग दूँगी।' पतिसेवाकी कामनासे सीताने इस प्रकार स्पष्टरूपसे अवतारविषयक अपनी बड़ाईके शब्द भी कह डाले।

वाल्मीकिरामायणके अनुसार सीताजीके अनेक रोने, गिड़गिड़ाने, विविध प्रार्थना करने और प्राणत्यागपूर्वक परलोकमें पुनः मिलन होनेका निश्चय बतलानेपर भी जब श्रीराम उसे साथ ले जानेको राजी नहीं हुए तब उनको बड़ा दुःख हुआ और वे प्रेमकोपमें आँखोंसे गर्म-गर्म आँसुओंकी धारा बहाती हुई नीतिके नाते इस प्रकार कुछ कठोर वचन भी कह गयीं, कि—'हे देव! आप-सरीखे आर्य पुरुष मुझ-जैसी अनुरक्त, भक्त, दीन और सुख-दुःखको समान समझनेवाली सहधर्मिणीको अकेली छोड़कर जानेका विचार करें यह आपको शोभा नहीं देता। मेरे पिताने आपको पराक्रमी और मेरी रक्षा करनेमें समर्थ समझकर ही अपना दामाद बनाया था।' इस कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि श्रीराम लड़कपनसे अत्यन्त श्रेष्ठ पराक्रमी समझे जाते थे। इस प्रसङ्गमें श्रीवाल्मीकिजी और गोस्वामी तुलसीदासजीने सीता-रामके संवादमें जो कुछ कहा है सो प्रत्येक स्त्री-पुरुषके ध्यानपूर्वक पढ़ने और मनन करनेयोग्य है।

सीताजीके प्रेमकी विजय हुई, श्रीरामने उन्हें साथ ले चलना स्वीकार किया । इस कथानकसे यह सिद्ध होता है कि पत्नीको पतिसेवाके लिये—अपने सुखके लिये नहीं—पतिकी आज्ञाको दुहरानेका अधिकार है । वह प्रेमसे पति-सुखके लिये ऐसा कर सकती है । सीताने तो यहाँतक कह दिया था 'यदि आप आज्ञा नहीं देंगे तब भी मैं तो साथ चलूँगी ।' सीताजीके इस प्रेमाग्रह-की आजतक कोई भी निन्दा नहीं करता, क्योंकि सीता केवल पतिप्रेम और पति-सेवाहीके लिये समस्त सुखोंको तिलाञ्जलि देकर वन जानेको तैयार हुई थी, किसी इन्द्रिय-सुखरूप स्वार्थ-साधनके लिये नहीं ! इससे यह नहीं समझना चाहिये कि सीताका व्यवहार अनुचित या पतिव्रत-धर्मसे विरुद्ध था । स्त्रीको धर्मके लिये ही ऐसा व्यवहार करनेका अधिकार है । इससे पुरुषोंको भी यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि सहधर्मिणी पतिव्रता पत्नीकी बिना इच्छा उसे त्यागकर अन्यत्र चले जाना अनुचित है । इसी प्रकार स्त्रीको भी पति-सेवा और पति-सुखके लिये उसके साथ ही रहना चाहिये । पतिके विरोध करनेपर भी कष्ट और आपत्तिके समय पति-सेवाके लिये स्त्रीको उसके साथ रहना उचित है । अवश्य ही अवस्था देखकर कार्य करना चाहिये । सभी स्थितियोंमें सबके लिये एक-सी व्यवस्था नहीं हो सकती । सीताने भी अपनी साधुताके कारण सभी समय इस अधिकारका उपयोग नहीं किया था ।

पति-सेवामें सुख

वनमें जाकर सीता पति-सेवामें सब कुछ भूलकर सब तरह सुखी रहती है ! उसे राजपाट, महल-बगीचे, धन-दौलत और दास-दासियोंकी कुछ भी स्मृति नहीं होती। रामको वनमें छोड़कर लौटा हुआ सुमन्त सीताके लिये विलाप करती हुई माता कौशल्यासे कहता है—'सीता निर्जन वनमें घरकी भाँति निर्भय होकर रहती है, वह श्रीराममें मन लगाकर उनका प्रेम प्राप्त कर रही है। वनवाससे सीताको कुछ भी दुःख नहीं हुआ, मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि (श्रीरामके साथ) सीता वनवासके सर्वथा योग्य है। चन्द्रानना सती सीता जैसे पहले यहाँ बगीचोंमें जाकर खेलती थी वैसे ही वहाँ निर्जन वनमें भी वह श्रीरामके साथ बालिकाके समान खेलती है। सीताका मन राममें है, उसका जीवन श्रीरामके अधीन है, अतएव श्रीरामके साथ सीताके लिये वन ही अयोध्या है और श्रीरामके बिना अयोध्या ही वन है।' धन्य पातिव्रत्य ! धन्य !

सास-सेवा

सीता पति-सेवाके लिये वन गयी परन्तु उसको इस बातका बड़ा क्षोभ रहा कि सासुओंकी सेवासे उसे अलग होना पड़ रहा है। सीता सासके पैर छूकर सच्चे मनसे रोती हुई कहती है—

× × ×। सुनिय माय मैं परम अभागी ॥
सेवा-समय दैव बन दीन्हा।
मोर मनोरथ सुफल न कीन्हा ॥

तजब छोभ जनि छाँड़िय छोहू ।
करम कठिन कछु दोष न मोहू ॥

सास-पतोहूका यह व्यवहार आदर्श है । भारतीय ललनाएँ यदि आज कौशल्या और सीताका-सा व्यवहार करना सीख जायँ तो भारतीय गृहस्थ सब प्रकारसे सुखी हो जायँ । सास अपनी वधुओंको सुखी देखनेके लिये व्याकुल रहें और बहुएँ सासकी सेवाके लिये छटपटावें तो दोनों ओर ही सुखका साम्राज्य स्थापित हो सकता है ।

सहिष्णुता

सीताकी सहिष्णुताका एक उदाहरण देखिये । वन-गमनके समय जब कैकेयी सीताको वनवासके योग्य वस्त्र पहननेके लिये कहती है तब वशिष्ठ-सरीखे महर्षिका मन भी क्षुब्ध हो उठता है, परन्तु सीता इस कथनको केवल चुपचाप सुन ही नहीं लेती, आज्ञानुसार वह वस्त्र धारण भी कर लेती है । इस प्रसंगसे भी यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि सास या उसके समान नातेमें अपनेसे बड़ी कोई भी स्त्री जो कुछ कहे या बर्ताव करे, उसको खुशीके साथ सहन करना चाहिये और कभी पतिके साथ विदेश जाना पड़े तो सच्चे हृदयसे सासुओंको प्रणाम कर, उन्हें सन्तोष करवाकर, सेवासे वञ्चित होनेके लिये हार्दिक पश्चात्ताप करते हुए जाना चाहिये । इससे वधुओंको सासुओंका आशीर्वाद आप ही प्राप्त होगा ।

सीता अपने समयमें लोकप्रसिद्ध पतिव्रता थी, उसे कोई

निरभिमानता

पातिव्रत्यका क्या उपदेश करता ? परन्तु सीता-को अपने पातिव्रत्यका कोई अभिमान नहीं था। अनसूयाजीके द्वारा किया हुआ पातिव्रत्यधर्मका उपदेश सीता बड़े आदरके साथ सुनती है और उनके चरणोंमें प्रणाम करती है। उसके मनमें यह भाव नहीं आता कि मैं सब कुछ जानती हूँ। बल्कि अनसूयाजी ही उससे कहती हैं—

सुनु सीता तव नाम,सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहिं प्रानप्रिय राम, कहेउँ कथा संसारहित ॥

इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि, अपनेसे बड़े-बूढ़े जो कुछ उपदेश दें उसे अभिमान छोड़कर आदर और सम्मानके साथ सुनना चाहिये एवं यथासाध्य उसके अनुसार चलना चाहिये।

बड़ोंकी सेवा और मर्यादामें सीताका मन कितना लगा

गुरुजन-सेवा और मर्यादा

रहता था, इस बातको समझनेके लिये महाराज जनककी चित्रकूट-यात्राके प्रसंगको याद कीजिये। भरतके वन जानेपर राजा जनक भी रामसे मिलनेके लिये चित्रकूट पहुँचते हैं। सीताकी माता श्रीरामकी माताओंसे—सीताकी सासुओंसे मिलती है और सीताको साथ लेकर अपने डेरेपर आती है। सीताको तपस्विनीके वेषमें देखकर सबको विषाद होता है, पर महाराज जनक अपनी पुत्रीके इस आचरणपर बड़े ही सन्तुष्ट होते हैं और कहते हैं—

पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ।
सुजस धवल जग कह सब कोऊ ॥

माता-पिता बड़े प्रेमसे हृदयसे लगाकर अनेक प्रकारकी सीख और असीस देते हैं। बात करते-करते रात अधिक हो जाती है। सीता मनमें सोचती है कि सासुओंकी सेवा छोड़कर इस अवस्थामें रातको यहाँ रहना अनुचित है, किन्तु स्वभावसे ही लज्जाशीला सीता सङ्कोचवश मनकी बात माँ-बापसे कह नहीं सकती—

कहति न सीय सकुचि मनमाहीं।
इहाँ बसब रजनी भल नाहीं ॥

चतुर माता सीताके मनका भाव जान लेती है और सीताके शील-स्वभावकी मन-ही-मन सराहना करते हुए माता-पिता सीताको कौशल्याके डेरेमें भेज देते हैं। इस प्रसङ्गसे भी स्त्रियोंको सेवा और मर्यादाकी शिक्षा लेनी चाहिये।

निर्भयता

सीताका तेज और उसकी निर्भयता देखिये। जिस दुर्दान्त रावणका नाम सुनकर देवता भी काँपते थे, उसीको सीता निर्भयताके साथ कैसे-कैसे वचन कहती थी। रावणके हाथोंमें पड़ी हुई सीता अति क्रोधसे उसका तिरस्कार करती हुई कहती है—'अरे दुष्ट निशाचर, तेरी आयु पूरी हो गयी है, अरे मूर्ख! तू श्रीरामचन्द्रकी सहधर्मिणीको हरण-कर प्रज्वलित अग्निके साथ कपड़ा बाँधकर चलना चाहता है। तुझमें और रामचन्द्रमें उतना ही अन्तर है जितना सिंह और

सियारमें, समुद्र और नालेमें, अमृत और काँजीमें, सोने और लोहेमें, चन्दन और कीचड़में, हाथी और बिलावमें, गरुड़ और कौवेमें तथा हंस और गीधमें होता है। मेरे अमित प्रभाववाले स्वामीके रहते तू मुझे हरण करेगा तो जैसे मक्खी घीके पीते ही मृत्युके वश हो जाती है, वैसे ही तू भी कालके गालमें चला जायगा।' इससे यह सीखना चाहिये कि परमात्माके बलपर किसी भी अवस्थामें मनुष्यको डरना उचित नहीं। अन्यायका प्रतिवाद निर्भयताके साथ करना चाहिये। परमात्माके बलका सच्चा भरोसा होगा तो रावणका वध करके सीताको उसके चंगुलसे छुड़ानेकी भाँति भगवान् हमें भी विपत्तिसे छुड़ा लेंगे।

विपत्तिमें पड़कर भी कभी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये।

धर्मके लिये प्राण-त्यागकी तैयारी

इस विषयमें सीताका उदाहरण सर्वोत्तम है। लङ्काकी अशोक-वाटिकामें सीताका धर्म नाश करनेके लिये दुष्ट रावणकी ओरसे कम चेष्टाएँ नहीं हुईं। राक्षसियोंने सीताको भय और प्रलोभन दिखलाकर बहुत ही तंग किया, परन्तु सीता तो सीता ही थी। धर्मत्यागका प्रश्न तो वहाँ उठ ही नहीं सकता, सीताने तो छलसे भी अपने बाहरी बर्तावमें भी विपत्तिसे बचनेके हेतु कभी दोष नहीं आने दिया। उसके निर्मल और धर्मसे परिपूर्ण मनमें कभी बुरी स्फुरणा ही नहीं आ सकी। अपने धर्मपर अटल रहती हुई सीता दुष्ट रावणका सदा तीव्र और नीतियुक्त शब्दोंमें तिरस्कार ही करती रही। एक बार रावणके वाग्बाणोंको न सह सकनेके समय और रावणके द्वारा मायासे श्रीराम-लक्ष्मणको मरे हुए

दिखला देनेके कारण वह मरनेको तैयार हो गयी, परन्तु धर्मसे डिगनेकी भावना स्वप्नमें भी कभी उसके मनमें नहीं उठी। वह दिन-रात भगवान् श्रीरामके चरणोंके ध्यानमें लगी रहती थी। सीताजीने श्रीरामको हनुमान्‌के द्वारा जो सन्देश कहलाया, उससे पता लग सकता है कि उनकी कैसी पवित्र स्थिति थी—

नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद-जन्त्रिका,प्रान जाहिं केहि बाट॥

इससे स्त्रियोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि पतिके वियोगमें भीषण आपत्तियाँ आनेपर भी पतिके चरणोंका ध्यान रहे। मनमें भगवान्‌के बलपर पूरी वीरता, धीरता और तेज रहे। स्वधर्मके पालनमें प्राणोंकी भी आहुति देनेको सदा तैयार रहे। धर्म जाकर प्राण रहनेमें कोई लाभ नहीं, परन्तु प्राण जाकर धर्म रहनेमें ही कल्याण है—'*स्वधर्मे निधनं श्रेयः*।' (गीता ३। ३५)

सावधानी

सीताजीकी सावधानी देखिये। जब हनुमान्‌जी अशोक-वाटिकामें सीताके पास जाते हैं तब सीता अपने बुद्धिकौशलसे सब प्रकार उनकी परीक्षा करती है। जबतक उसे यह विश्वास नहीं हो जाता कि हनुमान् वास्तवमें श्रीरामचन्द्रके दूत हैं, शक्तिसम्पन्न हैं और मेरी खोजमें ही यहाँ आये हैं तबतक खुलकर बात नहीं करती है।

दाम्पत्य-प्रेम

जब पूरा विश्वास हो जाता है तब पहले स्वामी और देवरकी कुशल पूछती है, फिर आँसू बहाती हुई करुणापूर्ण शब्दोंमें कहती है—'हनुमन्!

रघुनाथजीका चित्त तो बड़ा ही कोमल है। कृपा करना तो उनका स्वभाव ही है। फिर मुझसे वह इतनी निष्ठुरता क्यों कर रहे हैं? वह तो स्वभावसे ही सेवकको सुख देनेवाले हैं, फिर मुझे उन्होंने क्यों बिसार दिया है? क्या श्रीरघुनाथजी कभी मुझे याद भी करते हैं? हे भाई! कभी उस श्यामसुन्दरके कोमल मुखकमलको देखकर मेरी ये आँखें शीतल होंगी? अहो! नाथने मुझको बिल्कुल भुला दिया! इतना कहकर सीता रोने लगी, उसकी वाणी रुक गयी!!

वचन न आव नयन भरि बारी।
अहह नाथ! मोहिं निपट बिसारी॥

इसके बाद हनुमान्‌जीने जब श्रीरामका प्रेम-सन्देश सुनाते हुए यह कहा कि माता! श्रीरामका प्रेम तुमसे दुगुना है। उन्होंने कहलवाया है—

तत्त्व प्रेमकर मम अरु तोरा।
जानत प्रिया एक मन मोरा॥
सो मन सदा रहत तोहिं पाहीं।
जानु प्रीतिरस एतनहिं माहीं॥

यह सुनकर सीता गद्गद हो जाती है। श्रीसीता-रामका परस्पर कैसा आदर्श प्रेम है! जगत्‌के स्त्री-पुरुष यदि इस प्रेमको आदर्श बनाकर परस्पर ऐसा ही प्रेम करने लगें तो गृहस्थ सुखमय बन जाय।

सीताजीने जयन्तकी घटना याद दिलाते हुए कहा कि—'हे कपिवर ! तू ही बता, मैं इस अवस्थामें कैसे जी सकती हूँ? शत्रुको तपानेवाले श्रीराम-लक्ष्मण समर्थ होनेपर भी मेरी सुधि नहीं लेते, इससे मालूम होता है अभी मेरा दुःखभोग शेष नहीं हुआ है ।' यों कहते-कहते जब सीताके नेत्रों-से आँसुओंकी धारा बहने लगी तब हनुमान्‌ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा कि—'माता ! कुछ दिन धीरज रक्खो । शत्रुओंके संहार करनेवाले कृतात्मा श्रीराम और लक्ष्मण थोड़े ही समयमें यहाँ आकर रावणका वधकर तुम्हें अवधपुरीमें ले जायँगे । तुम चिन्ता न करो । यदि तुम्हारी विशेष इच्छा हो और मुझे आज्ञा दो तो मैं भगवान् श्रीरामकी और तुम्हारी दयासे रावणका वधकर और लंकाको नष्टकर तुमको प्रभु श्रीरामचन्द्रके समीप ले जा सकता हूँ । अथवा हे देवि ! तुम मेरी पीठपर बैठ जाओ, मैं आकाश-मार्गसे होकर महासागरको लाँघ जाऊँगा । यहाँके राक्षस मुझे नहीं पकड़ सकेंगे । मैं शीघ्र ही तुम्हें प्रभु श्रीरामचन्द्रके समीप ले जाऊँगा ।' हनुमान्‌के वचन सुनकर उनके बल-पराक्रमकी परीक्षा लेनेके बाद सीता कहने लगी—'हे वानरश्रेष्ठ ! पति-भक्तिका सम्यक् पालन करनेवाली मैं अपने स्वामी श्रीरामचन्द्रको छोड़कर स्वेच्छासे किसी भी अन्य पुरुषके अंगका स्पर्श करना नहीं चाहती—

पर-पुरुषसे परहेज

भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर ।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम ॥
(वा० रा० ५ । ३७ । ६२)

दुष्ट रावणने बलात्कारसे हरण करनेके समय मुझको स्पर्श किया था, उस समय तो मैं पराधीन थी, मेरा कुछ भी वश नहीं चलता था। अब तो श्रीराम स्वयं यहाँ आवें और राक्षसोंसहित रावणका वध करके मुझे अपने साथ ले जायँ, तभी उनकी ज्वलन्त कीर्तिकी शोभा है।

भला विचारिये, हनुमान्-सरीखा सेवक, जो सीताजीको सच्चे हृदयसे मातासे बढ़कर समझता है और सीता-रामकी भक्ति करना ही अपने जीवनका परम ध्येय मानता है, सीता पातिव्रत्य-धर्मकी रक्षाके लिये, इतने घोर विपत्तिकालमें अपने स्वामीके पास जानेके लिये भी उसका स्पर्श नहीं करना चाहती! कैसा अद्भुत धर्मका आग्रह है! इससे यह सीखना चाहिये कि भारी आपत्तिके समय भी स्त्रीको यथासाध्य परपुरुषके अंगोंका स्पर्श नहीं करना चाहिये!

वियोगमें व्याकुलता

भगवान् श्रीराममें सीताका कितना प्रेम था और उनसे मिलनेके लिये उसके हृदयमें कितनी अधिक व्याकुलता थी, इस बातका कुछ पता हरणके समयसे लेकर लङ्का-विजयतकके सीताके विविध वचनोंसे लगता है, उस प्रसंगको पढ़ते-पढ़ते ऐसा कौन है जिसका हृदय करुणासे न भर जाय? परन्तु सीताजीकी सच्ची व्याकुलताका सबसे बढ़कर प्रमाण तो यह है कि श्रीरघुनाथजी महाराज उसके लिये विरहव्याकुल स्त्रैण मनुष्यकी भाँति विह्वल होकर उन्मत्तवत् रोते और विलाप करते हुए, ऋषिकुमारों, सूर्य, पवन, पशु-पक्षी और जड़ वृक्षलताओंसे सीताका पता पूछते फिरते हैं—

आदित्य भो लोककृताकृतज्ञ लोकस्य सत्यानृतकर्मसाक्षिन् ।
मम प्रिया सा क्व गता हृता वा शंसस्व मे शोकहतस्य सर्वम् ॥
लोकेषु सर्वेषु न चास्ति किञ्चिद्यत्ते न नित्यं विदितं भवेत्तत् ।
शंसस्व वायो कुलपालिनीं तां मृता हृता वा पथि वर्तते वा ॥
(वा० रा० ३ । ६३ । १६-१७)

लोकोंके कृत्याकृत्यको जाननेवाले हे सूर्यदेव ! तू सत्य और असत्य कर्मोंका साक्षी है । मेरी प्रियाको कोई हर ले गया है या वह कहीं चली गयी है, इस बातको तू भलीभाँति जानता है । अतएव मुझ शोकपीड़ितको सारा हाल बतला ! हे वायुदेव ! तीनों लोकोंमें तुझसे कुछ भी छिपा नहीं है, तेरी सर्वत्र गति है । हमारे कुलकी मर्यादाकी रक्षा करनेवाली सीता मर गयी, हरी गयी या कहीं मार्गमें भटक रही है, जो कुछ हो सो यथार्थ कह ।

हा गुनखानि जानकी सीता ।
रूप-सील-ब्रत-प्रेम पुनीता ॥
लछिमन समुझाये बहु भाँती ।
पूँछत चले लता तरु पाँती ॥
हे खग-मृग ! हे मधुकरस्रेनी ।
तुम्ह देखी सीता मृगनैनी ॥

× × ×

यहि बिधि बिलपत खोजत स्वामी ।
मनहुँ महा बिरही अति कामी ॥

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान् श्रीराम 'महाविरही और अतिकामी' थे। सीताजीका श्रीरामके प्रति इतना प्रेम था और वह उनके लिये इतनी व्याकुल थी कि श्रीरामको भी वैसा ही बर्ताव करना पड़ा। भगवान्‌का यह प्रण है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

श्रीरामने 'महाविरही और अतिकामी' के सदृश लीलाकर इस सिद्धान्तको चरितार्थ कर दिया। इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि यदि हम भगवान्‌को पानेके लिये व्याकुल होंगे तो भगवान् भी हमारे लिये वैसे ही व्याकुल होंगे। अतएव हम सबको परमात्माके लिये इसी प्रकार व्याकुल होना चाहिये।

अग्नि-परीक्षा

रावणका वध हो गया, प्रभु श्रीरामकी आज्ञासे सीताको स्नान करवाकर और वस्त्राभूषण पहनाकर विभीषण श्रीरामके पास लाते हैं। बहुत दिनोंके बाद प्रिय पति श्रीरघुवीरके पूर्णिमाके चन्द्रसदृश मुखको देखकर सीताका सारा दुःख नाश हो गया और उसका मुख निर्मल चन्द्रमाकी भाँति चमक उठा। परन्तु श्रीरामने यह स्पष्ट कह दिया—'मैंने अपने कर्तव्यका पालन किया। रावणका वधकर तुझको दुष्टके चंगुलसे छुड़ाया, परन्तु तू रावणके घरमें रह चुकी है, रावणने तुझको बुरी नज़रसे देखा है, अतएव अब मुझे तेरी आवश्यकता नहीं। तू अपनी इच्छानुसार चाहे जहाँ चली जा। मैं तुझे ग्रहण नहीं कर सकता।'

नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गो यथेष्टं गम्यतामिति ॥
(वा० रा० ६ । ११५ । २१)

श्रीरामके इन अश्रुतपूर्व कठोर और भयंकर वचनोंको सुनकर दिव्य सती सीताकी जो कुछ दशा हुई उसका वर्णन नहीं हो सकता ! स्वामीके वचन-बाणोंसे सीताके समस्त अङ्गोंमें भीषण घाव हो गये । वह फूट-फूटकर रोने लगी । फिर करुणाको भी करुणा-सागरमें डुबो देनेवाले शब्दोंमें उसने धीरे-धीरे गद्गद वाणीसे कहा—

'हे स्वामी ! आप साधारण मनुष्योंकी भाँति मुझे क्यों ऐसे कठोर और अनुचित शब्द कहते हैं ? मैं अपने शीलकी शपथ करके कहती हूँ कि आप मुझपर विश्वास रक्खें । हे प्राणनाथ ! रावणने हरण करनेके समय जब मेरे शरीरका स्पर्श किया था, तब मैं परवश थी । इसमें तो दैवका ही दोष है । यदि आपको यही करना था, तो हनुमान्‌को जब मेरे पास भेजा था तभी मेरा त्याग कर दिये होते तो अबतक मैं अपने प्राण ही छोड़ देती !' श्रीसीताजीने बहुत-सी बातें कहीं परन्तु श्रीरामने कोई जवाब नहीं दिया, तब वे दीनता और चिन्तासे भरे हुए लक्ष्मणसे बोलीं—'हे सौमित्रे ! ऐसे मिथ्यापवादसे कलङ्कित होकर मैं जीना नहीं चाहती । मेरे दुःखकी निवृत्तिके लिये तुम यहीं अग्नि-चिता तैयार कर दो । मेरे प्रिय पतिने मेरे गुणोंसे अप्रसन्न होकर जनसमुदायके मध्य मेरा त्याग किया है, अब मैं अग्निप्रवेश करके इस जीवनका अन्त करना चाहती हूँ ।' वैदेही सीताके वचन सुनकर लक्ष्मणने कोपभरी लाल-लाल आँखोंसे

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान् श्रीराम 'महाविरही और अतिकामी' थे। सीताजीका श्रीरामके प्रति इतना प्रेम था और वह उनके लिये इतनी व्याकुल थी कि श्रीरामको भी वैसा ही बर्ताव करना पड़ा। भगवान्‌का यह प्रण है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

श्रीरामने 'महाविरही और अतिकामी' के सदृश लीलाकर इस सिद्धान्तको चरितार्थ कर दिया। इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि यदि हम भगवान्‌को पानेके लिये व्याकुल होंगे तो भगवान् भी हमारे लिये वैसे ही व्याकुल होंगे। अतएव हम सबको परमात्माके लिये इसी प्रकार व्याकुल होना चाहिये।

अग्नि-परीक्षा

रावणका वध हो गया, प्रभु श्रीरामकी आज्ञासे सीताको स्नान करवाकर और वस्त्राभूषण पहनाकर विभीषण श्रीरामके पास लाते हैं। बहुत दिनोंके बाद प्रिय पति श्रीरघुवीरके पूर्णिमाके चन्द्रसदृश मुखको देखकर सीताका सारा दुःख नाश हो गया और उसका मुख निर्मल चन्द्रमाकी भाँति चमक उठा। परन्तु श्रीरामने यह स्पष्ट कह दिया—'मैंने अपने कर्तव्यका पालन किया। रावणका वधकर तुझको दुष्टके चंगुलसे छुड़ाया, परन्तु तू रावणके घरमें रह चुकी है, रावणने तुझको बुरी नज़रसे देखा है, अतएव अब मुझे तेरी आवश्यकता नहीं। तू अपनी इच्छानुसार चाहे जहाँ चली जा। मैं तुझे ग्रहण नहीं कर सकता।'

नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गो यथेष्टं गम्यतामिति ॥
(वा० रा० ६ । ११५ । २१)

श्रीरामके इन अश्रुतपूर्व कठोर और भयंकर वचनोंको सुनकर दिव्य सती सीताकी जो कुछ दशा हुई उसका वर्णन नहीं हो सकता ! स्वामीके वचन-बाणोंसे सीताके समस्त अङ्गोंमें भीषण घाव हो गये । वह फूट-फूटकर रोने लगी । फिर करुणाको भी करुणा-सागरमें डुबो देनेवाले शब्दोंमें उसने धीरे-धीरे गद्गद वाणीसे कहा—

'हे स्वामी ! आप साधारण मनुष्योंकी भाँति मुझे क्यों ऐसे कठोर और अनुचित शब्द कहते हैं ? मैं अपने शीलकी शपथ करके कहती हूँ कि आप मुझपर विश्वास रक्खें । हे प्राणनाथ ! रावणने हरण करनेके समय जब मेरे शरीरका स्पर्श किया था, तब मैं परवश थी । इसमें तो दैवका ही दोष है । यदि आपको यही करना था, तो हनुमान्‌को जब मेरे पास भेजा था तभी मेरा त्याग कर दिये होते तो अबतक मैं अपने प्राण ही छोड़ देती !' श्रीसीताजीने बहुत-सी बातें कहीं परन्तु श्रीरामने कोई जवाब नहीं दिया, तब वे दीनता और चिन्तासे भरे हुए लक्ष्मणसे बोलीं—'हे सौमित्रे ! ऐसे मिथ्यापवादसे कलङ्कित होकर मैं जीना नहीं चाहती । मेरे दुःखकी निवृत्तिके लिये तुम यहीं अग्नि-चिता तैयार कर दो । मेरे प्रिय पतिने मेरे गुणोंसे अप्रसन्न होकर जनसमुदायके मध्य मेरा त्याग किया है, अब मैं अग्निप्रवेश करके इस जीवनका अन्त करना चाहती हूँ ।' वैदेही सीताके वचन सुनकर लक्ष्मणने कोपभरी लाल-लाल आँखोंसे

एक बार श्रीरामचन्द्रकी ओर देखा, परन्तु रामकी रुचिके अधीन रहनेवाले लक्ष्मणने आकार और संकेतसे श्रीरामकी रुख समझकर उनकी इच्छानुसार चिता तैयार कर दी। सीताने प्रज्वलित अग्निके पास जाकर देवता और ब्राह्मणोंको प्रणामकर दोनों हाथ जोड़कर कहा—

यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥
यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥

(वा० रा० ६। ११६। २५-२६)

'हे अग्निदेव! यदि मेरा मन कभी भी श्रीरामचन्द्रसे चलायमान न हुआ हो तो तुम मेरी सब प्रकारसे रक्षा करो। श्रीरघुनाथजी महाराज मुझ शुद्ध चरित्रवाली या दुष्टाको जिस प्रकार यथार्थ जान सकें वैसे ही मेरी सब प्रकारसे रक्षा करो, क्योंकि तुम सब लोकोंके साक्षी हो।' इतना कहकर अग्निको प्रदक्षिणाकर सीता निःशंक हृदयसे अग्निमें प्रवेश कर गयी। सब ओर हाहाकार मच गया। ब्रह्मा, शिव, कुबेर, इन्द्र, यमराज और वरुण आदि देवता आकर श्रीरामको समझाने लगे। ब्रह्माजीने बहुत कुछ रहस्यकी बातें कहीं।

इतनेमें सर्वलोकोंके साक्षी भगवान् अग्निदेव सीताको गोदमें लेकर अकस्मात् प्रकट हो गये और वैदेहीको श्रीरामके प्रति अर्पण करते हुए बोले—

एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते ॥
नैव वाचा न मनसा नैव बुद्ध्या न चक्षुषा ।
सुवृत्ता वृत्तशौटीर्य न त्वामत्यचरच्छुभा ॥
रावणेनापनीतैषा वीर्योत्सिक्तेन रक्षसा ।
त्वया विरहिता दीना विवशा निर्जने सती ॥
रुद्धा चान्तःपुरे गुप्ता त्वच्चित्ता त्वत्परायणा ।
रक्षिता राक्षसीभिश्च घोराभिर्घोरबुद्धिभिः ॥
प्रलोभ्यमाना विविधं तर्ज्यमाना च मैथिली ।
नाचिन्तयत तद्रक्षस्त्वद्गतेनान्तरात्मना ॥
विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम् ।
न किञ्चिदभिधातव्या अहमाज्ञापयामि ते ॥
(वा० रा० ६ । ११८ । ५-१०)

'राम ! इस अपनी वैदेही सीताको ग्रहण करो । इसमें कोई भी पाप नहीं है । हे चरित्राभिमानी राम ! इस शुभलक्षणा सीताने वाणी, मन, बुद्धि या नेत्रोंसे कभी तुम्हारा उल्लंघन नहीं किया । निर्जन वनमें जब तुम इसके पास नहीं थे तब यह बेचारी निरुपाय और विवश थी । इसीसे बलगर्वित रावण इसे बलात्कारसे हर ले गया था । यद्यपि इसको अन्तःपुरमें रक्खा गया था और क्रूर-से-क्रूर स्वभाववाली राक्षसियाँ पहरा देती थीं, अनेक प्रकारके प्रलोभन दिये जाते थे और तिरस्कार भी किया जाता था, परन्तु तुम्हारेमें मन लगानेवाली, तुम्हारे परायण हुई सीताने तुम्हारे सिवा दूसरेका कभी मनसे विचार ही नहीं किया । इसका अन्तःकरण

शुद्ध है, यह निष्पाप है, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम किसी प्रकारकी भी शंका न करके इसको ग्रहण करो।'

अग्निदेवके वचन सुनकर मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम बहुत प्रसन्न हुए, उनके नेत्र हर्षसे भर आये और उन्होंने कहा—

'हे अग्निदेव! इस प्रकार सीताकी शुद्धि आवश्यक थी, मैं यों ही ग्रहण कर लेता तो लोग कहते कि दशरथपुत्र राम मूर्ख और कामी है। (कुछ लोग सीताके शीलपर भी सन्देह करते जिससे उसका गौरव घटता, आज इस अग्निपरीक्षासे सीताका और मेरा दोनोंका मुख उज्ज्वल हो गया है) मैं जानता हूँ कि जनक-नन्दिनी सीता अनन्यहृदया और सर्वदा मेरी इच्छानुसार चलनेवाली है। जैसे समुद्र अपनी मर्यादाका त्याग नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह भी अपने तेजसे मर्यादामें रहनेवाली है। दुष्टात्मा रावण प्रदीप्त अग्निकी ज्वालाके समान अप्राप्त इस सीताका स्पर्श नहीं कर सकता था। सूर्य-कान्ति-सदृश सीता मुझसे अभिन्न है। जैसे आत्मवान् पुरुष कीर्तिका त्याग नहीं कर सकता, उसी प्रकार मैं भी तीनों लोकोंमें विशुद्ध इस सीताका वास्तवमें कभी त्याग नहीं कर सकता।'

इतना कहकर भगवान् श्रीराम प्रिया सती सीताको ग्रहणकर आनन्दमें निमग्न हो गये। इस प्रसंगसे यह सीखना चाहिये कि स्त्री किसी भी हालतमें पतिपर नाराज न हो और उसे सन्तोष करानेके लिये न्याययुक्त उचित चेष्टा करे।

गृहस्थ-धर्म

सीता अपने स्वामी और देवरके साथ अयोध्या लौट आती है। बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों और सभी सासुओंके चरणोंमें प्रणाम करती है। सब ओर सुख छा जाता है। अब सीता अपनी सासुओंकी सेवामें लगती है और उनकी ऐसी सेवा करती है कि सबको मुग्ध हो जाना पड़ता है। सीताजी गृहस्थका सारा काम सुचारुरूपसे करती हैं जिससे सभी सन्तुष्ट हैं। इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि विदेशसे लौटते ही सास और सभी बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंको प्रणाम करना और सास आदिकी सच्चे मनसे सेवा करनी चाहिये एवं गृहस्थका सारा कार्य सुचारुरूपसे करना चाहिये।

समान व्यवहार

श्रीसीताजी भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न इन देवरोंके साथ पुत्रवत् बर्ताव करती थीं और खानपान आदिमें किसी प्रकारका भी भेद नहीं रखती थीं। स्वामी श्रीरामके लिये जैसा भोजन बनता था ठीक वैसा ही सीताजी अपने देवरोंके लिये बनाती थीं। देखनेमें यह बात छोटी-सी मालूम होती है किन्तु इसी बर्तावमें दोष आ जानेके कारण केवल खानेकी वस्तुओंमें भेद रखनेसे आज भारतमें हजारों सम्मिलित कुटुम्बोंकी बुरी दशा हो रही है। सीताजीके इस बर्तावसे स्त्रियोंको खान-पानमें समान व्यवहार रखनेकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

सीता-परित्याग

एक समय भगवान् राम गुप्तचरोंके द्वारा सीताके सम्बन्धमें लोकापवाद सुनकर बहुत ही शोक करते हुए लक्ष्मणसे कहने लगे कि 'भाई! मैं जानता हूँ कि सीता पवित्र और यशस्विनी है, लङ्कामें उसने तेरे सामने जलती

हुई अग्निमें प्रवेश करके अपनी परीक्षा दी थी और सर्वलोकसाक्षी अग्निदेवने स्वयं प्रकट होकर समस्त देवता और ऋषियोंके सामने सीताके पापरहित होनेकी घोषणा की थी तथापि इस लोकापवादके कारण मैंने सीताके त्यागका निश्चय कर लिया है। इसलिये तू कल प्रातःकाल ही सुमन्त सारथीके रथमें बैठाकर सीताको गंगाके उस पार तमसा-नदीके तीरपर महात्मा वाल्मीकिके आश्रमके पास निर्जन वनमें छोड़कर चला आ। तुझे मेरे चरणोंकी और जीवनकी शपथ है, इस सम्बन्धमें तू मुझसे कुछ भी न कहना। सीतासे भी अभी कुछ न कहना।' लक्ष्मणने दुःखभरे हृदयसे मौन होकर आज्ञा स्वीकार की और प्रातःकाल ही सुमन्तसे कहकर रथ जुड़वा लिया।

सीताजीने एक बार मुनियोंके आश्रमोंमें जानेके लिये श्रीराम-से प्रार्थना की थी अतएव लक्ष्मणके द्वारा वन जानेकी बात सुनकर सीताजीने यही समझा कि स्वामीने ऋषियोंके आश्रमोंमें जानेकी आज्ञा दी है और वह ऋषिपत्नियोंको बाँटनेके लिये बहुमूल्य गहने-कपड़े और विविध प्रकारकी वस्तुएँ लेकर वनके लिये विदा हो गयी। मार्गमें अशकुन होते देखकर सीताने लक्ष्मणसे पूछा—'भाई! अपने नगर और घरमें सब प्रसन्न तो हैं न?' लक्ष्मणने कहा—'सब कुशल है।' यहाँतक तो लक्ष्मणने सहन किया, परन्तु गंगाके तीरपर पहुँचते ही मर्मवेदनासे लक्ष्मणका हृदय भर आया और वह दीनकी भाँति फूट-फूटकर रोने लगा। संयमशील धर्मज्ञ लक्ष्मणको रोते देखकर सीता कहने लगी—'भाई! तुम

रोते क्यों हो ? हमलोग गंगातीर ऋषियोंके आश्रमोंके समीप आ गये हैं, यहाँ तो हर्ष होना चाहिये तुम उलटा खेद कर रहे हो। तुम तो रात-दिन श्रीरामचन्द्रजीके पास ही रहते हो, क्या दो रात्रिके वियोगमें ही शोक करने लगे ? हे पुरुषश्रेष्ठ ! मुझको भी राम प्राणाधिक प्रिय हैं, पर मैं तो शोक नहीं करती, इस लड़कपनको छोड़ो और गंगाके उस पार चलकर मुझे तपस्वियोंके दर्शन कराओ। महात्माओंको भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बाँटकर और यथायोग्य उनकी पूजाकर एक ही रात रह हमलोग वापस लौट आवेंगे। मेरा मन भी कमलनेत्र, सिंहसदृश वक्षःस्थलवाले, आनन्ददाताओंमें श्रेष्ठ श्रीरामको देखनेके लिये उतावला हो रहा है।'

लक्ष्मणने इन वचनोंका कोई उत्तर नहीं दिया और सीताके साथ नौकापर सवार हो गंगाके उस पार पहुँचकर फिर उच्च स्वरसे रोना शुरू कर दिया। सीताजीके बारम्बार पूछने और आज्ञा देनेपर लक्ष्मणने सिर नीचा करके गद्गद वाणीसे लोकापवाद-का प्रसंग वर्णन करते हुए कहा—'सीते! तुम निर्दोष हो, किन्तु श्रीरामने तुमको त्याग दिया है। अब तुम श्रीरामको हृदयमें धारण करके पातिव्रत्य-धर्मका पालन करती हुई वाल्मीकि मुनिके आश्रममें रहो।'

लक्ष्मणके इन दारुण वचनोंको सुनते ही सीता मूर्छित-सी होकर गिर पड़ी। थोड़ी देर बाद होश आनेपर रोकर विलाप करने लगी और बोली—'हे लक्ष्मण ! विधाताने मेरे शरीरको दुःख भोगनेके लिये रचा है। मालूम नहीं, मैंने कितनी जोड़ियोंको बिछुड़ाया था जिससे आज मैं शुद्ध आचरणवाली सती होनेपर भी

"कल्याण" धार्मिक मासिक पत्र

(हर महीनेमें २०५०० छपता है)

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्म-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र, पृष्ठ-संख्या ८०, मूल्य ४≡), वर्षके आदिमें एक विशेषांक भी निकलता है, जो ग्राहकोंको इसी मूल्यमें मिल जाता है। प्रारम्भसे अबतक ६ विशेषांक निकल चुके हैं।

भगवन्नामांक–पृष्ठ-संख्या ११०, चित्र-संख्या ४१, मूल्य ॥≡)

भक्तांक–तीसरे वर्षकी पूरी फाइलसहित मू० ४≡)
गीतांक–चौथे वर्षकी पूरी फाइलसहित मू० ४≡)
रामायणांक–पृष्ठ ५१२, चित्र १६७, मू० २॥≡)
श्रीकृष्णांक–पृष्ठ ५२२, चित्र १०८, मू० २॥≡)
ईश्वरांक–सपरिशिष्टांक मूल्य ३) (डाकमहसूलसहित) आप भी ग्राहक बनकर घर बैठे सत्संग कीजिये!

व्यवस्थापक–

कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

दर्शनीय चित्र

हमारे यहाँ अनेक प्रकारके छोटे-बड़े, सुन्दर-सुन्दर चित्र मिलते हैं। चित्रोंका सूचीपत्र मँगवाकर देखिये।

पता-गीताप्रेस, गोरखपुर

[illegible]